कबीर ग्रन्थावली

मूल संजीवनी व्याख्या

सम्पादक

डॉ० माताप्रसाद गुप्त

साहित्य भवन [प्रा॰] लिमिटेड

के. पी. कक्कड़ रोड, इलाहाबाद-२११००३

KABIR GRANTHAWALI

by

Dr MATA PRASAD GUPTA

साहित्य भवन प्रा० लिमिटेड इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण

मूल्य : ५०.००

प्रथम संस्करण १९८५

विद्यार्थी संस्करण : ३०.००

साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, ९३, के० पी० कक्कड़ रोड, इलाहाबाद-२११००३ द्वारा प्रकाशित तथा विद्या मुद्रण गृह, ९८६ बी, दरियाबाद, इलाहाबाद द्वारा मुद्रित।

प्रकाशकीय

'कबीर-ग्रन्थावली' बहुत समय से दुर्लभ रही। काव्य-रसिकों को यह अभाव खटकता रहा और वे बराबर नये संस्करण को निकालने के लिए आग्रह करते रहे।

हमे हर्ष और संतोष है कि इसका द्वितीय संस्करण हमारे यहाँ से प्रकाशित हो रहा है। इसका सम्पादन पाठ-विज्ञान के सिद्धान्तों को दृष्टि में रख कर अधिकारी विद्वान् डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने बड़ी सूझ-बूझ के साथ किया है। इसके साथ ही प्रत्येक छन्द की वैदुष्यपूर्ण टीका के कारण निश्चय ही इसका महत्त्व और अधिक बढ़ गया है।

पाठान्तरों और सम्पादक की महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से युक्त यह ग्रन्थावली अद्यावधि प्रकाशित अन्य कबीर ग्रन्थावलियो की तुलना में निस्संदेह अतिशय लाभप्रद एवं प्रामाणिक सिद्ध होगी। सरल-सुबोध और प्रांजल भाषा में प्रस्तुत यह संस्करण हिन्दी जगत् में पर्याप्त अभिनन्दनीय होगा, इस आशा के साथ ग्रन्थावली का यह सस्करण प्रेमी पाठकों की सेवा मे प्रस्तुत किया जा रहा है।

हमे आशा ही नही विश्वास है कि सुधी पाठकों द्वारा इसका पूर्ववत् सम्मान तथा स्वागत होगा।

में अंकित है-आवश्यकता है; इसके मुखदर्के पृष्ठों को खोजने की।
साहित्य-संस्थान नम्रता के साथ इसी ओर अग्रसर है।

प्रस्तुत पुस्तक साहित्य-संस्थान के संग्रह से तय्यार की गई है। साहित्य-संस्थान के संग्राहकों ने अनेक स्थानों की खाक छान कर १६,००० के लगभग छन्दों का संग्रह किया है। इन संग्रह में दोहे, सोरठे, कवित्त और गीत आदि कई प्रकारके छन्द सुरक्षित हैं। इन छन्दों से विभिन्न ऐतिहासिक, और सामाजिक घटनाओं, व्यक्तियों आदि का वर्णन मिलता है। ये विभिन्न प्रकार के गीत और छन्द लाखों की संख्या में राजस्थान के नगरों, कस्बों एवं गांवों में बिखरे हुए हैं। इनके प्रकाशन से एक ओर साहित्यकारों को राजस्थानी साहित्य का परिचय मिल सकेगा तो दूसरी ओर इतिहास-सम्बन्धी घटनाओं पर भी प्रकाश पड़ेगा। इस प्रकार साहित्य-संस्थान, राजस्थान में पहली संस्था है; जो शोध-खोज के क्षेत्र में नियमित काम कर रही है।

इस प्रकार के संग्रह अब तक कई निकाले जा सकते थे लेकिन साधन-सुविधाओं के अभाव में साहित्य-संस्थान विवश था। इस वर्ष राजस्थानी-साहित्य के प्रकाशन-कार्य के लिये भारत-सरकार के शिक्षा विकास सचिवालय ने साहित्य-संस्थान को कृपा कर १०,०००) दस हजार रुपये की सहायता प्रदान की है, इसी से उक्त पुस्तक का प्रकाशन कार्य सम्पन्न हो सका है। साहित्य-संस्थान को कुल मिलाकर गत वर्ष भारत सरकार ने ४८५००) की आर्थिक सहायता विभिन्न कार्यों के लिये दी थी। इस सहायता को दिलाने में राजस्थान-सरकार के मुख्य मंत्री (जो शिक्षा मंत्री भी हैं) माननीय श्री मोहनलाल सुखाड़िया, और उनके शिक्षा सचिवालय के अधिकारियों का पूरा योग रहा है इसके लिये मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। साथ ही भारत सरकार के उपशिक्षा सलाहकार

डॉ० पी० डी० शुक्ला, डॉ० भान तथा श्री सोहनसिंह एम. ए. (लंदन) का भी अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने सहायता की रकम शीघ्र और समय पर दिलवाई। सच तो यह है कि उक्त महानुभावों की प्रेरणा और सहायता से ही यह रकम मिल सकी है और संस्थान अपने ग्रन्थों काप्रकाशन करवा सका है। भारत-सरकार के उपशिक्षा मन्त्री डॉ० कालूलालजी श्रीमाली के प्रति क्या कृतज्ञता प्रकट की जाय, यह तो उन्हीं का अपना काम है। उनके सुझाव और उनकी प्रेरणा से संस्थान के काम में निरन्तर विकास और विस्तार हुआ है और आगे भी होता रहेगा। इसी आशा और विश्वास के साथ मैं उनका आभार मानता हूँ। अन्य उन सभी का आभारी हूँ; जिन्होंने इस काम में सहायता दी है।

विनीत
गिरिधारीलाल शर्मा
अध्यक्ष
साहित्य-संस्थान
राजस्थान विश्व विद्यापीठ उदयपुर

गंगा दशमी
२०१३
सन् १९५६

सम्पादक की ओर से—

गीत-साहित्य की दृष्टि से राजस्थानी भाषा अत्यन्त समृद्ध और शक्तिशाली है। इस भाषा में अब तक हजारों-लाखों गीत लिखे जा चुके हैं। राजस्थान का शायद ही कोई ऐसा गांव, कस्बा और शहर हो; जिसमें राजस्थानी भाषा के गीत नहीं मिलते हों। विशेषकर उन स्थानों पर तो गीत-साहित्य निश्चित रूप से प्रचुर मात्रा में मिल सकता है; जहाँ चारण, राव तथा भोजकों की थोड़ी बहुत बस्ती होगी। इनके अलावा राजा-महाराजाओं के पोथीखानों, सामन्तों के ठिकानों और जैन उपासरों में भी यह साहित्य पर्याप्त परिमाण में मिलता है। चारण और रावों में तो गीत लिखने की वंशानुगत परम्परा और भावना चली आई है; इसलिए इनके यहां ऐसे साहित्य का प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। यों तो गीतों की रचना विभिन्न-जाति के विभिन्न कवियों ने की है, किन्तु मुख्य रूप से इन गीतों को लिखने वाले चारण, राव, मोतीसर और भोजक ही अधिक रहे हैं। गीतों के लिखने और बोलने की इनकी अपनी विशेषता है। जब ये गीत पढ़ते हैं तो ऐसा लगता है; जैसे बन्दूक से तड़ातड़ गोलियाँ दागी जारही हों। चारणों, रावों, भोजकों आदि ने राजस्थानी साहित्य के भण्डार को भरने में बहुत महत्वपूर्ण भाग अदा किया है। इन्होंने विभिन्न विषयों पर गीत लिखे हैं किन्तु शूरवीरता, आत्म-बलिदान और सतियों के सम्बन्ध में लिखे गये गीत तो हिन्दी साहित्य में बेजोड़ हैं। वीर रस का जितना स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक वर्णन इन्होंने किया है; उतना और किसी ने किया हो—यह संदेहास्पद है। ओजस्विनी वाणी से वीर रस के गीतों को सुनकर वीरों की भुजाएँ फड़क उठती हैं और वीर रस रगों में दौड़ने लग जाता है। भागते हुए कायरों में लौटकर मरने मारने की प्रबल भावना उत्पन्न करने में ये अपनी सानी नहीं रखते। शक्ति का साकार रूप अगर कहीं मिल सकता है तो केवल इन्हीं गीतों में।

शक्ति की सही उपासना साहित्य में इन्होंने ही की है। ये गीतों के रचयिता केवल गीत लिख कर दूसरों को ही मरने मारने के लिये प्रोत्साहित नहीं करते अपितु स्वयं भी तलवार पकड़ कर रणभूमि में उतरते रहे हैं। इसीलिये वीर रस का स्वाभाविक वर्णन ये कर सके हैं। रस के अनुकूल शब्दों का चयन करना ये खूब जानते हैं और शब्द तथा अर्थ का समन्वय भी इन्होंने बहुत सुन्दर किया है। श्रोता इन गीतों को सुन कर रसानुभूति से भर उठता है। स्व० रवीन्द्र बाबू ने इनको सुनकर एक बार कहा था "मैं तो इनको सुनकर मुग्ध हो गया हूँ। क्या ही अच्छा हो अगर वे (राजस्थानी) गीत प्रकाशित किये जाँय। ये गीत संसार के किसी भी साहित्य और भाषा का गौरव बढ़ा सकते हैं।"

इन गीतों का न केवल साहित्यिक महत्व ही है अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से भी अत्यन्त उपादेय है। क्योंकि ये अधिकांश में सच्ची घटनाओं के आधार पर ही लिखे गये हैं। इनमें घटनाओं का वर्णन यद्यपि बढ़ा चढ़ा कर किया गया है फिर भी इतिहास की सामग्री इनमें प्राप्य है। बढ़ा चढ़ा कर वर्णन करना इनके स्वभाव में है, बल्कि यों कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा कि अतिशयोक्ति पूर्ण रचना करना इनका वंशानुगत गुण बन गया है। शब्दों की तोड़मरोड़ इनके लिये सामान्य बात है। कहीं २ ये शब्द को इतना विकृत कर देते हैं कि न उसके सही रूप का पता लगता है और न अर्थ ही ठीक बैठता है। भाषा शास्त्र के लिये भी ये गीत महत्व के हैं और इसी लिये इनका अध्ययन आवश्यक एवं उपयोगी है।

गीतों का प्रारंभ कब से हुआ है; इसका ठीक निश्चय अभी तक नहीं हो सका है। कुछ विद्वान नवमीं शताब्दि में हुए कवि मुरारी से इनका प्रारंभ मानते हैं और कुछ कहते हैं कि तेरहवीं शताब्दि इनका प्रारंभ काल है। जो कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि गीत लिखने की

परम्परा हमारे यहाँ प्राचीन काल से चली आरही है। अपभ्रंश के बाद तो इनकी रचना प्रचुर मात्रा में की गई है। इस कारण यह स्वाभाविक रूप से मानना होगा कि इनका प्रारंभ काल अपभ्रंश युग तो है ही। अपभ्रंश काल की समाप्ति के साथ ही साथ राजस्थानी भाषा का विकास भी हो रहा था और उस समय राजस्थानी भाषा के दो सामान्य साहित्यिक रूप थे। एक राजस्थानी डिंगल और दूसरी राजस्थानी पिंगल। डिंगल राजस्थानी का साहित्यिक रूप ही था। राजस्थान के चारण कवि डिंगल में ही रचना करते थे। जन-सामान्य के लिये यह भाषा कठिन पड़ती थी क्योंकि डिंगल बोल चाल की भाषा कभी नहीं रही है। इसमें क्लिष्टता अधिक है। इसके अर्थ को समझना पहले भी दुरूह था और आज भी मुश्किल होता है। फिर इनके रचयिताओं का सम्बन्ध जन-सामान्य की अपेक्षा राजा-महाराजाओं, जागीरदारों और सामन्तों से ही अधिक रहा है। राज-दरबारों में इन्हें रखना एक प्रथा थी। इसलिये दान, उपहार और जागीरियां इन्हें दी जाती थीं। ये भी बदले में इनकी प्रशस्तियां बना बनाकर गाया करते थे और इनके गौरव को बढ़ाने में सहायक बनते थे। यह प्रथा न केवल राजस्थान में अपितु सर्वत्र रही है।

इन गीतों की विभिन्न जातियाँ हैं इन्हें छन्द कहा जाता है। राजस्थानी डिंगल के रीतिग्रन्थों में इनकी संख्या ८७ मानी गई है। जैसे साणोर, सावझड़ा, सु पंख, पालवणो और चोटी बन्ध आदि। इनकी भी फिर अनेक उप जातियां हैं जैसे:- छोटा साणोर, बड़ा साणोर, छोटा सावझड़ा आदि। राजस्थानी-डिंगल की रचना के जिस प्रकार विभिन्न विषय रहे हैं, उसी प्रकार विभिन्न रसों का परिपाक भी हुआ है। वीर, रौद्र, वीभत्स और भयानक रसों के जिस प्रकार उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं, उसी प्रकार शान्त, करुण और शृंगार रस भी मिलता है।

प्रस्तुत संग्रह में केवल वीर रस के गीतों को ही स्थान दिया है। इसलिये पाठकों को इसमें अन्य रसों का स्वाद नहीं मिल सकेगा।

निकट भविष्य में अन्य रसों के गीत भी प्रकाशित करने की संस्थान की योजना है। वीर रस के दो चार उदाहरण यहाँ दिये जारहे हैं; जिनसे मालूम हो जायगा कि राजस्थानी भाषा के ये गीत कितने शक्तिशाली हैं ?

सन् १५२७ में जब मेवाड़ के महाराणा सांगा की बाबर के साथ खानवा में लड़ाई हुई, उस समय रावत रत्नसिंह ने जिस शौर्य और साहस का परिचय दिया– उसका वर्णन इस गीत में मिलेगा:–

नमते निय सेना तणी नागद्रह ।
भारथ भू भड़ वीरती भीर ॥
पग किम रावत परठै पाछा ।
जड़िया परिया तणां जंजीर ॥ १ ॥

भ्रम पाछा न देवै कैलपुरो ।
रिण भू जेथ नह छंडे राव ॥
सनस तणी बेड़ी सीसोदे ।
पहरी रतन तेण परजान ॥ २ ॥

कांधल उत्त मचंते कलहण ।
घण जूझा आगमण घणी ॥
चौहट्टी तूझ तणै चितौड़ा ।
सांकल पग सूं रतन तणी ॥ ३ ॥

राण तणा रजपूत न रहिया,
सक भड़ भागौ डूंगरसीह ॥
उदम असत गया उलंडे,
लाज बंधण पग लागो लीह ॥ ४ ॥

वीर–शत्रुओं की भारी भीड़ में से सिशोदिया की सेना रणस्थल से पीछे हटने लगी। उस समय हे रावत ! तू पैर पीछे कैसे हटा सकता था ? क्योंकि तेरे पैर तो पूर्वजों की यश रूपी जंजीरों से जकड़े हुए थे।

हे सिशोदिया; तू रणांगण से पैर पीछे कैसे हटा सकता था? जब अन्य राव और क्षत्रिय युद्ध भूमि से हट गये तब, यदि तू भी अपने पैर पीछे हटा लेता तो सिशोदिया वंश की लज्जा ही नष्ट हो जाती।

हे कांधल के सुपुत्र सिशोदिया रत्नसिंह, अन्य योद्धाओं की भांति तू रणस्थल से कैसे हट सकता था? कुल-लज्जा की जंजीरें तेरे पैरों को जकड़े हुए थी और इसीलिये तू प्रबल पराक्रम से युद्ध करता रहा।

राणा के सामंत जब युद्ध स्थल से भाग खड़े हुए तब, डूंगरसिंह आदि ने भी रण भूमि छोड़ दी। उस समय हे रत्नसिंह, रण की खेती को इस प्रकार निष्फल होती देख तू युद्ध में अडिग बना रहा और युद्ध स्थल से नहीं हटा—क्योंकि लज्जा के लंगरों से तू जकड़ा हुआ था।

उक्त गीत में रावत रत्नसिंह के प्रबल पराक्रम को दर्शाया गया है। इसी प्रकार नीचे दिये गये गीत में युद्ध का सजीव वर्णन देखने योग्य है :—

गजां उमंडे बादलां जूथ सकंजा कांठला गहां।
बीज सोर झाला धजा गैणाला बहेस॥
संघरोस वूठो रणां बाटां धार पाणां सुतो।
रोद थट्टां ऊथैं सार झाटां रतन्नेस॥ १॥

पणांगा भालड़ां सोक झोक भड़ा मूठ पाणां।
घड़ा करे घमस्साण नीर खारां धीठ॥
योह छोला काल्ह कीट चाढ हीकां बरस्साणों।
गेहलोय रीठ लोहां तुरक्कां गरीठ॥ २॥

सुरंगां रड़क्कैनाला रै जाहरां सूंडां डंडां।
बाब मंडे खेचरां नहक्का दाब बूंज॥
झुआला टेल घणै बाब वूठो जम्मराव जूंही।
वड़िग आवधां राव केफां वपस्त॥ ३॥

मेलिया ओरां गोळ दीलो लगा नामग्गीर ।
जगा अग्गसेनं नेगा चढ़ै हुई ओम ॥
[illegible] रत्नसिंह [illegible] [illegible] [illegible] :
जगी तेग [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ ४ ॥

उमड़ते हुए बादल-समूह की भांति भरा हुआ हाथियों का झुण्ड सोनगढ़ होकर आता और उधर बिजली की तरह रणगण की गोलों की ज्वाला आकाश में फैलने लगी। उस समय हे रत्नसिंह, तूने मुगल-समूह पर भालों के साथ तलवार की वर्षा (रक्त वृष्टि के समान) कर दी।

युद्ध-दर्पित वीर सैनिकों ने अत्यन्त तीव्र वेग से पैने तीर चलाने प्रारम्भ किये और शत्रु-सेना पर सावन के पानी की भांति शस्त्र-वर्षा की। जिसकी आवाज चारों दिशाओं में फैल गई और तू काली घटा के समान मुगलों पर छा गया।

भूगर्भ स्थित सुरंगें फटने लगीं। बन्दूकों की गोलियों और तलवारों से हाथियों के घाव लगने लगे। योगिनियां आ उपस्थित हुईं। अश्व पर आरूढ़ सशस्त्र रावत, यमराज के समान भीषण रूप धारण कर शत्रुओं के घाव करने लगा था, रणभूमि से मुगलों को हटा कर पराजित कर दिया।

अपने खड्ग प्रहार से दिल्ली के वीर-मुगलों को रणक्षेत्र से तितर बितर कर दिया और शत्रुओं के सामने नहीं झुकने वाले रत्नसिंह ने वृषभ के समान युद्ध के जुए का भार अपने कंधों पर उठा लिया तथा अपनी यशः कीर्ति पृथ्वी पर फैला कर अमर बन गया।

इसी प्रकार जब मुगल बादशाह अकबर ने ई० सन् १५६७ में चितौड़-विजय के लिये महाराणा उदयसिंह पर चढ़ाई की तब, बदनोर के प्रसिद्ध वीर जयमल राठौड़ ने दुर्ग की रक्षा के लिये प्राणपण से युद्ध किया और वीर गति प्राप्त की। उस समय कवि ने चितौड़-दुर्ग के

मुँह से जयमल को सम्बोधित कर जो कहलाया है—उसका वर्णन कितना स्वाभाविक एवं सुन्दर बन पड़ा है—देखिये:—

दिल्ली पंह आयां राण अत्त दिल्लियों ।
तिण सूं कहै चित्रगढ़ तूझ ॥
जैमल जोध काम तो जोगो ।
साहब्यां राव म ढील स मूझ ॥ १ ॥

खीज करे चढ़ियो खुन्दालम ।
धणा कटक वंध सेल धणा ॥
गढ़ नायक मेलि यों कहै गढ़ ।
तू मत मेले वीर तणा ॥ २ ॥

अकबर आवन उदियासिंघ ।
यवै ढीलो कीधो चितौड़ ॥
मोटा छात जोध हर मंडण ।
रखै सूझ ढीलै राठोड़ ॥ ३ ॥

जंपै एम दुरंग सूं जयमल ।
हूं रजपूत धणी तो राण ॥
संक म कर जग सिर साजों ।
सिर पड़ियां लेसी सुरतांण ॥ ४ ॥

चितौड़ दुर्ग कहता है—"हे जयमल, दिल्लीपति अकबर के चढ़ आने पर महाराणा आने को असमर्थ जान कर मुझे छोड़ गया है। इसलिये हे राठोड़, इस युद्ध का उत्तरदायित्व अब तेरे ऊपर है। तू भीरु बन कर मुझे मत छोड़ जाना।

दुर्ग के मुँह से कवि ने आगे कहलाया कि "हे वीरमदेव के पुत्र बादशाह ने क्रुद्ध होकर विशिष्ट सेना का संगठन कर मेरे ऊपर आक्रमण किया है, जिससे मेरा स्वामी मुझे छोड़कर चला गया है परन्तु हे वीर, तू मुझे मत छोड़ जाना।

असंख्य सेना के साथ अकबर के चित्तौड़ पर चढ़ आने की सूचना प्राप्त कर उदयसिंह चला गया। इस पर दुर्ग कहता है कि "हे जोधा के वंशज वीर शिरोमणि जयमल, ऐसा न हो कि तू भी मुझे छोड़कर चला जाय ?"

वीर जयमल ने उत्तर में दुर्ग से कहा— "तेरा स्वामी महाराणा ही है, मैं तो उसका राजपूत हूँ। जब तक मेरे शरीर पर मस्तक है तब तक, तेरे ऊपर किसी का अधिकार नहीं हो सकता। मेरे मरने के बाद ही अकबर तुझ पर अधिकार कर सकता है—पहले नहीं।"

इस तरह के गीत एक नहीं, अनेक हैं। इन गीतों में कवि की सुन्दर उक्तियाँ और भाषा की शक्ति का परिचय मिलता है। इसी तरह वीरता के वर्णन का एक और सुन्दर उदाहरण देखिये :—

ई० सन् १५७६ में मेवाड़ के महाराणा प्रतापसिंह पर दिल्ली पति अकबर ने आमेर के राजा मानसिंह के सेनापतित्व में सेना भेजी और हल्दीघाटी के मैदान में प्रसिद्ध ऐतिहासिक युद्ध हुआ। इस युद्ध में राठौड़ जयमल के पुत्र रामदास ने जिस प्रकार प्रबल पराक्रम प्रदर्शित किया; उसका वर्णन इस गीत में कितना सुन्दर किया गया है :—

शशि थाइस तप थाइ सूरिज शितल,
तजे महोदधि वारि तुरंग।
मृत मै रामदास रण मेले,
गमण पछम दिशि मंडे गंग॥ १ ॥
जल़ चन्द्र शिल़ो थाई जम चख,
रेणायर सां शतो रहे।
जयमाल़ उत जाइ छांडे जुध,
वेणी जल़ उपराठ वहे॥ २ ॥

अतश इन्दु अरक ताढ़िम अंग,
सायर छंडे लहरि सुवाह ॥
पह मेड़ता चले पारोठो,
पमुहे वहे सुर सरि प्रवाह ॥ ३ ॥
सोम सुर सामँद्र प्रता सुध,
अथट सुभाव दाखवे अंग ।
राम कियी मृत शासि धरम रसि,
पुनि तोया मिलि पूव प्रसंग ॥ ४ ॥

हे राठोड़ रामदास, यदि तू मृत्यु के भय से युद्ध स्थल छोड़ कर चला जाता है तो चन्द्रमाँ तीक्ष्ण किरणें और सूर्य शीतलता धारण कर लेता है, समुद्र स्थिर होजाता है और गंगा का प्रवाह पश्चिम की ओर मुड़ जाता है।

हे जयमल के पुत्र, यदि तू युद्ध स्थल त्याग कर विमुख होजाता है तो चन्द्रमां आग उगलने लगता है और सूर्य शीतलता धारण करने लग जाता है। समुद्र अपनी सुन्दर उर्मियां छोड़ देता है और गंगा के जल का प्रवाह विपरीत दिशा में हो जाता है।

हे मेड़ता नरेश, यदि तू रणांगण से शत्रुओं को पीठ दिखा कर युद्ध-भूमि से पलायन कर जाय तो चन्द्रमाँ तेज को धारण कर लेता है और सूर्य शीत की प्रकृति का बन जाता है, समुद्र लहर-हीन होजाता है और गंगा उल्टी बहने लग जाती है।

रामदास अपने पूर्वजों की भाँति स्वामी धर्म का पालन कर युद्ध में शौर्य प्रदर्शित करता हुआ वीर गति को प्राप्त हुआ। चन्द्र, सूर्य, समुद्र और गंगा अपनी पूर्व स्थिति में आगये। अर्थात् चन्द्र ने शीतल किरणों, सूर्य ने ग्रीष्म किरणें और समुद्र ने सुन्दर लहरें धारण की तथा गंगा पूर्व दिशा में पुनः बहने लगी।

विशेष कर गीतों के अर्थ उन्हीं ने लगाये हैं। इसके लिये मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ। साहित्य-संस्थान के इतिहास-पुरातत्व विभाग के संयोजक श्रीनाथूलालजी व्यास ने गीतों की पाद टिप्पणियां लिख कर पुस्तक को अधिक उपादेय बनाने में योग दिया; इसके लिये मैं श्री व्यासजी का आभारी हूँ।

विनीत
गिरिधारीलाल शर्मा
सम्पादक

अक्षय तृतीया
सम्वत् २०१३, उदयपुर

प्राचीन राजस्थानी गीत

(भाग—१)

१ रावत चुण्डा लाखावत सीसोदिया[1]

गीत (छोटा साणौर)

चालतो दुरंग पयंपै चुंडौ, ए पुरुषातम तणी पर ।
आप न मुड़ियै जाय अरीयण, तो आगै पाछै मुड़ै यर ॥ १ ॥
चुण्डौ कोट जिसो चित्तौड़ौ, वांचे चित्तौड़ै वयण ।
रहजे जो आपण पग रोपे, पड़ै क पग छंडै प्रसण ॥ २ ॥
लोह पगार कहै लाखावत, गैमर हैमर जेथ गुड़ै ।
मुंह रावत जो आप न मुड़िये,(तो) मौड़ा वेघा प्रसण मुड़ै॥ ३ ॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थ:—पुरुपार्थी चुण्डा वीर किले पर चलता हुआ कहता है कि हे वीरो ! युद्ध भूमि में शत्रुओं के सामने से हम नहीं मुड़ेंगे तो अपने सामने से या पीछे से शत्रुओं को अवश्य ही मुड़ना पड़ेगा ।

टिप्पणी:—१ यह महाराणा लाखा (वि०सं० १४३६–७८) के पाटवी कुमार थे । हँसी मे कहे हुए अपने पिता के वाक्य पर मंडोवर की राजकुमारी से विवाह न करने के निश्चय के साथ ही राज्यगद्दी को भी इन्होंने स्वतः त्याग दिया ।

उक्त राजकुमारी से फिर लाखा का विवाह हुआ, उमसे उत्पन्न मोकल मेवाड़ का स्वामी हुआ । लेकिन उसे चाचा मेरा ने मार डाला, जब मंडोवर के राठोड़ रणमल ने मेवाड़ पर अधिकार जमाने की चेष्टा की, तब चुण्डा ने मालवा से आकर राणा कुंभा का राज्य स्थिर किया और रणमल को मार कर मंडोवर का राज्य भी छीन लिया ।

वीरता का गढ़ बन कर चुण्डा अन्य वीरों को उपदेश देता है कि हे सामन्तो ! रणक्षेत्र में यदि हम पैर टिका कर शत्रुओं से सामना करेंगे तो या तो वे धराशाई होंगे या उन्हें भागना पड़ेगा।

लाखा का पुत्र चुण्डा शस्त्र उठा कर कहता है-कि जहाँ हाथी और घोड़े युद्ध-स्थल में गिरते हैं। क्षत्रिय योद्धाओं ! ऐसे युद्ध में पीठ नहीं दिखाई जायगी तो शीघ्र या विलंब से शत्रु लौट ही जायेंगे।

२ रावत चुण्डा लाखावत सिशोदिया

गीत (छोटा-साणोर)

लाखावत एक सारीखा लाखां, महा सुयश दाखै मछर।
चुण्डावत वाही चित्तौड़ा, अणियाली रणमल उअर ॥१॥
नेत बंध नोमूं नाग द्रहा, जोधे नहँ झालियो जुध।
हाथां तूझ समर हामू हर, कटारी भीत करियां कमुध ॥२॥
सझिये सावदलां सीसोदा, इला थंभ रावत आ गाढ।
पंजर राव तणै केलपुरा, जड़ी जुतै स जड़ी जस दाढ ॥३॥
खेता हरा वांका जे खलां, कलहण अडग केशिया काल।
धुर मेवाड़ अनै भृहड़ धर, प्रगटी तूझ तणी प्रति माल ॥४॥

(रचयिताः- अज्ञात)

भावार्थः—हे लाखा के पुत्र ! तेरी वीरता लाखों वीरों के सदृश गौरव से भरी हुई है। रणमल के हृदय में कटारी का वार करने से हे चुण्डा ! तेरा सुयश फैल गया है।

हे हम्मीर सिंह के पौत्र सिशोदिया ! विजय चिन्ह धारण करने वाले ! तूने अपने हाथ से रणमल के कटारी पार की, यह सुन रणमल का पुत्र जोधा युद्ध न कर भाग खड़ा हुआ।

शत्रुओं की सेना का सर्वत्र सामना करने वाले वीरता के स्तंभ हे सिशोदिया ! तू ने राव रणमल के शरीर पर कटारी का अच्छा वार किया।

शत्रुओं के समूह में वक्रगति वाले काल पुरुष के समान, युद्धस्थल में अडिग रहने वाले, हे खेतसिंह के पौत्र ! तेरी कटारी का वार मेवाड़-मारवाड़ में प्रसिद्ध होगया।

३ रावत चुण्डा लाखावत सिशोदिया

गीत (छोटा साणोर)

लाखावत मेल सबल दल लाखां,
लोहां पाण धरा लेवाड़।
कैलपुरे हेकण घर कीधीं,
मुरधर ले बांधी मेवाड़ ॥ १ ॥
खोस लिया असनमा खेतल,
रैंवत ने ज्यां वाला रूंग।
रंधिया राण तणौ रसोड़े,
मुरधर रा नीपजिया मूंग ॥ २ ॥
थांणो जाय मंडोवर थपियों,
जोर करे लखपत रे जोध।
कियो राज चुण्डे नव कोटी,
सात बरस ताई सीसोद ॥ ३ ॥
खेड़ेचां वाली धर खोसे,
दस सहसां आकाय दईव।
सुरग दिला रिड़माल सिधायो,
जोधे नीठ बंचायो जीव ॥ ४ ॥

(रचयिता :— अज्ञात)

भावार्थ :— हे लाखा-पुत्र ! तूं शक्तिशाली सैनिकों का संगठन कर, शस्त्रबल से अपनी सीमा का विस्तार करने वाला है। हे सीशोदिया तूंने मारवाड़ की भूमि पर अपना अधिकार स्थापित कर मेवाड़ और मारवाड़ की एक ही सीमा करदी है।

हे क्षेत्रसिंह के समान योद्धा ! तूंने अपने घोड़ों को रातब देने के लिये मारवाड़ की भूमि छीन कर उससे उत्पन्न मूंग महाराणा के रसोड़े में बनवा कर खिलाये हैं।

हे लाखा-पुत्र चुण्डा ! तूंने अपने भुजबल से मंडोवर पर अपना अधिकार स्थापित किया है। इस प्रकार नव-कोटि मारवाड़ पर निरन्तर सात वर्ष तक सीशोदियों का शासन रक्खा।

हे सीशोदिया चुण्डा ! देव योग से राठोड़ रणमल स्वर्गवासी हुआ और जोधसिंह ने अपने प्राण बचाये। उस समय तूंने खेड़ेचा गोत्र वाले राठोड़ों से भूमि छीन कर मंडोवर पर शासन किया।

४ रावत राघव देव-लाखावत सिशोदिया [१]

गीत (छोटा सणोर)

खत्र वाट खत्री गुर होये खड़ग हथ,
आहरा ते साचवियै इम।
दांते काढी कणे नहँ देखी,
जम-दढ राघव देव जिम ॥ १ ॥
रायंगणी राण कुम्भ क्रन रूठे,
हाथे लहे हिंदुये राव।

टिप्पणी:—१ राघव देव लाखा का पुत्र चुण्डा का छोटा भाई था। यह बड़ा वीर था जिसे राणा कुम्भा के शासन काल में मंडोवर के राव रणमल ने दगे से मरवा डाला उसी का ऊपर वर्णन है।

कीढ़ी राघव भली कटारी,
दांता सिरसी ऊपर डाव ॥ २ ॥
रिण मल कुम्भा तिन्हे रायंगाणि,
घणे चींतवे श्रोह वणा ।
फूटां लोह पछां फिटकारां,
ताहवां राघव देव तणा ॥ ३ ॥
कर ग्रहिये हम्मीर कलोधर,
सुजडी छल साचवी सर्वत्र ।
लगा लोह पछां लाखावत,
दांते काढी राघव देव ॥ ४ ॥
पूंचे वाथ पडंतो पहलो,
सोहडस जूम्का वाहे सार ।
राघव ज वलीन दीठो रावत,
कमल कटारी काढण हार ॥ ५ ॥
हाथां अ वसी हुए वसि हाथां,
वाहे अणी खत्रीले वाढ ।
राघव काढ़ी तणौ राय गुर,
दांत विशेख किए जम दाढ ॥ ६ ॥
शीशोदा राण लखपति संभ्रम,
पौरिस घणौं दाखवैं पाण ।
कर सत्र ग्रहे डमण खल कलिहण,
काटी श्रणियाली-कुल-भाण ॥ ७ ॥

खत्र घणा किया आगे ही खत्रिये,
कहिये पृथ्वी अनाथ किम ।
कर गे ग्रहिये कणी नहँ काढी,
जम दढ राघव देम जिम ॥ ८ ॥

(रचयिता–हरी सूर, बारहठ)

भावार्थः– क्षात्र–कुल का गौरव रखने वाला क्षत्रियों का गुरु राघव देव हाथों से तलवार चलाने वाला था। उसी वीर राघव देव ने दांतों से कटारी निकाल कर शत्रुओं को मारने के लिये वार किया, ऐसा वीर पुरुष किसी जगह देखने में नहीं आया।

हिन्दु–पति कुम्भा ने रुष्ट होकर राय आंगन में तेरे हाथ पकड़ लिये। उस समय हे राघव देव! तूं ने अपनी कुशलता से दांतों द्वारा कटारी निकाल ली।

रणमल और कुम्भा ने तुझ पर क्रुद्ध हो महलों के बीच हे राघव देव! तुझे जख्मी कर दिया। किन्तु रक्त रंजित होने पर भी तूं ने रणमल पर दांतों से कटारी निकाल कर प्रहार किया।

हम्मीर के कुल को धारण करने वाले कुम्भा ने छल कर के तुझ पर कटारी का वार किया; उस पर तूं ने भी अपने कौशल से दांतों द्वारा कटारी निकाल कर उन शत्रुओं पर वार किया।

हे राघव देव! तेरे हाथ के पहुँचे पकड़ कर गुत्थम गुत्था होने के पहले वीर शत्रुने तुझ पर खड्ग–प्रहार कर दिया। तब हे रावत! मुँह से कटारी निकाल कर वार करने वाला तेरे समान अन्य वीर नहीं दिखाई दिया।

हे वीर क्षत्रिय! अपने हाथ शत्रु के वश में होते हुए भी तूं ने इस प्रकार शत्रु पर कटार चलाई मानो तेरे हाथ किसी के काबू में

नहीं। हे राजाओं के गुरु राघव देव ! दांतों से पकड़ कर (कुशलता से) तू ने कटारी निकाली।

हे लाखा के पुत्र ! तू ने अत्यंत ही पुरुषार्थ दिखाया, जिस समय तेरे हाथ शत्रुओं ने पकड़ लिये। उस समय उन से युद्ध करने को तू ने (अपनी कुशलता से) कटारी निकाल कर प्रहार किया।

पूर्व काल में भी कई क्षत्रियों ने अपना क्षात्र-बल दिखाया, इस पृथ्वी को कभी वीर विहीना नहीं कह सकते; किंतु हे राघव देव ! हाथ पकड़ने के बाद भी दांतों से कटारी निकाल जिस कुशलता से तू ने सामना किया, वैसा कोई वीर नहीं हुआ।

५ कांधल चुंडावत सिशोदिया[१]

गीत (छोटी साणोर)

इण तरवर एक पहाड़ ऊपरे।
गरव भाग गेपे गैतूल ॥
कीधी भली जिके कांधाला।
मुलया तणी अस्ली मूल ॥ १ ॥

ईडर राव तणों आरोपो,
मेवाड़ा ऊपर मुणियो।
किरमर धार करग कोदाल,
खेत कलोधर रिण खिणियो ॥ २ ॥

वैरी वरख इसों कू वधियां,
डाहल लागा दसे द्रग।
चावे चिहु राये चुंडावत,
ओ खांखे कीधो अलग ॥ ३ ॥

कोई पांखड़ां न सकियो कल्हण,
विजड़ रामा उतै वियो ।
कीरत तणा प्रवाड़ा कारण, ।
कांधल मूल अमूल कियो ॥ ४ ॥

(रचयिता अज्ञात)

भावार्थः—एक पहाड़ पर सूर्य की ज्योति में वृक्ष रूपी शत्रु गौरवान्वित हो कर लहरा रहा था। उसे झड़ से उखाड़ कर हे कांधल! तूने अच्छा किया।

ईडर का राव क्रुध हो मेवाड़ पर चढ़ आया। हे चेत्रसिंह के वंशज! तूने उसे कुदाली रूपी तलवार हाथ में ले रण क्षेत्र से खोद कर निकाल दिया।

यह वृक्ष रूपी शत्रु बहुत बढ़ा हुआ था, जिसकी शाखा और कोंपलें दसों दिशाओं में फैल रही थी। ऐसे सब ओर फैले हुए वृक्ष (शत्रु) को हे चुंडा के पुत्र! तूने खोद कर अलग फैंक दिया।

वृक्ष रूपी रामा के पुत्र शत्रु की कोई कौंपल (शाखा) सूखी हुई नहीं थी। हे कांधल! उस वृक्ष को तूने अपनी तलवार से नष्ट कर यश प्राप्त किया।

६ रावत रत्नसिंह चुण्डावत सिशोदिया[१]

गीत (छोटा साणोर)

बाबर साह पूठै थयो दाखै बल,
सरिन सांधै कोई संग्राम ।
मंड रतनसी राज वँस मुड़िया,
संड राखण चुण्डा हर स्याम ॥१॥

डूंगर सीह सिलह दी डिगिया,
आवर खड्ग मरण दे आज।
रावते घणौ भलाया रावत,
लाखा हरा भुजां तुझ लाज ॥२॥
वांसै साह हुयौ हक वागी,
निसती तजि चलिया नेठाह।
गुजरे कमल कांधले भंभ्रम,
स्याम कहै रहि स्याम सनाह ॥३॥
खत्रवट मारिग खेत खानुवै,
नल वन थाव दाखवै नहस।
राखी भली पडंतै रावत,
सीसोदिया ऊभी मनस ॥४॥

(रचयिता—अज्ञात)

भावार्थः—जिस समय बादशाह बाबर ने साहस दिखाकर पीछा किया उस समय उसके सामने कोई तीर न चला कर सभी योद्धा, सामंत और नरेश मुड़ गये किंतु हे चुण्डा के पौत्र रत्नसिंह! तू अपने स्वामी के लिये युद्ध भूमि में अचल बना रहा।

चलते हुए खड्ग से मृत्यु को देखकर डूँगरसिंह व राणा के उमराव योद्धा बख्तर पहने हुए उस रणांगण को छोड़ चले। उस समय युद्ध भार विशेष करके तेरे कंधे पर ही डाल गये।

टिप्पणीः—यह रावत चुण्डा के पुत्र कांधल का बेटा था और राणा सांगा की बाबर से सन् १५२७ में खानवा में लड़ाई हुई, उसमें बहादुरी से लड़ता हुआ वीर गति को प्राप्त हुआ। उसी का वर्णन है।

वीर-हाक करते हुए बादशाह ने पीछा किया उस समय साहस हीन, धैर्यहीन (महाराणा के) वीर नहीं ठहरे। ऐसे समय में हे कांधल के पुत्र ! महाराणा ने अपनी रक्षा के लिए बख्तर सदृशः, जानकर युद्ध लज्जा का भार तेरे भुजों पर छोड़ दिया।

हे रावत सिशोदिया ! तू खानवे के युद्ध में निश्चय स्वरूप शत्रुओं को जख्मी कर उनके रक्त के पनाले बहाता हुआ क्षात्र कुल के रास्ते पर अडिग बना रहा और गिरती हुई युद्ध लज्जा रखली।

७ रावत रत्नसिंह चुण्डावत सिशोदिया

गीत (छोटा साणोर)

नमते निय सेन तणी नाग द्रह,
भारथ भू भड़ त्रिरती भीर ॥
पग किम रावत परठै पाछा,
जड़िया परिया तणां जंजीर ॥ १ ॥
क्रम पाछा न देवै केलपुरो,
रिण भूं जेथ नह छंडे राव ॥
सनस तणी वेड़ी सीसोदे,
पहरी रतन तेण परजाव ॥ २ ॥
कांधल उत्त मचंते कलहण ।
घण जूझा आगमण घणी ॥
चोहट्टी तूझ तणै चितौड़ा ।
सांकल पग सूं रतन तणी ।। ३ ॥
राण तणा रजपूत न रहिया,
सक भड़ भागौ डूंगरसीह ॥

उदम असत गया उलंडे ।
लाज बंधण पग लागो लीह ॥ ४ ॥
(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थ :— हे रावत ! शत्रु वीरों की गर्दी में सीशोदिया की सेना रण-स्थल से पीछे हटने लगी । लेकिन तूं पीछे पैर कैसे हटा सकता था ? तेरे पैर तो पूर्वजों की यश रूपी जंजीर में जकड़े हुए थे ।

हे सिशोदिया ! रणांगण से तूं पैर कैसे हटा सकता था ? युद्ध भूमि से अन्य राव, क्षत्रिय हटगये और यदि तूं भी पैर पीछे हटा देता तो सिशोदिया-कुल की लज्जा ही नष्ट हो जाती ।

हे सिशोदिया रत्नसिंह ! हे कांधल के सुपूत ! तू अन्य योद्धाओं की भांति रण:स्थल से कैसे हट सकता था ? कुल लज्जा की जंजीरें तेरे पैरों को जकड़े हुए थीं इसीलिए तू प्रबल पराक्रम से युद्ध करता रहा ।

उस समय राणा के सामंत युद्ध:स्थल से भाग खड़े हुए, इसीलिए डूँगरसिंह वगैरह भी रणभूमि छोड़ चले । इस प्रकार रण-खेती निष्फल होती देख, हे रत्नसिंह ! लाज लंगरों से जकड़ा हुआ तूं युद्ध में अडिग बना रहा-युद्धस्थल से नहीं हटा।

८ रावत रत्नसिंह चुण्डावत सिशोदिया

गीत (छोटा साणोर)

झड़ वागां जाय जिके नर झूठा ।
मछर तणी आगवे मटक ॥
कटकां सरसान छूटे कांधल ।
कांधाल छूटे कटक ॥ १ ॥
रावत रम पयंपे रतनो ।
सीसोदियों नरोहां सार ॥

खसे खंधार म जाये मोखत ।
खतमो ओलै रहै खंधार ॥ २ ॥
भागलां हत रतनसी भाखै ।
दाखै चलण न पीठ देऊं ॥
थाटां तणी पीठ हूँ थोभूं ।
थाट मुड़ै किम मोहर थऊं ॥ ३ ॥
सुजड़ा हथ कांधाल समोभ्रम ।
वहरे वीजड़ा खेत वया ॥
धर गज खंभ रतन सी ढुलतां ।
गयंद गण--घर कुशल गा ॥ ४ ॥
भांजे गया अनेरा भूपत ।
छत खत्रवट खुरातन छांड ॥
रहियो हेक रतन सी रावत ।
मुगल घड़ा सांभा पग मांड ॥ ५ ॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थ:- तलवार बजने पर युद्ध-भूमि छोड़ कर चले जाने वाले मनुष्य झूंठे होते हैं और उनके गौरव का विनाश हो जाता है। सेना के सामने से कांधल वंशजों के पैर नहीं छूटते बल्कि उनके सामने (उनके) शत्रुओं के पैर छूट जाते हैं।

नर-श्रेष्ठ रत्नसिंह सिशोदिया कहता है—की कंधार देश के रहने वाले मुगल मेरी शक्ति के सामने (युद्धक्षेत्र) से भाग जाते हैं और अन्य यौद्धा मेरे क्षात्रत्त्व की शरण लेकर रहते हैं।

युद्ध-स्थल से भागने वाले को रत्नसिंह कहता है—कि मैं कभी विचलित हो कर रणांगण में शत्रुओं को पीठ नहीं दिखाता। भागने वालों के पीछे मैं ठहर जाता हूं और रिपु दल के पीछे फिरने (सामने होने) पर उनके आगे भागता नहीं हूँ।

कांधल पुत्र हाथ से तलवार-कटारी चलाता हुआ रण क्षेत्र में धराशाई हुआ। स्तम्भ-स्वरूप रत्नसिंह के गिरने पर राणा के हाथी कुशलता पूर्वक पीछे घर चले गये।

क्षात्र-कुल के गौरव और शौर्य को छोड़ कर दूसरे राजा रणांगण त्याग कर चले गये (उस समय)। मुगल सेना के सम्मुख केवल एक रत्नसिंह ही अडिग पैरों से खड़ा रहा।

६ रावत रत्नसिंह चुण्डावत सिशोदिया

गीत (सु पंख)

गजां उमंडे वादलां जूथ सकंजा कांठला गढ़ां।
वीज मोर झालां धजा गैणाला वहेस॥
संघरोस त्रूटो रणां वाटां धार पाणां सुतो।
रोद थट्टां माथै सार भाटां रतन्नेस॥ १ ॥

पणंगां भालड़ां सोक भोक भड़ां मूठ पाणां।
धड़ां करे वमस्साण नीर खारां धीठ॥
मोह छोलां काल कीट चाढ हीकां वरस्साणों।
गेहलोत गीठ लोहां तुरक्कां गरीठ॥ २ ॥

सुरंगां रड़क्कै नाला रै जाहरां मूंडां डंडां।
वाव मंडे खेचरां नहक्कां दाव वूंत॥
जुआला टेल धणां वाव त्रूटां जम्मराव जुंही।
वाड़िग, आवधां गाव केफां वपरूत॥ ३ ॥

१० रावत सींहा चुण्डावत सिशोदिया

गीत (बड़ा सारणोर)

जमी ऊपटे काट अण वाट होय जरणो जण ।
बढ़ण आय चापड़ थाट वाणा ॥
पाग दामें घणा वाट लागा प्रनण ।
एक रावत तणी भाट आणा ॥ १ ॥

मता चूके असह गता चांग हुआ सीह ।
आवियो तता वांधे मता एक ॥
चचण गज घता वहणा ज्यूं ही चलेणा ।
टलेंगा जता करता मना टेक ॥ २ ॥

वांण छड़ वांण अप्रमाण रण वहातां ।
चूक अवसांण के ही अचूकां ॥
भीच चुंडा तणी खटक भागी नहीं ।
रटक ले ले गया कटक रूकां ॥ ३ ॥

सीह सांगण तणे फतैं पाई समर ।
रगत भ्रत धपाइ जोग रायो ॥
घटावे मांण लागा वमोहण सारे ।
अरज ताजा सोर धकै आयो ॥ ४ ॥

(रचयिता :– अज्ञात)

भावार्थ :— उलटती हुई पृथ्वी के समान वीर–दल प्रकट हो हो कर युद्ध के लिये तलवार बजाने लगा किन्तु अकेले रावत के साहसिक वेग युक्त आघात को देखकर बहुत से शत्रुओं ने युद्ध–भूमि का पिछला रास्ता पकड़ लिया ।

मेलिया उतोल गल ढीली लूण तास मीर ।
जंगां धम्मगल तेगां चहुँ हरे जांम ॥
गोस रूपी रतन्नेस अनम्मी समाणो गोस ।
जमी तेह वामी जूप गाव्रे जसाव्वास ॥ ४ ॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थ:—उमड़े हुए बादल-समूह की भाँति, सज्जित गज-झुण्ड रणो-त्साही हो उलट आया। रण स्थल की तोपों की ज्वाला बिजली की तरह आकाश में फैलने लगी। हे रत्नसिंह! उस समय (युद्धभूमि में) तूं ने मुगल-समूह पर साहस-पूर्वक तलवार की (इन्द्र वृष्टि के समान) झड़ी लगादी है।

युद्ध-हर्षित सैनिक वीरों ने अत्यंत तेजी से पैने तीर चलाने शुरू किये और शत्रु सेना पर नमकीन पानी की तरह शस्त्राघात की वृष्टि करने लगा; जिसकी आवाज चारों ओर फैलने लगी और तूं काली घटा के समान मुगलों पर छा गया।

भू गर्भी (जमीन में गड़े हुए) सुरंगों की आवाज होने लगी; बंदूकों की गोलियों व तलवारों से हाथियों के घाव लगने लगे। उस समय भयंकर रूपा-खेचरी (योगिनियाँ) आदि उपस्थित हुईं। यमराज जैसे शत्रुओं पर घावों की झड़ी लग गई और सशस्त्र अश्वारोही रावत ने भी भीषण रूप धारण कर मुगलों को पराजित कर रणांगण से हटा दिया।

रणक्षेत्र में दिल्ली के मीर-मुगलों को खड्ग-प्रहार द्वारा चारों ओर बिखेर (तितर बितर) कर बांई तरफ अनमी रत्नसिंह ने वृषभ वत युद्ध भार के जूए (जूड़े) को अपने कंधों पर उठा लिया और पृथ्वी पर अपना यश अमर कर गया।

रावत सींहा तुरन्त ही एक संगठन कर युद्ध: स्थल में आ उपस्थित हुआ। उसकी इस गति को देखकर सभी शत्रु चकित हो गये और जितने वीर-शत्रु हृदय में लड़ने का दम्भ रखते थे, वे शूर-वीर रणांगण में झरते हुए मदवाले हाथियों के साथ प्रविष्ट हुए और पुनः ज्यों के त्यों लौट गये।

युद्ध में अत्यन्त बाण चलाने वाले अचूक योद्धा भी चूक जाते थे। शत्रु-सेना के साथ तलवारों की टक्कर ले ले कर चले गये, किन्तु अपने हृदय में से वीर चुण्डा का भय नहीं मिटा सके।

सांगा के पुत्र ने युद्ध में विजय प्राप्त कर योगिनियों को इस प्रकार रक्त से तृप्त किया कि शत्रुओं को गौरव-हीन कर स्वामी का कार्य सफल कर सम्मुख हुआ।

११ राठौड़ राव वीरम देव मेड़तिया, मेड़ता

गीत (छोटा साणौर)

वांसे बरदेत कमंध बल़ दाखे ।
लोह छतीस भुजां डंड लेव ॥
राणा रावल़ राव मुरड़ंतां ।
दोयण हटक्या वीरम देव ॥ १ ॥

पत मेड़ता समर पत साहां ।
अणियां मूंहे दीध उझेल ॥
वीरमदेव आवतां वांसे ।
अन रावां पायो ऊवेल ॥ २ ॥

दाटक धरा फाटक दुदावत ।
धड़चे मुगल़ मार खग धार ॥
दस सहसां नव सहस दो मझ ।
वीर सहाय हुओ तिण वार ॥ ३ ॥

जोधा हरो जोध रिण जूटो ।
जवनां ऊझलतां जम जाल ॥
पीला खाल हूँत पलटंतां ।
राव रठौड़ थयो रुछ पाल ॥ ४ ॥

रिण रायामल बंधव रहे रिण ।
समहर भूप दिखावे आप ॥
(ओ) सांगो राणा कुशल घर आयो ।
पह वीरम देव तणो परताप ॥ ५ ॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थ:- हे कुलीन राठौड़ ! तूं एक साहसी की भाँति छत्तीसों शस्त्रों से सज्जित हो कर महाराणा की सेना में सम्मिलित हुआ। युद्ध-भूमि में रावल नरेश एवं अन्य क्षत्रिय युद्ध से विमुख हो गये। उस समय हे वीरम देव ! तू ने ही शत्रुओं का सामना कर उन्हें परास्त किया।

हे मेड़ता पति वीरम देव ! बादशाह की सेना का सामना कर अपने पूर्वजों के गौरव को उज्ज्वल कर दिया। पीछे से तेरे युद्ध में सम्मिलित हो जाने से महाराणा के सैनिकों को बड़ी सहायता मिली।

हे दूदा के पुत्र ! तूं तलवारों से मुगलों के घाव लगाने के कारण इस मेवाड़ के लिये एक दृढ़ कपाट के समान सिद्ध हुआ। हे वीरम देव ! सिशोदिया और राठोड़ों की सेना का तू सहायक रहा।

हे राव जोधा के पौत्र वीरम देव ! तूं ने यमराज के समान मुगलों की सेना का सामना किया। हे राव राठोड़, "पीला खाल" के स्थान पर राणा की सेना के चरण डिगने लगे। उस समय तूं ने बड़ी सहायता की।

इस युद्ध में हे वीरम देव, तू और तेरा भाई राय मल, स्वामी भक्ति का पूर्ण परिचय देते हुए रण भूमि में धराशाई हुए तेरी ही

वीरता के कारण महाराणा सांगा युद्ध-भूमि में कुशलता पूर्वक घर आ सके।

१२ राव जयमाल राठोड़ मेड़तिया, बदनोर

गीत (छोटा साणोर)

गज रूप चढ़ण अंग रहण अंस भगत, पौहप कमल दैसोत पग।
जिम जगदीस पूजतो जैमल, जैमल तिम पूजजै जग ॥१॥
गज आरोह वड वड़ा गढ़पत, चौसर धर वंदे चलण।
वीर तणो अरचतौ विसंभर, तिम अरचीजे आप तण ॥२॥
रथ हाथ रू कुसुम थिर रेखक, महिपत पग तल नीमे मण।
प्रम कमधज जिण वड महा जतौ, आप वडम पूजया चरण ॥३॥
मोटो पह आराध करे महि, मोटो गढ़ लीजतां मुओ।
जोय हरि भगत तुआली जैमल, हरि सारीख प्रताप हुओ ॥४॥

(रचयिता :- अज्ञात)

भावार्थ :— हे जयमल, गजरूप नामक हाथी पर आरोहण करने वाले, तेरे शरीर में भक्ति का अंश एवं साहस देखकर तेरे चरणों में अन्य नरेश पुष्प की भांति (पुष्प रूप) अपने शीश को झुका कर तेरी वन्दना करते हैं। जिस भांति हे जयमल, तूं ईश्वर के सन्मुख शीश झुका कर वन्दना करता था उसी प्रकार तेरे साहस से प्रभावित सारा संसार तेरी अर्चना करता है।

हे हाथी पर आरोहण करने वाले महारथी, तेरे सम्मुख राजराजेश्वर चरणों में पुष्प-माला अर्पित कर सदैव नमस्कार करते हैं। हे वीरम

टिप्पणी :— १ वि० सं० १६२४ ई० सन् १५६७ में दिल्ली के बादशाह अकबर ने चित्तौड़-विजय के लिये महाराणा उदयसिंह पर चढ़ाई की तब, बदनोर के मेड़तिया ठाकुर राठौड़ जयमल ने दुर्ग की रक्षा हेतु प्राणपण से युद्ध किया और वीर गति प्राप्त की। इस गीत में उसी का वर्णन किया गया है।

देव के सुपुत्र जयमल, जिस भांति तू ईश्वर की वन्दना करता था, उसी भांति सारा संसार तेरी वन्दना करता है।

हे राठोड़! अन्य नरेश रणांगण में प्रविष्ट होते समय रथारूढ़ होकर हाथ में पुष्प लिये, ललाट पर केसर कुम्कुम का त्रिपुन्ड लगाये, निर्भीक होकर केवल तेरे चरणों का ही ध्यान करते हैं। हे वीर पुत्र, जिस प्रकार तूं परम पिता परमेश्वर की पूजा करता था, उसी प्रकार तुझको भी ईश्वर-तुल्य आदरणीय मानकर तेरी पूजा करते हैं।

हे जयमल, चित्तौड़ जैसे बड़े दुर्ग को लेते समय तूंने वीर गति प्राप्त की। इसी कारण नरेशों में सर्व श्रेष्ठ मान कर सभी पृथ्वी के प्राणी के तेरी आराधना करते हैं। देवताओं में पूर्ण-भक्ति देखकर ही तुझे इस संसार में ईश्वर-तुल्य पूजनीय माना गया है।

१२ राव जयमल राठौड़ मेडतिया, बदनोर

गीत-(छोटा साणोर)

ढ़िल्ली पंह आयां राण अत ढ़िल्लियां ।
तिण सूं कहै चित्र गढ़ तूझ ॥
जैमल जोध काम तो जोठी ।
मारूआं राव म ढ़ील स मूझ ॥ १ ॥

खीज करे चढ़ियो खून्दालम ।
धरण कटक बंध मेल घणा ॥
गढ़ नायक मेलि यों कहे गढ़ ।
तूं मत मेलै वीर तणा ॥ २ ॥

अकबर आवत उदियासिंव ।
चवै ढीलौ कीधो चित्तौड़ ॥
मोटा छात जोध हर मंडण ।
रखै मूझ ढीलै राठोड़ ॥ ३ ॥

जपै एस दुरङ्ग सूं जयमल ।
हूँ रजपूत धणी तो राण ॥
संक्र म कर लग सिर साजो ।
सिर पड़िया लेसी सुरताण ॥ ४ ॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थ:- चित्तौड़ दुर्ग कहता है कि "हे जयमल, दिल्लीपति अकबर के आने पर राणा अपने आप को असमर्थ जान कर मुझे छोड़ कर चला गया है। इसलिये हे राठौड़, "इस युद्ध का उत्तरदायित्व अब तेरे ऊपर है। तू भीरू बनकर मुझे मत छोड़ना" ॥ १ ॥

चित्तौड़ दुर्ग कहता है कि, 'हे वीरम देव के पुत्र। बादशाह ने क्रुद्ध होकर विशेप प्रकार से सेना का संगठन कर मेरे ऊपर आक्रमण किया है। जिस से मेरा स्वामी मुझे छोड़कर चला गया है। परन्तु हे वीर, तूं मुझे मत छोड़ना ॥ २ ॥

अकबर के चित्तौड़ पर असंख्य सेना लेकर आने की सूचना सुन कर उदयसिंह चला गया है। इस लिये दुर्ग कहता है कि-हे जोधा के वंशज वीर शिरोमणि जयमल, ऐसा न हो कि तूं भी मुझे छोड़ कर चला जाय ॥ ३ ॥

वीर जयमल दुर्ग से कहता है कि - "तेरा स्वामी महाराणा ही है और मैं उसका राजपूत हूँ। जब तक मेरे शरीर पर मस्तक है तब तक तेरे ऊपर किसी का भी अधिकार नहीं हो सकता। मेरे धराशायी होने पर ही अकबर तेरे ऊपर अधिकार प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं।"

१४ राव जयमल राठोड़ मेड़तिया, बदनोर

गीत

ऊँमत ऊऊरे चितोड़ जंपै, सूंछ मूं कर मेल ।
सुरतांण रा दल आज, तो सिर बिसर बांधे बेल ॥१॥

गण गांत गोलां गयण गाजै, पड़त लोहां पूर ।
भड़ ऊठ जैमल अनड़ भाखै, सीस बोटब सूर ॥२॥
खट मास विग्रह किया खंड खल, साम्कीया सेलार ।
वेखत या वढ़ण वेला, जाग अब जोधार ॥३॥
खाग पाण रायमल खेसे, पांख अक्बर पाय ।
जैमल जस तेथ जुग में, जैते कोट न जाय ॥४॥

(रचयिता :— अज्ञात)

भावार्थ :— चित्तौड़ का दुर्ग कहता है- हे जयमल, तूं अपनी मूछों पर ताव देकर खड़ा हो जा क्योंकि शत्रु-पक्ष के योद्धा (बादशाह) विजय -चिन्ह से सज्जित होकर आये हैं।

तोपों की भीषण गर्जना हो रही है और शस्त्रों से अनेकों योद्धा परस्पर आहत होकर धरती पर गिर रहे हैं। हे जयमल, चित्तौड़ का पर्वत तुझे पुकार कर कहता है कि :— तूं शत्रुओं के मस्तक काटकर उनको धराशायी करने के हेतु खड़ा हो जा।

निरन्तर छः मास से शत्रु, राणा की सेना को भाले आदि शस्त्रों से नष्ट कर रहे। अनेकों वीर धराशायी हो गये हैं। हे वीर जयमल, अब तूं शत्रुओं की सेना नष्ट करने हेतु जागृत हो जा।

हे जयमल, इस युद्ध में अकबर का साहस देखकर रायमल के समान योद्धा भी रण-भूमि से हट गये। इसलिये तूं युद्ध कर। क्यों कि जब तक चित्तौड़ का दुर्ग रहेगा तब तक तेरा यश अमर रहेगा।

१५ रावत पत्ता, आसेट
गीत (छोटा साणोर)

वढियो सुवेस पतो वाढालो, वंकियो सुरजन देख वढ ।
गढ़ चित्तौड़ गरब तण गरजै, गाडां गो रणथंभ गढ ॥१॥

जोय रणथंभ चित्रगढ़ जंपै, दल आयां सर बोल दियौ ।
सुरजन कलह छांड साचरियौं, कलह पते मोरेस कियौ ॥२॥

उरजन तणौ लसे ऊतरियो, सुत जगमल रहियौ सुधर ।
वेंहरौ हुऔ वेहूँ गढ़ विग्रह, हाडां अने हमीर हर ॥३॥

रू पर वार छांडगो सुरजन, वढे पतो रहियौ वर वीर ।
नीर दुरंग चढ़ियौ नगद्रहां, नाडूलां उतरियौ नीर ॥४॥

(रचयिता :– अज्ञात)

भावार्थ:– युवक वीर पत्ता चुण्डावत जख्मी होने पर भी वीरता से लड़ता रहा और हाड़ा सुर्जन घाव लगते ही भाग खड़ा हुआ। यह देख चित्तौड़ का किला गौरवान्वित हो कर गर्जता है और रणथंभोर का गढ़ लज्जित हो जाता है ॥ १ ॥

रणथंभोर के दुर्ग को देखकर चित्तौड़ कहता है–कि मेरे ऊपर जब जब शाही सेना आई तब पत्ताने शत्रुओं को सावधान कर युद्ध किया। किन्तु हे रणथंभोर, तेरे ऊपर सुर्जन युद्ध छोड़कर चला गया ॥ २ ॥

अर्जुन हाड़ा का पुत्र लज्जित होकर गढ़ से उतर गया और जगतसिंह का पुत्र युद्ध में स्थिर रहा। इसी प्रकार दोनों दुर्गों के बीच अर्थात हाड़ा और हम्मीरसिंह के वंशजों के प्रति परस्पर विवाद बढ़ गया ॥ ३ ॥

सुर्जन हाड़ा युद्ध काल में भीरू बन कर परिवार को त्याग रणथंभोर से चला गया। लेकिन वीर शिरोमणि पत्ता घावों से रक्तरंजित होकर भी युद्ध–भूमि में ही धराशाई हुआ। जिस से चित्तौड़गढ़ ने सिशोदियों के प्रति गौरव अनुभव किया और नाडुल स्वामी (हाड़ाओं) के प्रति रणथंभोर का गौरव नष्ट होगया ॥ ४ ॥

१६ रावत पत्ता चुण्डावत, आमेट

गीत (छोटा साणोर)

कहै पतसाह पता दो कूंची ।
भग पलच्यां न कीजे धोड़ ॥

गढ़पत कहै हमें गढ़ माहरौ ।
चुण्डा हरो न दये चीतौड़ ॥१॥

गोला नाल चत्रंग गढ़ गाजै ।
गाहे मीर साधीर घणौ ॥
जगा सुत नहँ दीये जीवंतां ।
तीजो लोचन प्रिथी तणौ ॥२॥

झटका झाड़ झाँझड़ां झाड़े ।
रखियौ दुरंग वढै रम राह ॥
ऊभा पते न चढ़ियौ अकबर ।
पड़िय पते चढ़यौ पतसाह ॥३॥

अकबर नूं अड़ चाड़ राणा नूं ।
मुगलां मारण कियो मतौ ॥
उदयासींघ राणा यम आखै ।
पलटी धरा जिण धणी पतौ ॥४॥

(रचयिता :— अज्ञात)

भावार्थ :— बादशाह कहता है कि— पत्ता ! मुझे चाबी दे दो। भूमि (का आधिपत्य) पलटने पर हठ न करो। लेकिन दुर्ग-स्वामी (पत्ता) कहता है कि अब तो गढ़ मेरा है और चुण्डावत, चित्तौड़ नहीं दे सकता ॥१॥

(तोपों के) गोलों से चित्तौड़गढ़ गर्ज रहा है (प्रतिध्वनित हो रहा है) सेनापति (मीर) बहुत धैर्य धारण किये हुए हैं। किन्तु पृथ्वी का तीसरा नेत्र, जग्गा का आत्मज (सुपुत्र पत्ता) जीते जी (दुर्ग) देने वाला नहीं है ॥२॥

धारावाही (तलवारों के) प्रहारों से योद्धा नष्ट हुए जा रहे हैं, (झड़ते) गिरते जारहे हैं। ऐसे विकट संघर्ष-समय में किले को शत्रुओं से बचा लिया। पत्ता के जीते जी (अकबर किले पर) न चढ़ सका, उसके (पत्ता के) वीर गति प्राप्त होने पर ही बादशाह (गढ़ पर) चढ़ सका ॥ ३ ॥

मुगल सेना ने राणा को मरवाने के लिये अकबर को उकसा कर सलाह की। (इस पर) उदयसिंह इस प्रकार कहता है-कि जिन नरेशों से भूमि पलट गई है, उसका स्वामी रूपी पत्ता सहायक बनता है।

१७ रावत जग्गा चुण्डावत, आमेट

गीत (वड़ा साणोर)

तिल तिल जुध हुओ खगां मुहं तूटे ।
चूण न सके दहु करां चंप ॥
रावत कमल काज सिव रचियो ।
सहसा उरजण तणो सरूप ॥ १ ॥

चिग चिग हुओ खाग धारां चढ़ ।
वरणियो जाय न क्रीतवर ॥
केलपुरा वाला सिर कारण ।
कीनां संभू हंजार कर ॥ २ ॥

रज रज हुओ जगो भरियो रज ।
मिलवा मुगत जणियो भेव ॥
समहर भ्रुगट लिपण दस संहसो ।
दस सौ करग वाधिया देव ॥ ३ ॥

सुत परताप वीरा टुकड़ा सिर ।
सुकरां गूंथी अजब सबी ॥
रुंड माल उर ऊपर रुद्राचै ।
फूलमाल अद्भूत फबी ॥ ४ ॥

(रचयिताः- पीरा आशिया)

भावार्थः- हे रावत ! युद्ध में तलवार की धार से तेरा सिर तिल २ होकर टूट पड़ा, जिसे एकत्रित करने के लिये शंकर को हजार हाथ वाले सहस्त्रार्जुन का रूप धारण करना पड़ा ॥ १ ॥

तेरा शरीर तलवार की धार से विच्छिन्न होकर गिरा है जिसके सुयश का मैं वर्णन नहीं कर सकता, हे केलपुरा (केलवाड़ा) के अधिपति सिशोदिया ! तेरे सिर की इच्छा से शंभू ने अपने हजार हाथ बनाये ॥ २ ॥

हे सिशोदिया जगतसिंह ! पूर्व ही तुझ को मुक्ति प्राप्त करने का भेद मालूम हुआ था जिससे तूं रणक्षेत्र में रज रज होकर रज में मिल गया था । उसी प्रकार हे दस सहस्त्र ग्रामाधीश (दस सहसा सिशोदिया), युद्ध-भूमि में तेरी वीरता को अवलोकन करते हुए तेरे सिर को लेने के लिये शिव ने हजार हाथ धारण किये ॥ ३ ॥

हे पत्ता के पुत्र जग्गा । तेरे सिरके टुकड़ों को शंकर ने अपने हाथों से एकत्रित कर एक अजीब तरह की पुष्प रूपी माला बना कर गले में धारण की और वह पुष्प माला उस रूण्ड-माल के ऊपर अलौकिक शोभा देने लगी ॥४॥

१८ परमार मालदेव

गीत (छोटा साणौर)

आयो पतसाह सोइज अन्न ईखे,
धू रहे लग जेते खत्र धोड़ ।

मालों ग्रह ग्रभवास मेटवा,
चढ़ियो वीग्रहियो चीत्तोड़ ॥ १ ॥

सांम सुछल सत्र दल सालू लिये,
वंघ वांछ तो स लाधी वार ।
आयो कोट संकटियां ऊपर,
पालण जो न संकट परमार ॥ २ ॥

पांचावत पर जाय पांमियै,
मझ गढ़ पेठो निभे मणो ।
रण खट मास खमे जाय रोहो,
ताप मेटण दस मास तणो ॥ ३ ॥

वीजुजलां वणा खल विहंडे,
घणो पराक्रम मछर घणो ।
माल मूओ वीजो भव मेटण,
तीजो लोचन ग्रथी तणो ॥ ४ ॥

(रचयिता :— पीरा आशिया)

भावार्थ :— हे मालदेव, जिस दिन वादशाह अकवर ने चित्तौड़ पर आक्रमण करने हेतु चढ़ाई की उस दिन तूं ने पुण्य-अवसर देख कर ध्रुव के समान अटल निश्चय कर इस संसार के आवागमन से मुक्त होने के लिये, रण-भूमि में तूं ने प्रवेश किया। इस प्रकार तूं ने क्षत्रिय कुल के यश को उज्जवल किया ॥ १ ॥

हे परमार, जिस समय शत्रु-सेना उमड़ कर युद्ध-भूमि में उपस्थित हुई उस समय हे सिंह के समान वीर, तुझे अपनी इच्छानुसार ही सुअवसर प्राप्त हुआ अर्थात् तूं ऐसे ही समय की प्रतिज्ञा करता

रहता था। हे वीर! पुनर्जन्म के कष्ट से वीर गति प्राप्त कर मुक्त होने के लिये चित्तौड़ दुर्ग की युद्ध जन्य आपत्ति के समय रण-भूमि में तू ने युद्ध किया ॥ २॥

हे पांचा के वंशज-(पंचमाल वंश) इसी दुर्ग को अपने पूर्वजों की वीर भूमि समझते हुए, तू ने निर्भीक हो, दुर्ग में प्रवेश किया। गर्भवास में दस माह के कष्ट से मुक्त होने के लिये छः मास तक, तू ने युद्ध भूमि के कष्ट को सहन किया ॥ ३ ॥

हे मालदेव तू ने क्रुद्ध होकर बड़े साहस से अनेकों शत्रुओं को तलवारों से नष्ट कर दिया। इस भूमि की रक्षा हेतु, पृथ्वी का तीसरा नेत्र होकर तू ने अपने पुनर्जन्म के कष्ट को मिटाया और धराशायी हुआ ॥ ४ ॥

१६ रावत गोविंद, चुण्डावत, बेगूं

गीत (छोटा साणोर)

पाखे भख गयण जोगिये पंखण, जलण होम वण रहियो जाइ।
ईशवर कंठा हूंत सयाणे, घट गोविन्द वंटिये घण घाई ॥१॥
रातल,अगन समल,पल, रहिया,हुये न कंठा गल शंकर हार।
रावत तणो तणो मुँह रूके, वप तल तल हुवो जुध वार ॥२॥
हुई न आसा, समल, हुँतासण, तवे न लूधे जट धर ताइ।
खंगार उत तणो मुँह खागे, घट रज रज पुहतो वण वाइ ॥३॥
करे अण दाह मंगल गृध कामियाँ, मुजड़े खपे सीसोद सर।
कमल धूणतो गयो कमाली, कमल अलाधे दोप कर ॥४॥

(रचयिता—अज्ञात)

भावार्थः- हे गोविंदसिंह। युद्ध में विशेष घावों से तेरा शरीर विभाजित हो गया, जिस से मान्साहार करने के लिये गिद्धनियाँ, जला

ने के लिये अग्नि और गले में मुण्डमाल धारण करने के लिये शंकर वंचित रह गये ॥ १ ॥

हे रावत ! तेरा शरीर युद्ध-समय तलवार के सामने तिल तिल हो गया, जिस से गृद्धनियाँ, चील्हें व अग्नि मांस रहित रहीं और शंकर को ग्रीवा बिना मुण्डमाला के ही रही ॥ २ ॥

हे खङ्गार के पुत्र, तेरा शरीर तलवार के प्रबल प्रहारों से रज रज हो चुका। इसी कारण से अग्नि और गृद्धनियाँ आशा-रहित हो गईं और शिव को ढूंढने पर भी तेरा सिर न मिला ॥ ३ ॥

हे सिशोदिया, तेरा सिर और शरीर तलवार से जर्जरित हो जाने से शंकर को तेरा मस्तक प्राप्त नहीं हुआ। अतः सिर हिलाते हुए निराश हो गये और इसी प्रकार अग्नि एवं गृद्धनियाँ भी मांस न पाने से निराश हो चलीं ॥ ४ ॥

२० 'राठोड़ रामदास' मेड़तिया

गीत (छोटा साणौर)

शशि थाइस तप थाइ सूरिज शितल,
तजे महोदधि वारि तुरंग ।
मृत भै रामदास रण मेले,
गमण पछम दिशि मंडे गंग ॥१॥
जले चन्द्र शिलो थाई जग चख,
रेणायर सां शतो रहे ।
जयमाल उत जाइ छांड़े जुध,
वेणी जल उपराठ वहे ॥ २ ॥
आतश इन्दु अरक ताढ़िम अंग,
सायर छंडे लहरि सुवाह ।

पह मेड़ता चले पारोठो,
प मुंहे वहे सुर सरि प्रवाह ॥३॥
सोम सुर सामँद्र प्रता सुध,
अघट सुभाव दाखवे अंग ।
राम कियो मृत शामि धरम रसि,
पुनि तोया मिलि पूव प्रसंग ॥४॥

(रचयिता :— अज्ञात)

भावार्थ :- हे राठोड़ रामदास, तूँ यदि मृत्यु के भय से युद्ध-स्थल को छोड़ कर चला जाय तो चन्द्रमां तीक्ष्ण किरणें और सूर्य्य-शीतलता धारण कर लेता है तथा समुद्र स्थिर हो जाता है एवं गंगा का प्रवाह पश्चिम की ओर मुड़ जाता है ॥ १ ॥

हे जयमल के पुत्र, यदि तूँ युद्ध-स्थल को त्याग कर विमुख हो जाता है तो चन्द्रमां प्रज्वलित होने, सूर्य्य शीतलता प्रदान करने तथा समुद्र अपनी सुन्दर ऊर्मियाँ छोड़ देता है एवं गंगा के जल का प्रवाह विपरीत दिशा में होने लग जाता है ॥ २ ॥

हे मेड़ता नरेश, तूं रणांगण में शत्रुओं को पीठ दिखाकर युद्ध-भूमि से प्रयाण करता है तो, उस समय चन्द्रमां तेज को धारण कर लेता है और सूर्य शिथिल-प्रकृति-वन जाता है। समुद्र लहरें रहित होकर गंगा उलटी वहने लग जाती है ॥ ३ ॥

टिप्पणी:—वि० सं० १६३३ ई० सन् १५७६ में मेवाड़ के महाराणा प्रतापसिंह के ऊपर आमेर (जयपुर) के राजा मानसिंह के सेनापतित्व में दिल्ली के बादशाह की सेना ने चढ़ाई की और हल्दी-घाटी के मैदान में प्रसिद्ध युद्ध हुआ; तब राठौड़ जयमल के पुत्र रामदास ने युद्ध में अपना पराक्रम प्रदर्शित किया; उसी का इस गीत में वर्णन किया गया है।

कवि वर्णन करता है—रामदास अपने पूर्वजों की भांति स्वमी धर्म का निर्वाह करने हेतु युद्ध में शौर्य दिखाता हुआ वीर गति को प्राप्त हुआ। चन्द्रमां, सूर्य, समुद्र और गंगा आदि अपनी विपरीत गति त्याग कर पूर्व स्थिति में आगये। अर्थात चन्द्रमां पुनः शीतल किरणों को धारण करने लगा, सूर्य तेजस्वी होगया, समुद्र में लहरें प्रवाहित होने लग गई और गंगा का प्रवाह पुनः पूर्व में होने लगा ॥४॥

२१ चुण्डावत नरू और जैत्रसिंह

गीत (छोटा साचमड़ा)

उलटा दल आय लगे उँहटाला ।
सूर नरू भड़ जेत संधाला ॥
रैणां राण तणी रखवाला ।
कवल वाराह पड़ँ जहाँ काला ॥१॥

खैंग रूत उनागै खागे ।
भडतां के कायर नर भागै ॥
लड़ लोहां रहिया विप लागै ।
वध वध वीर असी विध वागै ॥२॥

सा दलपता जिमसता कर साका ।
कमा नरू संग दुदस काका ॥
वसुधा अमर करे जस साका ।
सोहड़ राण रा पड़ै सराका ॥३॥

काका सहित जेत कसनाणी ।
आवध सैन हणै असुराणी ॥

यश पर ईला राण घर आणी ।
चूरे दल रहियो चुंडाणी ॥४॥

(रचयिताः- अज्ञात)

भावार्थः- ऊंठाला (वल्लभनगर) पर शत्रु सेना आक्रमण करने के लिये उमड़ आई, राणा की इस भूमि की रक्षार्थ काल पुरुष व शूकर-स्वरूपी वीर नरू और जैत्रसिंह ने अपना पड़ाव डाला ॥ १ ॥

नग्गी तलवार लिये घोड़े को युद्धः स्थल में दौड़ते हुए देखकर भिड़ते हुए कितने ही कायर पुरुष रणांगण से भाग गये और जो वीर युद्ध-भूमि से पीछे नहीं हटे उन्हें वीर नरू और जैत्रसिंह ने बढ़-बढ़ कर तलवारों द्वारा जख्मी कर दिया ॥ २ ॥

राणा के योद्धा सरदारसिंह, प्रतापसिंह, कमा, नरू और साथ में दूदा जैसे काका सहित पत्ता चुण्डावत के स्वरूप युद्ध कर सामान्य रूप में धराशायी हुए और इस युद्ध के विजय-यश को पृथ्वी पर चिरायु किया ॥ ३ ॥

किशनावत जैत्रसिंह और इसके काका ने मुगल सेना को शस्त्रों से नष्ट कर महाराणा का अपनी भूमि पर पुनः अधिकार करवाया। वीर चुण्डावत शत्रु-दल का दलन करता हुआ वीर गति को प्राप्त हुआ ॥ ४ ॥

२२ वीर चुण्डा के वंशजों की युद्ध सेवाएँ

गीत (छोटा साणोर)

चंद नाम किया भीखम काय चूण्डे,
भड़ रतन सी मुओ भाराथ ।
कांधल मूलां सीस काटिया,
राखे विरद जके रघुनाथ ॥१॥

मेरो चाचो पई मथा रै,

राघव दे जीता रण – वार ।

मुओ, कलू, चीत हरमाड़ै,

सूरौ कसन करारे सार ॥२॥

रायां सींघ, रामचंद, रतनो,

आग, करमसी, जैमल, पाल ।

लीओ, मान, खेतसी, लखमण,

लाडखान, वेणौ, लंकाल ॥३॥

सांइये, सोढ, कियो गढ साकौ,

दूजे, सते, पते, दोय वार ।

फौजां सीस, कमौ, फर हरियौ,

खेत धणाह जीतो खंगार ॥४॥

कसने, नाम कियौ चहुँ कूटे,

सामल, फरशे, कमै, सधीर ।

आगल, मान, नरू, ऊंटहला,

जैत, मुओ कटक जहांगीर ॥५॥

सिंघ, जगौ, गोविंद, चढ़ सारै,

पीथो, दूदो, अचल पहाड़ ।

सात वरस विग्रह सीसोदां,

मान, मेध, आणी मेवाड़ ॥६॥

करन, पंचायण, गोकल केशव,
नारायण, हामो, नरख ।
नग, जूझार, खेमसी, नरसी,
विने, हरि, रहिया विलख ॥७॥
केवल भगु, करमसी, कचरो,
आसो, खानो, लखां अमूल ।
अचलो, वसनो, दूदो, आयो,
डूँगरसिंह, सखर, सादूल ॥८॥
राणा चाढ़ बांकड़ा रावत,
खत्रवट कांहि न लागै खोट ।
परियां तणां प्रवाड़ा पूरत,
क्रोट तुहाल बाथा कोट ॥९॥

(रचयिता :— अज्ञात)

भावार्थः— वीर रतनसिंह, भीखम और चुण्डा ने कितने ही युद्ध विजय कर अपने नाम और यश को फैलाया, और अन्त में युद्ध–द्वारा ही धराशायी हुए। कांधल, मूलराज और रघुनाथ ने शत्रुओं के सिर काट कर अपने कुल की मर्यादा रक्खी ॥ १ ॥

राणा मोकल के शत्रु मेरा व चाचा को पई कोटड़ा (पहाड़ी स्थल) पर राघव देव ने मार कर विजय प्राप्त की। शूर वीर किशनसिंह और कल्लू ने तलवार की ताकत से हरमाड़ के युद्ध स्थल में वीर गति प्राप्त की ॥ १ ॥

रायसिंह, रामचन्द्र, रतनसिंह, प्राग करमसिंह, जयमल, लीवा मानसिंह, खेतसिंह, रावत लक्ष्मण, लाड खान और वैरसिंह तुल्य शत्रुओं को रणांगण में नष्ट करते हुए धराशायी हुए ॥ ३ ॥

सलूम्बर का स्वामी साईदास सोढ़ा ने चित्तौड़ पर महाराणा उदयसिंह के समय अकबर की शाही सेना से युद्ध कर वीर गति प्राप्त की। उसी तरह दूसरे सत्ता और पत्ता ने दो बार शत्रुओं से सामना कर उन्हें परास्त किया। रावत कम्मा ने भी दुश्मनों के ऊपर विजय-ध्वज लहराया तथा खङ्गार ने बहुत से युद्ध स्थल विजय किए ॥ ४ ॥

किशनसिंह, सांवलदास कम्मा, परसराम आदि ने युद्ध में धैर्य रख चारों दिशाओं में अपने नाम अमर कर दिये। मानसिंह, नरू, जैत्रसिंह राणा की सेना के अग्र भाग में रह कर जहाँगीर की सेना से सामनः कर रणांगण में काम आये ॥ ५ ॥

वीर रावतसिंघा, जग्गा, गोविंदसिंह, पीथा, दूदा, अचलदास व पहाड़सिंह ने तलवार के सामने जाकर घावों से परिपूरित होकर वीर गति प्राप्त की। उसी तरह मानसिंह, बेंगू के रावत मेघसिंह ने मेवाड़ से शत्रुओं के ७ वर्ष के अधिकार को हटा कर देश को महाराणा के अधिकार में किया ॥ ६ ॥

करन, पंचायण, मोकल, नारायण और हामा ने भी संसार में अपनी युद्ध विजय चिरायु कर दी। नगराज ने चित्तौड़ पर हाड़ी राणी के लिये युद्ध में शत्रुओं से लोहा लेकर वीर गति पाई। जूंझारसिंह, रत्नसिंह, नरसिंह, वना और हरिदास आदि बलख के युद्ध में धराशायी हुए ॥ ७ ॥

केवलदास, भगू करमसी, कचरा, आशा और खाना, इन वीरों ने शत्रुओं को निर्मूल कर दिया। अचलसिंह, विशनसिंह, दूदा, डूँगरसिंह, शार्दूलसिंह आदि चित्तौड़ दुर्ग पर हाड़ी करमेती के लिये होने वाले युद्ध में भली प्रकार लड़ कर धराशायी हुए ॥ ८ ॥

हे राणा! ऐसे बांके शूर-वीर रावतों ने शत्रुओं से सामना कर क्षात्र कुल के गौरव की कमी नहीं रक्खी और अपने पूर्वजों के समान तेरे सभी देश-दुर्गों की रक्षार्थ स्वयं दुर्ग बन कर (उनकी) रक्षा की ॥ ९ ॥

२३ रावत अचलदास शक्तावत, बानसी

गीत (सैलार)

पति साह हरम पुकारे रे ।
मेवाड़ो अचलो मारे रे ॥
जगि खेतल मोकल जेहा रे ।
अगा लग राणा एहा रे ॥
चित्तौड़ दलीपत चढ़िया रे ।
गहरे सुर बाजित्र गुड़िया रे ॥
जुड़ेवा कजि सकते जाया रे ।
ऊपरि ऊंठहला आया रे ॥ १ ॥

तर वारि कुबाणां तीरां रे ।
मातो झड़ मीर हमीरां रे ॥
गुरजां बोह वाणी गोली रे ।
हुबिया डंडेहड़ होली रे ॥
लाथो ल नत्था लागा रे ।
आहुड़िया मंगला आगा रे ॥
खरां दम लाग पिया घेरे रे ।
खेसवियां अचले खागे रे ॥ २ ॥

दूर वेस पगां तल दीधा रे ।
लोहां बलि एता लीधा रे ॥
जोधार महा भड़ जूटे रे ।
फिर आकिर पटाभर फूटे रे ॥

धवि प्रविया रवते धारे रे ।
विविया कहै गौरव वारे रे ॥
हलकार अरीगढ़ हाकारे रे ।
धविया करि कूंत धसा कारे रे ॥ ३ ॥

(रचयिता :— अज्ञात)

भावार्थ :— भयातुर बेगमें कहने लगी कि— "हे बादशाह ! मेवाड़ का अचलदास मार रहा है।" इसके पूर्वज राणा खेतसिंह व मोकलसिंह जैसे वीर पहले से होते आये हैं। यह योद्धा भी वैसा ही है। दिल्लीपति ने जब चित्तौड़ पर आक्रमण किया तब रण-वाद्य बजाता हुआ शक्तावत का यह पुत्र अचलदास ऊंठाला (वल्लभ नगर) में युद्ध करने के लिये आया ॥ १ ॥

बेगमें कहती हैं कि तलवार और तीरों से राणा हमीर के वंशज एवं मुगलों के मध्य घमासान युद्ध होरहा है। गुर्जों, तीरों एवं बहुधा बन्दूकों की गोलियों की बौछार और होली की "गैर" की तरह स्फूर्ति से वीर तलवारों द्वारा युद्ध कर रहे हैं। सामंतों ने मुगल सेना को घेर लिया और अचलदास अपनी तलवार से हमारे सैनिकों को पीछे धकेल रहा है। इसलिये हे बादशाह ! अब अपने स्थान पर चले चलिये ॥ २ ॥

हे बादशाह ! दर्वेश (मुगल साधु), सैनिकों को मार कर, धरती पर गिरा कर बलि चढ़ा रहे हैं। क्षत्रिय योद्धा अचल दास झूम झूम कर

टिप्पणी:—१-अचल दास, महाराणा उदय सिंह के छोटे पुत्र शक्तिसिंह का बेटा था । महाराणा अमर सिंह (प्रथम) के समय दिल्ली की मुगल सेना के साथ चित्तौड़ गढ, मांडलगढ़ के युद्ध में इन्होंने भाग लिया और मारे गये । बानसी ठिकाने के रावत इनके वंशज हैं ।

इस गीत में अचल दास की वीरता का वर्णन है ।

हाथियों को तीर और भालों से छेद कर नष्ट कर रहा है। बेगमें पुकार-पुकार कर कह रही हैं कि हे बादशाह! शत्रुओं ने अनेकों सैनिकों को शस्त्र से आहत कर धराशायी कर दिया है और ऊपर से हमें चुनौति दे रहे हैं ॥ ३ ॥

२४ रावत अचल दास शक्तावत, बानसी

गीत (बड़ा साणोर)

पलटि सार धारां मुहे मांडि रिण पाथरे।
अतुल बल अचल निय वंस उजाले ॥
देस विच अट किया कटक दुर वेस चा।
काढ़िया वाढ़िये गाढ़ काले ॥१॥

वाढि केवांण मुहि काटि जु जुवटां।
सामि चे काम घण थट समेला ॥
अड़े रहिया प्रिसण जड़े थाणो इला।
भड़ अनड़ किया गयणाग भेला ॥२॥

सूर सीसोदियाँ नूर वधियों सु वँस।
पाथरे सार धारां प्रहारे ॥
उसर चढ़िया जिता चूर कीधा अलगा।
हालिया थिया घर सरम हारे ॥३॥

(रचयिता :— अज्ञात)

भावार्थः- हे वीर अचलदास तू ने दरवेश साधुओं से युद्धारंभ कर तलवार के सामने उनका अभिमान नष्ट कर दिया और अपने कुल को उज्ज्वल कर दिया है। दरवेश साधुओं की सेना का पड़ाव मेवाड़ भूमि में पड़ा था उनको काल के समान क्रुद्ध हो रक्त रंजित कर भगा दिया।

हे वीर ! तूंने सैन्य-समूह के साथ अपने स्वामी के लिये तलवारों के घाव लगाकर शत्रुओं को इधर उधर कर दिया। मेवाड़ भूमि पर दर्वेश साधुओं ने संगठन कर हठ पूर्वक पड़ाव डाल रक्खा था उन्हें तूंने नष्ट कर दिया।

हे सिशोदिया वीर ! तैंने अर्जुन के समान शत्रुओं पर तलवार से वार कर अपने वंश के गौरव को अधिक बढ़ाया है। जितने शत्रु तेरे सामने आये; उनको तूंने छिन्न भिन्न कर इधर उधर भगा दिया, तेरे पक्ष के भीरु सैनिक लज्जित हो कर घर लौट गये।

२५ रावत अचल दास शक्तावत, वानसी

गीत (छोटा साणौर)

भक्त भखते पंखण किसैं गुण भूखी ।
रिण रड़वड़ती थकी रुगे ॥
बगतर सहित अरीचा बटका ।
चांच न वैसे केम चुगे ॥ १ ॥

अरि दल़ समर भाँजिया अचल़े ।
वांहले़ करंता वाहि वल़ ॥
सत्र पापड़ां खापड़ां सहेती ।
ग्रीधण केम लेयवे गल़ ॥ २ ॥

वेर वराह विजावत विढते ।
सत्र काटिया सनाह समेत ॥
भटका करै दायणी भूखी ।
खायण ते नावे रण खेत ॥ ३ ॥

मरद जरद सहेतां मूंछाणा ।
बाढ करारे तेग वही ॥
सीसोदिया तुहारे समहरे ।
गतल अण जीमिये रही ॥ ४ ॥

(रचयिता:—अज्ञात)

भावार्थ:—हे अचल दास ! तेरे युद्ध में गिद्धनियाँ भूखी रह कर क्यों भटक रही हैं ? तैंने शत्रुओं के बख्तर सहित टुकड़े कर दिये। मांसा हारी पक्षियों की चोंचें चुगा नहीं खा पातीं । अतः वे निराश हो कर निहार रही हैं ।

हे अचल दास ! तूंने अपने बाहुबल से प्रहार कर शत्रुओं की भुजाएँ बख्तर सहित काट डाली हैं । इसलिये गिद्धनियाँ उन भुजाओं के मांस का किस प्रकार भक्षण कर सकती हैं ? ।

हे वीजा के पुत्र ! अपना प्रतिशोध लेने हेतु तूंने शत्रुओं के बख्तर सहित टुकड़े कर दिये हैं, जिससे क्षुधातुर गिद्धनियाँ इधर उधर डोल रही हैं । किन्तु वे रण क्षेत्र में आहार नहीं कर पाती ।

हे सिशोदिया ! बख्तर धारी वीरों के तेरे प्रबल खड्ग प्रहार से कवच सहित टुकड़े २ हो गये । इसलिये रण क्षेत्र में गिद्धनियाँ आहार के अभाव में क्षुधित ही रहीं ।

२६ रावत नारायणदास शक्तावत १

गीत (छोटा साणौर)

ऊधरिया माल बलू जोधे अति ।
जस देउल अचलै अगजीत ॥
कलू हरिण सूं कीतियां कैल पुरो ।
चाढै साह नरां वड़ चीत ॥ १ ॥

सकताउत सू मित सम भरिया ।
विसव सिसि सूर हय वयरण ॥
आगा भंगल्यां गाडन अचलाउत ।
रूप चढ़ावै नर रयण ॥ २ ॥

घड़ पति साह सरिस चाढ़ि घाण ।
विघन प्रसाद कियां खत्र वाट ॥
अजुवालै अतुली बल आंचां ।
कलि जुग नाम न लागै काट ॥ ३ ॥

समर समाथ लाख पाखर सम ।
प्रकट पराक्रम चंद प्रहास ॥
रज वीटियां तपै गयो गुर ।
जगि उजलो खत्री कुल जास ॥ ४ ॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थ:- हे सिशोदिया नारायणदास ! सभी युद्धों में विजय प्राप्त कर तू ने अपने पूर्वज मालदेव और वल्लू जैसे वीरों के यश रूपी देवालय का जीर्णोद्धार कर दिया ! पूर्वजों के गौरव की सभी परंपराओं का स्मरण रखते हुए तू ने विजय-यश प्राप्त किया ।

टिप्पणी:—१ नारायणदास महाराणा उदयसिंह का प्रपौत्र और शक्तिसिंह का पौत्र था तथा अचलदास का पुत्र था । महाराणा अमरसिंह के समय होने वाले युद्धों में यह मुगल सेना के साथ रहा और सगर (महाराणा उदयसिंह का छोटा पुत्र) का हिमायती था । इसने वेगूं की जागीर पाई थी । शाही सेना में रह कर इसने कई युद्धों में वीरता प्रदर्शित की । जिस की कुछ कवियों ने प्रशंसा की है- उन्हीं में से यह एक है । बादशाह की ओर से इसको भिणाय की जागीर दी गई थी ।

हे शक्तावत ! तेरे पूर्वजों ने युद्ध भूमि में सदा ही अपने वचनों का सूर्य, शंकर, विष्णु और चंद्रमा के समान दृढ़ता से पालन किया है। हे अचलदास के पुत्र ! तूं किसी से भी पराजित नहीं हुआ और तूंने अपने कुल-गौरव को अधिक बढ़ा दिया।

हे वीर योद्धा ! बादशाह की सेना के सम्मुख आगे बढ़ कर क्षत्रिय कुल की मर्यादा पुनः स्थापित की। इस प्रकार तूंने अपने गौरव को कलियुग रूपी जंग (लोहे का मैल) से दूर रख प्रखर कर दिया है।

हे योद्धाओं में सर्व श्रेष्ठ, वख्तर धारण करने वाले योद्धा ! तूं प्रचण्ड बलवान और तलवार चलाने में प्रवीण है। हे सर्वश्रेष्ठ राजा ! तूं क्षत्रिय कुल गौरव से परिपूर्ण रहता है; इस लिये दीर्घायु रह जिससे, क्षत्रिय कुल का गौरव संसार में अनंत काल तक रहे।

२७ शक्तावत केशव दास

गीत (सिंह चला)

बली भाजिगा बल् बंधणो बेली ।
भार थयां भुज सारी ॥
काढी भाण तणौ गज केहर ।
केसव दास कटारी ॥ १ ॥

विषमी वार खड़ग भड़ वाजे ।
इसड़ी वहै अटारी ॥
माथौ धरण गयां मेवाड़ै ।
मोने रणी संभारी ॥ २ ॥

विरुद अगार अस नमैं बल् भद्र,
रिण रहि अचल् रहा ही ॥

वदिये कमल पछैं वाढ़ाली ।
वंत्रूदै गवत वाही ॥ ३ ॥

सामल सूर जहाँ सांगाहर ।
सांची पैंज सम्हाली ॥
रूधे दुसमण रे उर रोपी ।
पूचालै मन माली ॥ ४ ॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थः—वीर पुरुषों को युद्ध भूमि में बढ़ते हुए देख कर केशव दास के सहायक बहादुरों ने युद्ध भूमि छोड़ दी। भाण-पुत्र केशवदास ने सिंह के समान हाथी-रूपी क्षेत्र पर आक्रमण करने के लिये क्रुद्ध होकर अपने पास से कटारी निकाली ॥ १ ॥

भयंकर युद्ध की गति में तलवारों की बौछारें हो रही थीं, उस समय वीर सिशोदिया ने अपने सिर के कट कर गिरने के बाद स्वर्णिम कटारी निकाली ॥ २ ॥

दूसरे वीर वलभद्र के समान युद्ध भूमि में अडिग रहकर तूने अपने कुल-उज्जलता की सीमा कर दी है। बांके वीर रावत, तूने अपने सिर कटने के पश्चात् भी शत्रु के सिर में कटारी का वार किया ॥३॥

वीर सामल दास, सूरज मल जैसे हैं सांगाके पौत्र, युद्ध में सावधानी पूर्वक खड़ा रह कर भुजवल से शत्रु-हृदय में कटारी का वार किया ॥४॥

२८ शक्तावत प्रताप सिंह

गीत (वड़ा सावझड़ा)

धमस वाज ऐराकियाँ अरावां धड़ हड़ै ।
कावली हू ह गे जूह चड़िया कड़ै ॥

आज मैदान पतिसाह दोय आथड़ै ।
पातला ऊपरै फूल धारां पड़ै ॥ १ ॥
वेवड़ा, चौवड़ा, वेध पड़ वावरां ।
ऑफड़ां फड़ा तूटै छड़ां असम्मरां ॥
चौसरां थरां आडंबरां चम्मरां ।
नरां रै ऊपरै आम फाटो नरां ॥ २ ॥
खल पल खेचरां वीर नावद खलें ।
ऊपरा ऊपरी गैहलां ऊथलें ॥
चाय गुरु अचल दादो तको का मचूचले ।
पतसाही कटक रूधियों पातले ॥ ३ ॥
राण राजड़ तणै मार कै रावत ।
अह लेके वलू रे अने अचालावते ॥
मरण वालं लियो जरद अण मावते ।
सीलियों आवगों भार सगतावतते ॥ ४ ॥

(रचयिता :— अज्ञात)

भावार्थ:—तोप तलवार चलने की धड़ धड़ा हट होते ही काबुल वासी यवन वीर हुँक्कार करते हुए गजा रोही हो युद्धार्थ चढ़ाई करने लगे। युद्ध में आज बादशाह और प्रतापसिंह भिड़ने लगे । प्रताप सिंह पर पैनी तलवार का वार होने लगा ।

दोहरी-चौहरी बाबर खानदान के साथ होने वाली शत्रुता से झगड़ा बढ़ा । शत्रुओं के तलवार और भालों के प्रहार से वीरों की अंतड़ियाँ बाहर पड़ने लगीं । यह आक्रमण ऐसा भयंकर था मानों आकाश टूट पड़ा हो। मुगल बादशाह पर उस समय शाही आडंबर से चँवर ढुल रहे थे ।

(शत्रुदल के) ढालों सहित योद्धा एवं हाथी एक दूसरे पर गिरने लगे जिन्हें भक्षण करने प्रेतादि वीर एवं पक्षी उमड़ पड़े। नारद नृत्य करने लगे। अचलदासोत पत्ता क्या कभी दब सकता है ? उसने शाही सेना को रौंद कर रोक दिया।

राणा राजसिंह के सामंत वल्लू, अचलदास के वंशज ने (पत्ता ने) युद्धोत्साह से फूले न समाते हुए बदन पर कवच पहना और शत्रुओं का बदला चुकाने का भार अपने कंधों पर उठा विपक्षियों का चुकारा (सफाया) किया।

२६ शक्तावत करमसिंह और खेंगार

गीत (बड़ा सावझड़ा)

प्रथम वोल परियां तणा तेज सुध पालिया ।
आज रा गैण लग कूंत उलालिया ॥
वांकड़े भाण रे वलु, रे वालिया ।
उरां ऊपरी खेंग ओतोलिया ॥१॥

धीर पामे नहीं तेग ऊँची धरे ।
कने धमरोलिया मीर तोबा करे ॥
तूर जांगी घूर वोम लागा तरे ।
ऊडिया वूर खंगार सिर ऊपरे ॥२॥

वाढिया लड़थड़े घड़े धड़ दोवला ।
गांथला लीजिये वावला गोकलां ॥
भाइयां विहूँ भुज भार सा हुए भला ।
माडा तणै घाय मरड़के मैंगलां ॥३॥

राखियाँ रूप मंडारे रावते ।
चापड़े थापड़े तुरी चलाउते ॥
ईहगां थयो उदमाद घर आवते ।
साहिजां तणी जीत मगताउते ॥४॥

(रचयिता :— अज्ञात)

हे भाण के पुत्र वल्लू ! तू ने शीघ्र ही आकाश की ओर भाले उठा कर पूर्वजों के गौरव का निर्वाह किया है और शत्रुओं के सामने घोड़ों को बढ़ा कर अपना नाम विख्यात कर दिया है।

हे करमसिंह ! तू ने मुगलों को घायल कर तोबा-तोबा कहलवा दिया और तलवार को कभी भी खूंटी पर विश्राम और शांति नहीं दी। युद्ध के समय रण वाद्य की ध्वनि से आकाश गूंज उठा और उसी समय वीर खेंगार का मस्तक भी शस्त्र से कट कर भूमि पर गिर पड़ा।

हे गोकुलसिंह ! सिंह की भाँति तू ने शौर्य का प्रदर्शन किया जिस से धड़ से कटे हुए अङ्ग चारों ओर लटक रहे हैं। भाइयों ने अपनी दोनों भुजाओं पर युद्ध भार धारण कर 'माड़ा' स्थान के हाथियों को शस्त्र द्वारा आहत कर धराशायी कर दिया है।

हे मेडा के स्वामी शक्तावत, तू ने शत्रुओं के सामने बढ़ कर वीरत्त्व का रूप दर्शाया और बादशाह को पराजित कर, विजय प्राप्त की। जिस से कवियों के घर २ में उत्सुकता से यशोगान गाये जाने लगे।

टिप्पणी:—ये दोनों भाई थे और महाराणा उदयसिंह के छोटे पुत्र शक्तिसिंह के पौत्र थे। महाराणा अमर सिंह (प्रथम) के समय ऊँठाला (वल्लभ नगर) दुर्ग के मुगल प्रतिनिधि कायम खाँ के साथ युद्ध हुआ। जिसमें वल्लू सिंह ने दुर्ग द्वार के किंवाड़ों में लगे भालों के साथ अपने को सटा कर हाथी द्वारा आक्रमण करवाया; जिससे किंवाड़ तो टूट गये परन्तु वल्लू सिंह भालों से छिद गये और वीर गति प्राप्त की। इसी प्रकार करम सिंह और खेंगार ने भी उक्त महाराणा के समय हुए युद्धों में वीरता पूर्वक भाग लिया। इस गीत में दोनों की वीरता का वर्णन है।

३० राजा भीमसिंह सिशोदिया, टोड़ा [१]

गीत (छोटा साणोर)

जुग चार हुआ मो भारत जोतां,
अरक कहै ऐ वात अथाह।
भीम तणां भांजे धड़ भवसां,
माथौ साबा से रण मांह ॥ १ ॥

सीसोदिया तणौ सूरा पण,
भाण गयण पति साख भरै।
दल अफड़े दलां दुहुं दुजड़ी,
कमल कल्है वाखाण करे ॥ २ ॥

विढतौ भीम साथियां वधतौ,
साखी सूर उडं ते सास।
धड़ पड़ियो धड़चै अरि धारां,
सिर पड़ियौ आखै साबास ॥ ३ ॥

ये वातां अखियात अमरावत,
कैरव---पांडवां जेम कर।
पड़तो धड़ पाड़तौ पंचाहर,
सिव वींधियो बोलतौ सिर ॥ ४ ॥

(रचयिता:- कल्याणदास, महड़ू)

टिप्पणीं:- १. यह प्रसिद्ध महाराणा प्रतापसिंह का पौत्र और महाराणा अमरसिंह (प्रथम) का छोटा पुत्र था। महाराणा प्रताप के स्वर्गारोहण के पश्चात भी महाराणा अमरसिंह ने दिल्ली की मुगल सल्तनत से निरन्तर लोहा लिया और छोटे-बड़े सतरह युद्ध किये। जिनमे कुछ चढाइयां तो भीषण रही। इस समय बादशाह अकबर का

भावार्थ:- सूर्य कहता है कि मुझे युद्ध देखते देखते चार युग हो गये हैं किंतु इस युद्ध की बात अनोखी ही है। युद्ध क्षेत्र में भीमसिंह का धड़ धराशायी हुआ है और सिर उत्साहित होकर बोल रहा है।

आकाश का स्वामी सूर्य सिशोदिया की वीरता की साक्षी देता हुआ कहता है कि कबंध दोनों सेनाओं के बीच में लड़ता हुआ तलवार से कट गया किंतु उसका सिर उसकी प्रशंसा कर रहा है।

देहांत हो चुका था और नुरुद्दीन जहांगीर दिल्ली के तख्त पर आसीन था। अपने अपने पिताओं के कृत संकल्प को पूरा करने के लिये जहांगीर और अमरसिंह के बीच दांव-पेच चल रहे थे, जिसमें उपरोक्त भीमसिंह ने कई बार शत्रु सेना के ऊपर शौर्य स्थापित किया था। वि० सं० १६७१ (ई० स० १५७४) में मेवाड़ और दिल्ली दरबार के बीच संधि होगई। महाराणा अमरसिंह का ज्येष्ठ महाराज कुमार कर्णसिंह, शाहज़ादा खुर्रम के साथ अजमेर के मकाम शाही दरबार में जाकर बादशाह पास पहुँचा। इसके बाद महाराणाओं के एक सहस्र सवार जमीयत के रूप में दक्षिण में रहने लगे और महाराणा के बड़े बड़े उमरावों, सरदारों, भाइयों तथा राजकुमारों का शाही दर्बार में आमोदरफ्त होने लगा। अपने वीरता पूर्ण कार्यों के कारण उपरोक्त भीमसिंह की शाही दर्बार में अच्छी पहुच हो कर उसने मेड़ता का इलाका जागीर में पाया। वह राजा-उपाधि प्राप्त कर पांच हजारी मंसबदार बन गया, तथा वह शाहजादा खुर्रम का तो अत्यन्त ही विश्वास पात्र होगया। तदनन्तर राजा भीमसिंह को टोंक-टोडा आदि परगने उपलब्ध हुए। बादशाह जहाँगीर के पिछले समय मे नूरजहाँ बेगम के बहकाने में आकर बादशाह खुर्रम से अप्रसन्न होगया तथा उसको सजा देने के लिये शाही सेना रवाना हुई। खुर्रम के पक्ष पर वीर भीमसिंह शाही सेना से, जिसका सेनापति शाहजादा परवेज था और महरबतखाँ, मिली राजा जयसिंह तथा राजा राजसिंह आदि कितने ही वीर साथ थे, भिड़ गया वि० सं० १६८१ कार्तिक शुक्ला १५ को बनारस के समीप टोंस नदी के किनारे हाजीपुर के पास शाहजादा परवेज तथा भीमसिंह की सैना से भयंकर युद्ध हुआ प्रबंबवेग से तलवार चलाते हुए भीमसिंह ने शत्रु सैन्य को विचलित कर दिया। शाही सेना के पैर उठ गये ही थे कि भीमसिंह जोधपुर के राजा गजसिंह से उलझ पड़ा और टुकड़े टुकड़े होकर रणक्षेत्र में कट पड़ा। उसके साथी शक्तावत मानसिंह, गोकुलदास आदि बहुत से वीर मारे गये तथा आहत हुए। भीमसिंह के संबंध के गीतों में इसी विषय का विस्तृत वर्णन है।

भीमसिंह कटते २ भी अपने साथियों से आगे बढ़ गया, उसके उड़ते हुए (टूटते हुए) श्वासों की साक्षी सूर्य दे रहा है। उसका धड़ शत्रुओं की (आहूँगे) धार द्वारा छिल-छिल (कट-कट) कर पड़ गया है और उसका सिर पड़ा पड़ा भी उसे शाबासी दे रहा है।

तेरे भिड़ते हुए धड़ ने भी पांच हजार शत्रुओं को धराशाई कर दिया और तेरे बोलते सिर को शिव ने अपनी मुण्ड माला में पिरो लिया। हे अमरसिंह! तू ने अपना यश कौरव-पांडवों की भाँति अमर कर दिया है।

२१. राजा भीमसिंह सिशोदिया टोड़ा

गीत

अंग लगै वाण जूजुआ उड़ै ।
गैं गाजै वाजै गुरज ॥
भाजै नहँ दली दल भड़तां ।
भीमड़ा हणमत तणा भुज ॥ १ ॥

त्रुट पड़ै ऊधड़ै बगतर ।
चौधारां धारां खग चोट ॥
ओट होय मंडियो अमरावत ।
कालो पड़ै न मैमत कोट ॥ १ ॥

गोली तीर आछटै गोला ।
दोला आलम तणा दल ॥
पड़ दड़ियड़ चड़ियड़ चहुँ पासै ।
खुमाणै लूंबिया खल ॥ ३ ॥

पातल हरा ऊपरा पराभव ।
खल खूटा टूटा खड़ग ॥

पंडव नामी नीठ पाड़ियौ ।
लग उगमण आथंमण लग ॥ ४ ॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थ:—युद्ध भूमि में वीरों के बाण लगने लगे, तोपें चलने लगीं और वज्र के समान प्रहार से हाथी चिघाड़ने लगे । इस स्थिति में दिल्ली की सेना को पीठ न दिखा कर भिड़ते हुए हे भीमसिंह ! तूँ हनुमान के समान दिखाई दिया ॥१॥

तेरे वीरों की तलवारों से घोड़े धराशायी होकर प्रति पक्षियों के बगतर टूट-टूट कर पड़ने लगे और शत्रुओं की तलवारों से तेरी ओर के वीरों के शरीरों से चारों ओर रक्त प्रवाहित होने लगा । अमरसिंह का पुत्र मदमस्त काल-सदृश, शहर कोट की तरह अडिग रह कर शत्रु-समूह से युद्ध करने लगा ॥२॥

चारों ओर से शाही सेना से घिरे हुए तेरे वीरों पर तीरों, गोलियों और गोलों की बौछारें होने लगीं और योद्धाओं के सिर गेंद के समान युद्ध-भूमि में पैरों तले भटकने लगे । हे सिशोदिया ! तेरे चारों ओर इस प्रकार शत्रु झूम गये थे ॥३॥

हे प्रतापसिंह के पौत्र ! तेरे परलोक जाते जाते शत्रुओं का विनाश होने ही वाला था कि इतने में तेरे हाथ में से खड्ग टूट पड़ा और हे योद्धा भीम, पाण्डु-पुत्र भीम की भांति प्रात: से सायंकाल तक युद्ध करता हुआ कठिनाई के साथ तूं धराशायी हुआ ॥४॥

३२ राजा भीमसिंह सीसोदिया, टोडा

गीत (वड़ा साणौर)

प्रलै होवै भड़ भिड़ज रिणताल लेखा परवै,
खत्रीपत भीम आवाहतै खाग ।

तलवार की धार से रक्त रंजित हो, स्नान किया। ऐसे सौभाग्य अन्य व्यक्ति को कम प्राप्त होते हैं। तूं ने इस युद्ध में भाग लेकर अपना नाम अमर कर दिया ॥ २ ॥

हे सिशोदिया, तूं आवेश में आकर शत्रुओं की असंख्य सेना में युद्ध कर, गंगा तट की युद्ध भूमि में शस्त्रों के आघात से धराशायी होकर वीर गति को प्राप्त हुआ ॥ ३ ॥

३४ शक्तावत मान सिंह

(वड़ा साणौर)

समन्द पूछियौ गंग सूं रूप पेखे सुजल ।
वहै जमना किसूं नवल वांनै ॥
ऊजली धार पतसाह धड़ आछटै ।
मेलियो रातड़ौ नीर माने ॥ १ ॥

महोदय पूछियौ कहौ मो सहस मुख ।
जमुन की नवौ सँणगार जुड़ियौ ॥
भाण रै लोह सुरताण धड़ भेलियो ।
चलौ वल पंड मो पूर चड़ियौ ॥ २ ॥

टिप्पणी:— १ इस गीत का नायक मानसिंह महाराणा उदयसिंह का प्रपौत्र, और शक्तिसिंह का पौत्र तथा भाण का पुत्र था। यह बड़ा वीर और शक्तिशाली था। शाहजादा खुर्रम ने दिल्ली के खिलाफ़ जब विद्रोह किया और पटना हाजीपुर के पास गंगा के किनारे विक्रमी सं० १६८१ ई० सन् १६२४ में शाहजादापरवेज से युद्ध हुआ तब महाराजा भीमसिंह के नायकत्त्व में मानसिंह ने बड़ा पराक्रम बताया और स्वर्ग सिधार गया। इस गीत में उसी का उल्लेख है

थागियल पूछियौ भणो भागीरथी ।
सांवला नीर किसां समोहां ॥
साहरी फौज सगता हरे सींवली ।
लाल रंग चढ़ियो मार लोहां ॥ ३ ॥

जोय जमुना जुगत रीजियो समंद जल ।
विगत हेकण वड़ी गंग वाती ॥
हिन्दुवें राव ओतालियो लोह हद ।
रगत मेछां तणो नदी राती ॥ ४ ॥

(रचयिताः- अज्ञात)

भावार्थः— समुद्र पूछ रहा है कि हे गंगा ! यमुना आज नया रूप (लाल रंग) धारण कर कैसे वह रही है ? गंगा (इसका) उत्तर देती है— मान सिंह ने चमकती तलवार से शाही सेना विनष्ट कर दी है । अतः उसकी रक्त धारा से यमुना ने नया वाना धारण किया है ।

समुद्र पूछता है कि हे सहस्र मुखी यमुना ! तूने यह नया शृंगार क्यों किया है ? (इस पर) यमुना उत्तर देती है कि भाण के पुत्र ने शाही दल पर शस्त्र प्रहार किया है । अतः मैंने नया शृगार वनाया है ।

समुद्र पूछता है कि हे गंगा ! श्याम जल में लाल रंग कैसे आ गया ? गंगा उत्तर देती है— नर-केसरी पुत्र शक्ति सिंह ने शाही सेना विनष्ट कर दी है अतः उसके रक्त प्रवाह से लालिमा आगई है ।

गंगा की यह उक्ति सुन समुद्र प्रसन्न हुआ । कवि कहता है कि— हिंदुओं के स्वामी ने मुगलों पर प्रबल शस्त्र प्रहार किया है; उससे यमुना का नीर रक्त रंजित हो गया है ।

३५ शक्तावत मानसिंह

गीत

खूरा बहसिया कारिमा खूसिया।
नेहसिया नीसाणौ ॥
मानड़ा! तो जस मेलियो।
आज रौ अवसाणौ ॥ १ ॥

जाल खाधौ सहि जादे।
ढाल गज तूं ढाहि ॥
मानड़ा दल तणा मंडण।
मांडि पग रिण मांहि ॥ २ ॥

खुरम खान दराब खीसिया।
अहासिया आंवाट ॥
अवियाट दूजा वल अचला।
थोभियौ गज थाट ॥ ३ ॥

फिरै मुहड़ै गजां फोजां।
धजां नेजां ढाहि ॥
भाण रौ गो गयण भेदे।
मान हरी पुर माहि ॥ ४ ॥

(रचयिता:- जैता महियारिया)

भावार्थ:- हे मानसिंह! कितने ही विपक्षी योद्धाओं को रणभेरी बजा कर तूं ने भयभीत कर दिया तथा कितने ही योद्धाओं को तलवार के घाट उतार दिया। इसी कारण आज तेरा बहुत यश है।

हे वीर ! शाहजादा खुर्रम ने जहाँगीर से धोखा खाया। उस समय जहाँगीर पक्षीय योद्धाओं को ढालों सहित हाथी से गिराने में तू समर्थ हुआ। रणभूमि में बड़ी दृढ़ता के साथ तूने युद्ध किया।

हे भाण के पुत्र मानसिंह ! शाहजादा खुर्रम बादशाही दरबार से रूठ कर भाग गया। इसका पीछा करने के लिये बादशाह जहाँगीर ने नगारे बजवा कर आक्रमण किया। उस समय बल्लू और अचलदास जैसे हे वीर ! तूने प्रतिपक्षी जहाँगीर की गजारूढ़ सेना को रोक दिया।

हे भाण के पुत्र ! तूने विरोधी सेना की ध्वजा गिरा कर उस सेना को पुनः लौटा दिया। हे मानसिंह ! तूने शत्रुओं के शस्त्रों द्वारा वीर गति प्राप्त कर आकाश के परे स्वर्ग में निवास किया।

२६. शक्तावत मानसिंह

गीत (छोटा सांणोर)

मेवाड़ थकी पुरत्र खंड मांहे।
अहयो सगतहरा अनुमान ॥
जुग पर देस जीवरा जाई।
मरवा गयो कणगे मांन ॥ २ ॥

माटी पणो तुहालो मांना।
रहियो घण घणा दिन रोस ॥
कोस हेक मरवा जाई कुण ?
कविलो गयो हजारां कोस ॥ २ ॥

पहाबाद जहाँ गीर पातसा।
कहियां धिन गणो करण ॥

उगतां सुरज सिरोही उगो।

मान सिंह वालो मरण ॥ २ ॥

(रचयिताः— अज्ञात)

पूर्व भाग में स्थित मेवाड़ खण्ड में रहने वाले हे शक्तिसिंह के पौत्र! तुझे सदा युद्ध का उन्माद बना रहता है। युद्ध का नाम सुन कर अन्य लोग दूर भाग जाते हैं! परन्तु हे मानसिंह! तू मृत्यु के हेतु बड़ी उमङ्ग से रण भूमि में प्रविष्ट होता है।

हे मानसिंह! तेरा शौर्य एवं वीरत्त्व दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। शत्रु के सम्मुख मरने हेतु एक कोस (दो मील का एक कोस) भी कोई नहीं जता है किंतु हे वाराह रूपी वीर! तू मरने हेतु हजारों कोस दूर भी चला गया।

हे मानसिंह! जब महाराणा और जहाँगीर बादशाह के बीच युद्ध हुआ तब उस युद्ध में तेरी वीर गति का यश सूर्योदय की किरणों के समान प्रकाशमान हुआ और राणा कर्णसिंह ने तेरी मृत्यु की सराहना की।

२७. शक्तावत गोकलदास, सावर १

सौरठा

गोकल हेक गमेह, हेक गमै हिंदू अवर।

सत तोलियो समेह, भार कहिक भौ भाणवत ॥१॥

भावार्थः– हे गोकुलसिंह! (जिस समय तेरे और अन्य हिन्दुओं के सत्य को तुला पर तोलने के लिये) एक ओर तुझे और दूसरी (एक) तरफ सब हिन्दुओं को (पलड़े में) रक्खा गया तब तेरा ही पलड़ा कुछ वजनी रहा।

३७ गीत [सुपङ्ख]

सेना साझियाँ दली हूँ सधो बादसाह साहजहां ।
आयौ अजमेर जंगां जीतरै ऊफाण ॥
कविन्दां बुलाया घणा हेत सूं उमाह करे ।
मौजां झड़ी देणौ इसो दीधौ फुरम्माण ॥१॥

पढावो कुराण आछां बणावो मलेछ पातां ।
समापां जागीरी लाख लाख लख रौ सामान ॥
सुणे वाण एहा माण-भंग व्हे पुकारया सारा ।
दीन बंधु छोडौ म्है न चाहां लेणौ दान ॥२॥

क्रुध भरे जेण वेला जेल खाने तंग कीधा ।
विना अन्न-पाणी सारा थाविया बेहाल ॥
हरी रूप जेण वेला आयौ सगतेस हरौ ।
हात जोड़ स्वामी पणौ सुण्या सारा हाल ॥३॥

बादसाह हूँत कह्यौ छोड जे इणांने बेघा ।
ऐ न छंडै हिन्दू धर्म विनादी आफेक ॥
कह्यौ साह भाण नंद पातवां छुडावो किसां ?
एक एक प्रती चहां माथौ एक-एक ॥४॥

सुणे वाण गोकलेस पैज बंध हुओ सागे ।
कीधी बात सारी बादसाह री कबूल ॥
क्रीत काज दीधा सीस सामंतां उतार केही ।
देण लागौ जाणौ प्रभू द्रोपदां दुकूल ॥५॥

ईहगां बचाया जठै दाखिया बिरद एहा।
सगत्ताणी चिरंजीवो वंस रा सिंगार॥
दूसरा नरिन्दां हूँत कहावो दातार दूणा।
जंगा सार धार वागां चौगुणा जुंझार॥६॥

(रचयिता :— अज्ञात)

भावार्थः— दिल्लीश्वर शाहजहाँ सेना सजा कर युद्ध विजय की उमङ्ग लेकर सीधा अजमेर आया। वहाँ बड़े प्रेम और उत्साह से कवियों को बुलाया और उनके लिये बख्शीस वृष्टि का फरमान निकाला।

इन कवियों को कुरान पढ़ा कर अच्छी तरह मुसलमान बना कर लाख-लाख की संपत्ति के साथ जागीर बख्शीस में दी जावे। इस बात को सुन कर सब कवि नूर-हीन हो कहने लगे-दीन बंधु! हमें मुक्त कर दीजिये; हम आपका दान नहीं लेना चाहते।

परन्तु बादशाह ने क्रुद्ध हो कर कवियों को कारागृह में बंद कर परेशान किया; बिना अन्न जल के वे व्याकुल हो गये। उस समय ईश्वर स्वरूप शक्तिसिंह का पौत्र गोकुलदास आया और (उसने सम्मान के साथ) कर बद्ध हो सहानुभूति से सारी चर्चा सुनी।

(सब कुछ सुन कर) बादशाह से कहने लगा- इन कवियों को शीघ्र छोड़ दीजिये; क्योंकि ये सनातन हिन्दु-धर्म का त्याग नहीं करेंगे।

टिप्पणीः— १. यह वीर तो था ही, साथ ही कवियों का सम्मान करने वाला और दानी भी था। एक बार शाही दरबार में चर्चा चली कि राजस्थान के कवियों को मुसलमान बना कर कुरान पढाई जाय। इसके लिये कवियों को जेल में बंद भी कर दिया गया। गोकुलदास ने इसका बड़ा विरोध किया और कवियों को छुड़वाया।

इस गीत में उसी घटना का वर्णन है।

बादशाह ने उत्तर दिया—हे भाण पुत्र! कवियों को कैसे छुड़ाते हो! इनकी मुक्ति के लिये एक—एक के बदले एक एक सिर चाहिये।

बादशाह का उत्तर सुन गोकुलदास ने प्रतिज्ञा की और सारी बात मंजूर कर अपनी कीर्ति के हेतु कई सामन्तों के सिर उतार कर इस तरह देने लगा—जैसे द्रौपदी को भगवान ने चीर प्रदान किया था।

कवियों को बचाने से इस प्रकार उन्होंने यश फैलाया कि हे कुल भूषण शक्तावत! तुम दीर्घ जीवी हो, अन्य दानी राजाओं से दुगुने दानी और युद्ध करने वालों से चौगुने वीर हो।

३८ शक्तावत गोकुल दास, सावर

गीत (छोटा साणौर)

भीमा जल़ मोहोर भेलिया भारत,
घणो पेसि गज बोह घणौं।
लागा गोकल़ तणो जे लोहड़,
ताइ दूखे भागिली तणौं ॥ १ ॥

विजु जल़ां खूल़ां विहरेतो,
मेलिया घाव पड़ंतां मार।
भजिया अंग तणौं भाणावत,
सालै पोहो तजिया त्यां सार ॥ २ ॥

सागता हरा तणौं समरी गण,
वणिया तन व्है खंड विहँड।
रूक न लागा तियां रावतां,
पीड़ा न मिटै तियां पंड ॥ ३ ॥

कूंत वाण केवाण कटारी,
कैलपुरे खामिया कंठीर ।
राजा मेल्हे गया तिके रण,
साजा न हुऐ तियां सरीर ॥ ४ ॥

(रचयिता:- मोतीसर चतरजी)

भावार्थ:- हे गोकुलदास, राजा भीमसिंह के युद्ध-काल में तूँने सेना के अग्र भाग में रह कर हाथियों के अनेकों समूहों में प्रविष्ट हो कर उस युद्ध का पूर्ण उत्तरदायित्व अपनी भुजाओं पर ले लिया था। उस युद्ध में विरोधियों के शस्त्राघात से तेरे शरीर में घाव लगे थे किन्तु उन घावों की पीड़ा युद्ध भूमि को छोड़ कर चले जाने वाले भीरु सैनिकों के शरीर में विशेष वेदना करने लगी ॥ ४ ॥

टिप्पणी:— मेवाड़ के वीर शिरोमणि महाराणा प्रतापसिंह के छोटे भाई शक्तिसिंह का पौत्र और भाण का छोटा पुत्र गोकुलदास था। वि० सं० १६७१ ई० सन् १५१४ के आस पास मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह (प्रथम) और दिल्ली के बादशाह जहाँगीर के बीच में जब सन्धि हुई तब, महाराणा के पुत्र कर्णसिंह शाही दरबार में गये। इनके बाद अन्य सरदार भी शाही दरबार में प्रविष्ठ हुए। ई० सन १६२२ में जहाँगीर के तीसरे शाहजादा खुर्रम (बाद मे बादशाह शाहज़हाँ) ने विद्रोह किया तब, दूसरे शाहजादा परवेज की अध्यक्षता में पटना के समीप हाजीपुर के पास टोन्स नदी (गंगा) के किनारे शाही सेना का खुर्रम से युद्ध हुआ। इस युद्ध में मेवाड़ के वीरों ने महाराणा कर्णसिंह के छोटे भाई भीमसिंह के सेनापतित्व में शाहजादा खुर्रम का पक्ष लिया। इस शाही सेना में आमेर (जयपुर) के मिर्ज़ा राजा जयसिंह और जोधपुर के राजा गजसिंह भी सम्मिलित थे जिन के साथ लड़ाई हुई। परिणाम यह हुआ कि राजा भीमसिह शाहजादा खुर्रम के पक्ष में युद्ध करता हुआ, शक्तावत मानसिंह आदि वीरों के साथ वीर-गति को प्राप्त हुआ। इन्हीं के साथ लड़ने में गोकुलदास आदि वीर भी थे। इस युद्ध में गोकुलदास भी घायल हुआ। उसी का वर्णन इस गीत में किया गया है। इनके वंशज सावर ठिकाने में हैं।

हे भाण के पुत्र, जिस समय तूं शत्रुओं को तलवारों से नष्ट करने लगा उस समय तलवारों की पड़ती हुई धार से बच कर अन्य नरेश चले गये। तेरे शरीर पर शत्रुओं के शस्त्रों द्वारा घाव लगे थे उनकी पीड़ा भीरू सैनिकों के हृदय में खटकती है ॥ २ ॥

हे शक्तिसिंह के पौत्र, तेरा शरीर शस्त्रों के घावों द्वारा बहुत क्षत विक्षत होगया परन्तु इस युद्ध में जिन क्षत्रियों के घाव नहीं लगे और जो भाग गये थे, उन के हृदय से तेरे घवों की पीड़ा नहीं मिटी है ॥ ३ ॥

हे सिंह रूपी वीर सिशोदिया, तूंने शत्रुओं की तलवारों वं भालों, कटारियों और बाणों के वार अपने शरीर पर सहे और घावों से रक्त रंजित हुआ। ऐसे घावों से बच कर वे राजा छोड़कर चले गये किन्तु तेरे घावों की पीड़ा के कारण उनका शरीर कभी भी स्वस्थ नहीं हुआ। अर्थात् अपनी भीरुता और अपयश का घाव उनके हृदय में बराबर पीड़ा देता रहा ॥ ४ ॥

२६ राठौड़ गोपालसिंह मेड़तिया, जावला ?

गीत (छोटा साणोर)

भ्रत अचड़ां करण सात्रवां मारण।
कटकां हटक आसुरां काल॥
भागां तूझ तणां भणकारो।
गोपाल़ा न करे गोपाल॥ १ ॥

सुरताणोत लियण व्रद सबला।
सबलां सत्र उतारण सीस॥
मुड़ियां तूझ तणां मेड़तिया।
दुनियण नहँ कहाड़ै जगदीस॥ २ ॥

अन मुड़तां जुड़तां आवाहे।
सिरदारां मोहरे समसेर॥
मरणौ दीह गजग्राह मंडांणौ।
मुड़ियौ न कहाणो गिर मेर॥ ३ ॥

जयमल हरा जाणता जिसड़ौ।
सांच पचो पूछियो सही॥
विढे मुवौ कागदे वंचाणौ।
नीसरियौ वांचियो नहीं॥ ४ ॥

(रचयिताः- गोकुलदास शक्तावत)

भावार्थः- गोपालसिंह ! युद्धभूमि में शत्रुओं को मारने हेतु मुगल सेना का काल बन कर तूने अपनी मृत्यु अमर करदी। किन्तु तेरा शत्रुओं से विमुख होने सम्बन्धी भी रुदन का स्वर जगदीश्वर ने कभी भी नहीं सुनने दिया।

हे सुल्तानसिंह के पुत्र ! तूने वीरता की परम्परा को रखने हेतु प्रबल शत्रु योद्धाओं के मस्तक शरीर से उतार दिये। हे मेड़तिया ! उन शत्रुओं के सामने युद्ध भूमि से पलायन करने के क्षीण-स्वर ईश्वर ने किसी के द्वारा भी नही सुन पाये।

हे वीर योद्धा ! युद्ध भूमि से विमुख न होने वाले शूरोंका सामना करने के लिये अपने सैनिक सरदारों के आगे रह कर तूने ही तलवार चलाई। उस समय गजग्राह युद्ध की भांति तेरा युद्ध शत्रुओं से छिड़ा।

टिप्पणीः- १. सम्भव है इस गीत का नायक गोपालसिंह मेड़तिया गीत के रचयिता गोकुल दास शक्तावत का कोई मित्र अथवा सम्बन्धी रहा हो। जिसकी प्रशसा में गोकुल दास ने यह गीत बनाया।

इस युद्ध में तूं पर्वत के समान, अचल रहा, और शत्रुओं से लोहा लेता रहा। किन्त युद्ध से तेरा पलायन किसी के द्वारा नहीं सुनाई दिया गया।

हे जयमल के पौत्र! जैसा मैं तुझे जानता था वैसा ही तूं सत्य दिखाई दिया। शस्त्राघात से तेरी मृत्यु-सूचना प्राप्त हुई। किन्तु युद्ध भूमि त्याग कर जाने का पत्र मुझे कभी भी प्राप्त नहीं हुआ।

४० रावत मानसिंह सलूम्बर १

गीत (बड़ा साणोर)

धरे थोक खत्रवाट खुरसाण चाढै धकै।
एक एकाध पत वडौ ओनाड़॥
बांकड़ै लीध पतिसाह डाढ़ां विचा।
मान वाराह जेम धरा मेवाड़॥१॥
असमरां धारि आधारि दाढां अगरि।
वढियौ गाढ फौजां त्रिड़ाणी॥
हलल हेकल जिहिं दियंते चुएड हर।
ऊथल पाथल हुई धरा आणी॥२॥
भेट दाव तणै धकै आवै भिड़ण।
चाल बांधै न को जुड़ण चालौ॥
काल दाढां महा धरापुड़ काढने।
कियौ गिड़ जेम उग्राह कालौ॥३॥
मान सुरताण हरणां मृग मेटवा।
छोह व्हे वे असुर भोम छांडी॥

जायती रसातल भुजां वलि जैत रै ।
मेर चित्तौड़ गल आण मांडी ॥ ४ ॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थ:- एक प्रमुख विशाल काय वीर मानसिंह ने क्षात्रकुल गौरव एवं स्व भूमि के लिये अश्वारोही हो कर बादशाह के सामने चढ़ाई की और वाराह रूप बन कर अपनी भूमि दाढों में रक्खी (अपने ही अधि-कर में रक्खी) ॥ १ ॥

शत्रु की विशाल सेना में साहस धारण कर स्वयं घाव लगाये और तलवार की धार स्वरूप जमीन दांतों पर उठा कर बचा ली। चुण्डा का पौत्र एक ही शूकर के सदृश टक्कर लगा कर उथल पुथल हुई जमीन को ले आया ॥ २ ॥

उस शत्रु के सामने दांव पेच से भिड़ने के लिये कोई सैन्य-समूह नहीं आ सकता, ऐसे (प्रवल) काल-स्वरूपी यवन की डाढ़ों (अधिकार) से पृथ्वी को निकालने के लिये वाराह (शूकर) के तुल्य काल-पुरूष वन कर रावत ने जमीन वचा ली ॥ ३ ॥

वीर चुण्डा ने जोश में आकर दैत्य हिरण्यकश्यप रूपी बादशाह से मेवाड़ की जमीन छीन कर उसे गौरव हीन कर दिया और पाताल में जाती हुई पृथ्वी को जैत्रसिंह के पुत्र ने अपनी भुजाओं से विजय कर चित्तौड़ दुर्ग के अधिकार में की ॥ ४ ॥

टिप्पणी:- १. रावत मानसिंह सलूम्बर ठिकाने का स्वामी था और विक्रम संवत् की १७ वीं शताब्दी के अन्त में महाराणा जगतसिंह (प्रथम) के समय कई युद्धों में इसने भाग लिया ।

४१ झाला चंद्र सेण, बड़ी सादड़ी

गीत (वड़ा साणौर)

अईची मैं भीत चंद्र सैण राणा अकल ।
आज संसार सहि कीत आखै ॥
अमर जै सींव वेल मेल औरंग अगै ।
राज पाखै न को धरा राखै ॥ १ ॥

सोढ रा प्रवाड़ा भाग तो सारखा ।
पहलका अहलका प्रिथी पुणिया ॥
राण रै साह रै धकै थिर राखतै ।
वड़ा धर वाहरू विरद वाणिया ॥ २ ॥

मुदे हूँता तिसो काम कीधौ मुदे ।
वधै वाखाण दुनियाण वीयौ ॥
धणी चित्तौड़ रा वोझ भुज धारियां ।
दलीपत भुजां तो वोझ दीयौ ॥ ३ ॥

छात चीतौड़ साथर राखे छता ।
जिका तो वात संसार जाणै ॥

टिप्पणी:—१ चंद्र सिंह, महाराणा का सामंत और बड़ी सादड़ी का स्वामी था। यह ठिकाना सोलह के उमरावों में प्रथम माना जाता है। मेवाड़ के महाराणा राजसिंह (प्रथम) का समकालीन था औरंगजेब ने जब मेवाड़ पर आक्रमण किया तो यह बराबर युद्ध करता रहा। इस संबंधी वीरता का कवियों ने वर्णन किया है—उसमें से यह एक है।

खेसि औरंग पहल खिसो मेटे खत्री ।
राखियाँ देस दुइ वार राणौ ॥ ४ ॥

(रचयिता:- पता आशिया, मंदार)

भावार्थ:- हे वीर चंद्र सिंह ! तेरी बुद्धि की प्रशंसा आज संसार में हो रही है । राणा अमर सिंह व जय सिंह की पृथ्वी पर औरंगजेब अपना प्रभाव तेरी सहायता के अभाव में नहीं रख सकता था ।

सोढ़ा के समान हे पराक्रमी वीर ! तेरे जैसे भाग्यशाली के गौरव की प्रशंसा पृथ्वी पर भूत और वर्तमान सभी करते हैं । महाराणा की वार्ता को बादशाह के सन्मुख व्यवस्थित रूप से रखने के कारण तूं राज घराने का सहायक माना गया ।

जिस प्रकार का तूं वीर था उसी प्रकार का वीरत्व तूंने दर्शाया । तेरी इस प्रकार की चतुराई का वर्णन यत्र-तत्र सर्वत्र होने लगा । तेरी भुजाओं के सहारे ही चित्तौड़ पति महाराणा ने चित्तौड़ का कार्य-भार दिया । यह जान कर दिल्लीश्वर ने भी तेरी सम्मति को मान्यता प्रदान की ।

हे राजराणा ! तूंने उदयपुर के महाराणा का स्वामित्व स्थाई रखने में जो सहयोग दिया । वह सर्व विदित है । हे राजराणा ! औरंगजेब के आक्रमणों को अपनी चतुरता से शान्त कर दो वार मेवाड़ देश के संकट को टाला ।

४२. शक्तावत रावत घासीराम, बावल का १

गीत (छोटा साणौर)

देवलियो वंस नयर अनै पुर डूँगर,
त्रिहूँ ऐ भूप अभावो ताम ।
बांधै तेग घणा वरदायो,
राण वसायो घासीराम ॥१॥

सूरज मलां रावलां सालै,
घाले घणां केवियां घांण।
आंगम नरां दूसिरां नावी,
पर घर घर आणी खग पाण ॥२॥

मंडियौ मेर अडिग मेवाड़ो,
जुड़े दुरंग त्रिहुँ कीधा जेर।
औं जुध वैर हरण जिम आखां,
सुतन सुद्रसण पाखर सेर ॥३॥

थह पातल अजवा रामा थह,
दहल पड़ै दिन माहि दह।
आगल थकौ राण घर आडौ,
थंहियौ डागल तणौ थह ॥४॥

(रचयिता:- पता आशिया)

भावार्थ:- कुल उजागर, खड्ग धारी, महाराणा का वंशज घासीराम देवलिया, बांसवाड़ा और डूँगरपुर के तीनों नरेशों के दिल में निरंतर खटकता रहता है ॥ १ ॥

टिप्पणी:— १ इस गीत का नायक घासीराम महाराणा उदयसिंह के छोटे पुत्र शक्तिसिंह के पुत्र दलपतसिंह का वंशधर था और महाराणा राजसिंह प्रथम के समय विद्यमान था। यह राज्य के बडे सरदारों में से था और शाही दरबार में भेजा गया था। इसने डूंगरपुर, बांसवाडा और देवलिया प्रतापगढ़ को आधीन करने की कार्यवाही में उदयपुर के महाराणा की ओर से भाग लिया।

इस गीत में उसी का वर्णन है।

महाराणा के अन्य वीरों ने शत्रु भूमि पर अधिकार करने की जिम्मेवरी खुद पर ली, किंतु वे भूमि अधिकार में न कर सके तब इस वीर घासीराम ने अपनी खड्ग-शक्ति से शत्रु-संहार कर उन की भूमि पर महाराणा का आधिपत्य स्थापित किया। जिस से यह देवलिया के सूर्य्यमल एवं डूँगरपुर के रावल के दिल में खटकता रहता है ॥२॥

मेदपाट के इस वीर पुरुष ने पहाड़-स्वरूप युद्ध स्थल में अडिग रह कर तीनों गढ़ों को आधीन कर लिया। युद्ध-स्थल पर पाखर पहने हुए यह सुदर्शन के पुत्र, जैसे खड्ग लिये और वीर हनुमान के सदृश दिखाई देता है ॥३॥

रामसिंह, अजबसिंह और प्रतापसिंह के दिल में घासीराम के आतंक से प्रतिदिन जलन होती है। महाराणा के कार्य के लिये शत्रुओं के सम्मुख खड़ा हुआ यह वीर रावत अपने सिंह पिता के समान ही मालूम होता था।

४३. शक्तावत कानसिंह

गीत (वड़ा सावझड़ा)

मरण देख कोरो न कियौ करे वढा मतो।
अवलै वलै मोसर अणी आवते॥
रूक धम चक धमक वड़ विहंड रावते।
सावलै खेलियौ फाग सगताउते॥१॥

तूटि गिड़ ऊथलां गजां मिरजा तुरै।
सार वरगल वगल फूटी उर सौं सरे॥
भाइयां हके हिकां मोहरी ऊभरै।
पतंग अत खेलियौ वसंता कायल पुरे॥२॥

वाज फोजा गजां बीच लोकां बकी ।
हू वकै ऊवकां कूंत हाकी हकी ॥
जसौं नै काल जगमाल पोथो जिकै ।
चोल होली हुवा रूक गह चकै ॥३॥

नरां रा वरां छील तन बज्र नीसरै ।
बाघ रा खाग कुलां वाट नहँ वीसरै ॥
किलंब दोय सहस अस खांत आंकल करै ।
गाहि हुय तानी बाढी रहिया गरै ॥४॥

(रचयिता:- अज्ञात)

हे शक्तावत ! तूने यौवनारंभ में जब तेरी मूछें बढ़ कर वक्राकार भौंहों की ओर उठ रही थीं, ऐसे समय में केवल युद्ध में जाने का विचार ही नहीं किया, अपितु युद्ध में जा कर तलवार और भालों से होली के रास की भांति युद्ध क्रीड़ा की और उस में धूम धाम मचाकर शत्रुओं को मौत के घाट उतार दिया ।

हे सीसोदिया ! तेरे वीरों की तलवारें और भाले यवनों के कंधों में प्रवेश कर वक्षःस्थल के पार निकलने लगे । शस्त्राघात से हाथी व घोड़े धराशायी होने लगे । रणांगण में तेरे बंधुओं ने एक से एक आगे बढ़ कर वसंत ऋतु में खेले जाने वाले 'गेर' (लकड़ियों से खेला जाने वाला ग्रामीण नृत्य) में अबीर छिटकने से जो ललाई फैल जाती है उसी प्रकार तूने और उन्होंने शत्रुओं को रक्त रंजित कर लाल कर दिया ।

टिप्पणी:—गीत में उल्लिखित कानसिंह, महाराणा प्रतापसिंह के भाई शक्तिसिंह के पुत्र भावसिंह की चौथी पीढ़ी में था । १८ वीं शताब्दी में जब औरंगजेब से युद्ध हुआ तब उस युद्ध में यह शामिल था । वही इस गीत में है ।

हे शक्तावत वीर ! जसराज, काना, जगमाल और पीथा, तुम शत्रुओं के ऊपर तलवार चलाते हुए स्वयं भी रक्त रंजित होगये और भालों के प्रहार से शत्रुओं के शरीर से रक्त प्रवाहित होने लगा।

नर-देहों को वज्र के समान तलवार छीलती हुई पार हो जाती थी और सिंह के समान हे शक्तावत वीर ! तूं तलवार चलाने में और शौर्य प्रदर्शन करने की अपने कुल की रीति को नहीं भूला और दो हजार शत्रुओं के घोड़ों के दग्ध चिन्ह लगाकर और उनके वीरों को आहतकर घर पर लौट आया।

४४ शक्तावत विठ्ठलदास

गीत (छोटा साणौर)

सकता हर रुधिर निमो ग्रा तन ।
प्रिथी सराहे तेण प्रमाण ॥
विठ्ठलदास देखि धड़ विढ़तौ ।
विठ्ठल माथौ करे वाखाण ॥ १ ॥

कलहण दोखि तणो केल पुर ।
आखै सह कोई अचड़ ॥
मेयण गो हलकारै माथौ ।
धार वाव रै कहै धड़ ॥ २ ॥

खंगारोत तूझ थिन खत्रवट ।
आखे जगि हुई अविध ॥
वसुधा थकौ सीस वाखाणै ।
कमंधां सूं कलहै कमंध ॥ ३ ॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थः—हे शक्ति सिंह के पौत्र ! तेरी धीरता एवं वीरता को नमस्कार है। तेरे इन गुणों की संसार प्रशंसा करता है। हे विट्ठल दास ! तेरा धड़ शत्रुओं पर प्रहार कर रहा है और मस्तक पृथ्वीपर पड़ा हुआ उसकी प्रशंसा करता दिखाई दे रहा है।

हे सिशोदिया ! तेरे रण कौशल को देखकर सभी तेरी प्रशंसा करते हैं। धरती पर पड़ा हुआ तेरा मस्तक वीरों को ललकारता है तथा धड़ शत्रु संहार कर रहा है।

हे खंगार सिंह के पुत्र तेरे क्षत्रियत्व का लोहा सभी लोग मानते हैं। पृथ्वी पर पड़ा हुआ तेरा मस्तक धड़ की प्रशंसा करता है और धड़ शत्रु से भिड़ रहा है।

४५ उगरसिंह राठौड़

गीत (छोटा साणोर)

जल् चाढण अगर धरा जोधाणे ।
छल् राणा कुलवाट छल् ॥
र वदां तणा खांभिया रहिया ।
दहवाणै थांभिया दल् ॥ १ ॥

राखण रूप वडा राठौड़ा ।
चितौड़ा दाखण चटक ॥

टिप्पणी:— वि० सं० १७३६ ई० सन् १६७८ में महाराणा राजसिंह प्रथम के समय दिल्ली के बादशाह औरङ्गजेब ने चढ़ाई की और देवारी के पास युद्ध हुआ। जिस में अनेक राठौड़ वीर शाही सेना से लड़ते हुए काम आये। उनमें इस गीत का नायक अगरसिंह राठौड़ भी एक था।

भावार्थः– युद्ध में जोशीले नक्कारों के साथ वीर रस की सिंधुराग की ध्वनि सुनाई देने लगी। युद्ध स्थल में वीरों के सिर आकाश की ओर स्पर्श करते हुए आतुरता से लगे और वीर क्षत्रीय माहवसिंह ने उस युद्ध-भूमि में मुगलों की सेना में अपने घोड़ों को प्रविष्ट किया।

इस देश को राणा के अधिकार में रखने के लिये उन की सहायता कर अचल रूप से भूमि रखने के लिये युद्ध कर माहवसिंह ने सुयश प्राप्त किया। अश्वारोही वीर भाटी ने सैन्य-समूह को नष्ट कर सेना में प्रवेश किया।

दूसरे जगतसिंह के समान वीर क्षत्रीय ने शत्रु-सेना से भिड़कर अपनी तलवार द्वारा शत्रुओं के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। वीर भाटी ने महाराणा का नमक उज्जवल (सार्थक) करने के लिये सेना में प्रविष्ट होकर घमासान युद्ध किया।

अप्सराओं ने स्वेच्छानुसार वीरों का वरण किया, वीरों ने अपना यश समुद्र पार पहुँचा दिया और वीर माहवसिंह ने शत्रु-संहार कर जैसलमेर का गौरव बढ़ा, वीर गति प्राप्त की।

४७ रावत कान्धल चुण्डावत (द्वितीय), सलूम्बर १

गीत (वड़ा साणोर)

अदललियोबदलोनिकुं रालग्योउधारी ।
राव इम मार जे जांणियों राण ॥
केहरी भड़ी कांधल ऊवर कटारी ।
चूक मझ उवारी अचड़ चहुवांण ॥ १ ॥

प्रवाड़ो खाट दरबार न आयो सुपह ।
कथन आय नरां दूसरा कहिया ॥
पाचलणी भड़ी कमर सूं पाकड़े ।
राव रावत बिनै खेत रहिया ॥ २ ॥

राम रो साझ नां यो कुशल रेण रो ।
दुवांने एक साथै दियो दाग ॥
उहीज रावत तणे घरे आलापियो ।
रावरे घरे गायो जिको राग ॥ ३ ॥

वैर रो शोध मेले न ग्यो वांसला ।
वलू हर पिसण लेगो भरै वाथ ॥
भीच सुत मीत भाई अनै भतीजा ।
हमैं जस सुणो मूंछां धरै हाथ ॥ ४ ॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थ:—रावत ने उधार न रख राव को मार कर अच्छा बदला लिया, जिस की जानकारी महाराणा को भी हो गई । चौहान केसरीसिंह ने चुण्डावत कांधल के वक्षःस्थल पर कटारी से वार किया उसके कारण कांधल ने भी चौहान केसरीसिंह पर वार कर यह कीर्ति अमर कर दी ॥ १ ॥

युद्ध विजय कर राव केसरी सिंह महाराणा के पास जीवित नहीं आ सका, जिस से यह वृत्तान्त दूसरे मनुष्यों ने आकर उन्हें सुनाया । रावत ने कमर से कटारी निकाल वार किया, जिससे राव और रावत दोनों युद्ध-क्षैत्र में ही रह गये ॥ २ ॥

कांधल ने केसरीसिंह को ईश्वर की ज्योति में मिला दिया परन्तु वह भी घर पर रहने के लिये कुशलता से नहीं आ सका और दोनों का एक

टिप्पणी:- १. यह रावत रतनसिंह दूसरे का पुत्र था और महाराणा जयसिंह का समकालीन था । वि० सं० १७४८ के पीछे थूर (उदयपुर से ६ मील दूर) के तालाब पर चहुआन राव केसरीसिंह को मार कर स्वयं भी मारा गया । इस गीत में इसी घटना का वर्णन है ।

साथ ही दाह–संस्कार किया गया। जिस प्रकार रावत के घर रोना धोना हुआ उसी प्रकार राव के घर भी रोने की आवाज सुनाई दी ॥ ३ ॥

आपसी शत्रुता को वे पीछे छोड़ कर नहीं गये। अपितु केसरीसिंह और कांधल दोनों अपनी शत्रुता को वाथ (अपने साथ) में भर कर ले गये, जिस से दोनों पक्षों के शूरवीर, पुत्रादि, मित्र और भाई-भतीजे आदि अपने अपने पक्ष की ख्याति सुन कर मूछों पर ताव देते रहे।

४८. रावत माधोसिंह चुण्डावत, आमेट ?

गीत

माधै हेलवी दखणी दल़ मांहें,
मुगलां ठलां मझारी।
अरियाँ उअरि त्रिचै धसि आधी,
कूंपलै चरे कटारी ॥१॥

भूखी डाकणी जेम भमकंती,
रहे न रोकी रूकां।
ढुक्क गिलै कालिज धाराली,
बृथ न मेल्है बूकां ॥२॥

पातल हरा निमो पुरुपातन,
कल़ दल़ सबल़ कल़ासै।
उरड़ै फौज धजा विच आधी,
गुण की गजां गरासै ॥३॥

माडिया मार अनड़ मानावत,

कलिहण वार कराली।

मैंगल़ कवां चगचगा मथ कर,

धांपावी धाराली ॥ ४ ॥

(रचयिता:- नाहरसिंह आशिया)

भावार्थ:- माधवसिंह ने दक्षिणी मुगल सेना के समूह पर वार किया और कटारी को शत्रुओं के हृदय में प्रवेश कर उनके कलेजे का आहार करवाया ॥ १ ॥

क्षुधा-युक्त डाकिणी जैसी आतुर हो, रोकने पर भी न रूक शक्ति जैसी धार वाली कटारी ने दुश्मनों के वक्षःस्थल में घुस कर कलेजे का आहार करना शुरू किया और शत्रुओं के मांसव दिल को खाती हुई पार हो गई ॥ २ ॥

युद्ध-काल में सेन के बीच प्रविष्ठ हो बहादुरी दिखाते हुए झण्डे तक पहुँच कर तूने भाले और कटारी के सम्मुख शत्रुओं के हाथियों का निवाला करवा दिया। हे प्रतापसिंह के पुत्र! तेरे पुरुषार्थ को नमस्कार है ॥ ३ ॥

हे मानसिंह के वीर पुत्र! युद्धारम्भ में तूने वार कर मद चूते, और गुन्जार करते हुए गज कुम्भ स्थलों को कटारी का निवाला बना (उसकी) क्षुधा शान्त की ॥ ४ ॥

टिप्पणी:- रावत मानसिंह का माधवसिंह पुत्र था। आमेट के रावत चुण्डावतों की जगावत शाखा के वंशज है। औरङ्गजेब ने मेवाड़ पर चढाई की तब इसने बड़ा शौर्य दिखाया।

इस गीत में इसी सम्बन्ध का उल्लेख है।

४६. रावत केसरीसिंह चुण्डावत [प्रथम], सलूम्बर [१]

गीत (बड़ा साणौर)

कहर मेल लसकर डमर जेतहर कलोधर,
अवर नहँ धरपती धरै आंटा।
केहरी ग्रहे करमाल कांधालरै,
कीध ऊथल पथल वन्हे कांठा ॥ १ ॥

वांस पुर भांजतां सोच पड़ चहूँ वल,
सकल खल मारण तज सेव साधै।
डुरै डूँगर परो थर कियो देव गरे,
वँाह वर भलां तूं खड़ग बांधै ॥ २ ॥

धमकता पाखरां वसण लीधा घणा,
पोहव गज धजां तूं खेत पाड़ै।
मछर मन मेल सकतेस पाधर मुडै,
जूंझ कर खगां चहुवाण झाड़ै ॥ ३ ॥

सुरिन्द सीसोद दिल समंद रावत सकज,
गढ़ पती गांजिया अयह वड़ गात।
प्रगट दइवाण दीवाण भुज पूजिया,
छलै खत्र वट चूण्डा तणी छात ॥ ४ ॥

(रचयिता:- मानसिंह आशिया)

टिप्पणी:— १ यह रावत कांधल दूसरे का पुत्र था। १८ वीं शताब्दी के मध्य युग में मेवाड़ के महाराणा ने डूंगर पुर और बांसवाड़ा पर चढ़ाई की तव यह सेनापति बनकर गया था। उसी का गीत में उल्लेख है।

भावार्थः- हे जैतसिंह के कुलीन पौत्र ! तूं आडम्बर के साथ सैना का संगठन कर हाथ में तलवार धारण करता है। तेरे साहस को देख कर अन्य नरेश तुझ से शत्रुता नहीं करते। हे कांधल पुत्र केसरसिंह ! तूने हाथ में तलवार लेकर मेवाड़ के पड़ोसी नरेशों को उथल पुथल (डॉवाडोल) कर दिया ॥ १ ॥

वांसवाड़ा को परास्त करने पर चारों ओर के नरेशो पर आतंक छा गया और सब शत्रुओं ने गौरव-हीन हो तेरी दासता स्वीकार करली हे प्रबल-श्रेष्ठ बाहु वाले वीर ! तूं तलवार कसता है सो अच्छा ही है, तेरे तलवार कसते ही डूँगरपुर और देवलिया तक कंपायमान हो जाते हैं ॥ २ ॥

पाखरों से सज्जित भड़भड़ा हट करता हुआ अश्व-सैन्य-समूह तेरे साथ है, तूँ शत्रु-सैन्य के हाथियों पर जो ध्वजाएं लहरा रही हैं उन्हें झुकाता है। तेरे साथी शक्तावत चाहुआनों से सांठ-गांठ कर सीधे मुड़ गये और तूने अपने बाहुबल से युद्ध कर तलवारों द्वारा चाहुआनों का नाश किया ॥ ३ ॥

हे दरियादिल वाले इन्द्र तुल्य सिशोदिया ! तीनों बड़े नामधारी राजाओं को पराजित करने का अच्छा कार्य किया। क्षात्र कुल गौरव से छलते हुए महाराणा और देश के प्रधान ने हे चूण्डा-कुल मणि ! तेरे बाहुओं की पूजा की।

५०. रावत संग्रामसिंह चुण्डावत, देवगढ़ १

गीत (छोटा साणोर)

थापैं वधनोर खगां बल थांणा।
थागरां तणा धूजिया सेर ॥
खान तणा हिया विच खटकै।
सांगा ! तूझ तणी समसेर ॥ १ ॥

पावै सुख प्रजा, राण सुख पावै।
दोख्यां घरे गलंतो डाव॥
द्वारां तणौ करै नत देखौ।
चुगडौ करै अचूगडा चाव॥२॥

वांदे वाट घाट पण वांदे।
जालम किया मीसणां जेर॥
आपो डंड न हुऔ आगलियां।
मांटी पणै न छूटा मेर॥३॥

मारे लिया सेद फल माहै।
आवे कटकां मेर अणी॥
सेलां पाण धूपटी सांगा।
तैं सैंभर सुरताण तणी॥४॥

गढ़ रछपाल दूसरा गोकल।
पालण सत्र दिली दल पूर॥
रावत तणै भरोसे राणौ।
सैलां रमै हिंदवौ सूर॥५॥

(रचयिता:— अज्ञात)

भावार्थ :— खड्ग बल से बदनौर के ऊपर अपना थाना नियुक्त किया, जिससे वहाँ के पहाड़ी—मेर लोग कम्पायमान हो गये, हे सांगा! तेरी तलवार मुगलों के हृदय में हमेशा खटकती रहती है॥ १॥

टिप्पणी:— यह देवगढ़ के रावत द्वारिकादास का पुत्र और गोकुलदास का पौत्र था। महाराणा संग्रामसिंह (द्वितीय) के समय में मेरवाड़ा के मेरों को दबाने में इसने वीरता दिखाई थी जिसका उक्त गीत में वर्णन है।

बहादुरी एवं दाव-पेंच से शत्रुओं का गर्व नाश होजाता है। राणा और उनकी प्रजा सुख प्राप्त करती है। चुण्डा द्वारिकादास का पुत्र शत्रुओं के साथ नित्य अजीब तरह का युद्ध करने को इच्छुक रहता है ॥ २ ॥

जुल्म करने वाले शत्रुओं को रास्ते और घाटियों की मोर्चा बन्दी कर (उन्हें) जकड़ देता है। प्रान्तीय स्थानों के मेर शत्रु न तो दंड देकर मुक्त हो सकते हैं; न बल बताकर पीछा छुड़ा सकते हैं-अर्थात् उन्हें पराजय माननी पड़ती है।

हे सांगा! मेरों की जितनी सेना तेरे सामने आती थी उसे साधारण कष्ट से मार ली। तूने भालों की ताकत से बादशाह की सैंभर नदी पर भी अपना अधिकार जमा लिया।

हे दूसरे गोकुल सिंह! शत्रुओं को पराजित कर स्वामी के गढ़-देश की तूं रक्षा करने वाला है, तूं दिल्ली पति की सेना को रोकने वाला है। इसलिये तेरे भरोसे हिंदु-सूर्य महाराणा निश्चिन्त हो पहाड़ों पर सहज-शिकार करता है।

५१. ठाकुर जयसिंह राठोड़ (मेड़तिया), बदनोर १
गीत (बड़ा साणोर)

खड़े ज्यार महाराज, मगरां सरै खेड़िया।
लागियां चार चक अपत लारां ॥
बोल जैसाह हूंता जिकै बोलियौ।
थिर रह्या बोल जे साह थारा ॥ १ ॥

धणी माहरा नह कूरम, राणो धणी।
अबगता वयण नह तूझ आलूं ॥
आपरा वयण हूं थाणो नहँ आदरू।
आदरू वयण जो राण वालूं ॥ २ ॥

सरोतर अंग नयर मिढतो सदा ही ।
घाय घड़ मोड़वा आद ग्राणो ॥
एक छत्र पत तणौ हुकम नहँ थापियौ ।
थापियौ राण रै हुकम थाणौ ॥ ३ ॥

आंट रा कोट मन-मोट मेरू अचल ।
सूर तन ताप दे सीत सवायौ ॥
कहै जैसिंघ-जैसिंघ ! राणा कटक ।
एक रजपूत मो नजर आयौ ॥ ४ ॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थः-जयपुर के महाराजा मेवाड़ की सीमा का पहाड़ी प्रदेश मेरवाड़ा के ऊपर अपना अधिकार स्थापित किया। चारों ओर के नरेश इस प्रकार से हठ पूर्वक अधिकार करने के कारण जयपुर नरेश से रुष्ट थे। उस समय हे राठौड़ जयसिंह ! तूने अपने वचन का बड़ी दृढ़ता के साथ निर्वाह किया।

हे जयसिंह ! तूने जयपुर नरेश से कहा कि मेरे स्वामी कछवाहा जयसिंह नहीं किन्तु मेरे स्वामी महाराणा हैं। इन वचनों को तूने असत्य नहीं होने दिया। साथ ही जयपुर नरेश की यह आज्ञा कि अमुक स्थान

टिप्पणी:- यह वदनौर के ठाकुर जसवतसिंह का पुत्र था और राणा संग्रामसिंह (द्वितीय) के समय रणबाजखां मेवाती से बांदरवाड़ा में युद्ध हुआ, उस में इस जैत्रसिंह ने वीरता पूर्वक युद्ध कर रणबाजखां को मार कर उसकी ढाल छीनली (जो विजय चिन्ह स्वरूप वदनौर में मौजूद है)।

जयपुर महाराजा सवाई जयसिंह ने मेरवाड़ा में अपने थाने नियुक्त करने चाहे थे जिसका इसने प्रतिरोध किया। उक्त गीत में यही वतलाया गया है।

पर थाणा (सैनिक व्यवस्था) स्थापित करो, न मान कर महाराणा की आज्ञा के अनुसार ही तूने थाणा स्थापित किया।

जयसिंह ने जयपुर नरेश से कहा-कि "आप आमेर और उदयपुर को समान स्तर का नहीं समझ सकते क्यों कि उदयपुर शत्रुओं को रण-भूमि में परास्त करने वाला है।"

इस प्रकार जयसिंह ने कछवाहा जयपुर नरेश की आज्ञा की अवहे-लना की और मेवाड़ नरेश की ही आज्ञा को शिरोधार्य किया।

हे राठौड़ जयसिंह ! तूने वीरता का परकोटा बन कर और पर्वत के समान अटल रह कर अपनी वीरता का प्रभाव चारों ओर फैला दिया। जिस से जयपुर नरेश कहने लगा कि "मेरी दृष्टि में महाराणा की सेना में जयसिंह राठौड़ एक ही क्षत्रिय है॥"

५२. ठाकुर जयसिंह राठौड़ (मेड़तिया), बदनौर

गीत [सु पङ्ख]

गाजै त्रंबालां निहाव घाव पिनाकां भणंके गांणा।
  धारियां उनाग खाग खत्री ध्रम धोड़॥
    दृढ जसो हुओ हेक आविया दक्खणी दलां।
      राणा दलां आडो कोट सारंभै राठौर॥ १॥

फरक्कै भंड नेजां आविया लड़ंग फौजां।
  घुरतां त्रंबालां रणं तालां दाव-घाव॥
    लोहड़ा देयंतो भाट उससे गैणाग लागो,
      सेवा भड़ां हूँत वागो जैमाल सुजाव॥ २॥

बंदूकां गोलियां सोक भोक कूंता सोक बाणा।
  साकुरां तड़च्छे लोहां तूटे खलां संध॥

डोह घड़ां चौवड़ां अभंग भीच चाड़ राणा।
केवा हूँत जुटो वेवाणां कमंध ॥ ३ ॥

मेदपाटां तणौ नीर राखियौ दूसरा मथा।
साम ध्रमा तणी वेल रहाड़ी सकत्त ॥
सोहिया विरद मोटा जेसाह जीत्र संभ।
पाई फतै जीत जंग रहाई ग्रभत्त ॥ ४ ॥

(रचयिता:- दानाजी. ओगसा)

हे राठौड़ जयसिंह ! नक्कारों के निनाद से और धनुप वाण के शब्दों से आकाश गूंज उठा। उस समय तूं क्षत्रिय धर्म के पालनार्थ नग्न तलवार ले कर युद्ध स्थल में उपस्थित हुआ। दक्षिण के आक्रमण कारी सेनाओं के सामने तूं काल के समान रहा और महाराणा की सेना की रक्षा के लिये तूं लोह-दीवार के समान खड़ा हो गया।

हे जयमल के पुत्र ! लहराते हुए ध्वज और नक्कारे वजाती हुई सैना के साथ तूने रण भूमि में प्रवेश किया। उस समय तूं शत्रुओं के सैनिकों के शरीर में शस्त्रों द्वारा घाव लगाने लगा और वीर योद्धा की भांति गर्व से आकाश की ओर मस्तक ऊँचा करता हुआ युद्ध करने लगा।

हे राठौड़ ! तूं बन्दूकों की गोलियों और तीक्ष्ण तीरों द्वारा शत्रुओं के अश्वारोहियों के तिरछे घाव लगा कर उनको नष्ट करने लगा। जिससे अश्वारोही और घोड़े दोनों ही धराशायी होने लग गये और राणा के हे अजेय वीर ! योद्धा राठौड़ ! तूं शत्रुओं की चतुरङ्गिनी सेना को शस्त्राघात द्वारा विचलित करने लगा।

माधवसिंह के सामने हे वीर ! स्वामी धर्म पालन करने हेतु तुझे शक्ति ने सहायता दी; जिससे तूने मेवाड़ के गौरव को वढ़ाया। हे

जयसिंह ! युद्ध में विजय प्राप्त कर अपने वंश को चिरायु करता हुआ लौट आया। जिससे तेरे शौर्य का यश चारों ओर फैल गया।

५३. रावत माहसिंह सारंगदेवोत, कानोड़ [1]

गीत [वड़ा साणोर]

धूवे रोद सीसोद धर वेद मच धमाधम,
पीड़ न खमे कर जतन पाटै।
माहवा सुवर कज अछर वर आंटे मले,
मल रुद्र अग्यारह कमल माटै ॥ १ ॥

चौल चख किया असमर धूवै चाचरै,
सुनर भमके पड़ै कुनर सांसे।
सदन कज फरै ग्रहिया फलां सुरत्रियां,
वदन कज वड़ा सिध फरै वासै ॥ २ ॥

उरड़ भड़ सुभट थट मांन सुत ऊपरां,
खगां झट घाघरट रमे खेला।
ऊभै खट सुवर वट निकट देखे अछर,
भ्रगुट वट जोवे झट धार भेला ॥ ३ ॥

टिप्पणी:– १ माहसिंह, बाठरड़ा के रावत मानसिंह का पुत्र था। वि० सं० १७६८ में महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय के समय मेवाती रणबाज खां ने पुर और मांडल के परगने पर अधिकार करने के लिये चढ़ाई की। उस समय बांदरवाड़ा (खारी नदी) के पास होने वाले युद्ध में माहसिंह महाराणा के पक्ष में लड़ा और काम आया, जिसका इस गीत में वर्णन है।

जगाहर बीजलां ऊजला करै जुध,
लू लेवर अपछरां कनैं लीधा ।
गलै शिवरतन जिस करे गल गेहणां,
कमल चागलै सणगार कीधां ॥ ४ ॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थ:- सिशोदिया की जमीन के लिये जिस समय युद्ध आरम्भ हुआ, उस समय राणा के वीर सैनिकों ने मुगल शत्रुओं पर खचा खच तलवारें चलानी शुरू की। अनेक वीर घावों की वेदना को बर्दाश्त नहीं कर सके और उनका उपचार करवाने लगे। वीर महावसिंह रणांगण में युद्ध करता रहा। उसको वरने के लिये अनेक अप्सरायें और सिर को प्राप्त करने के लिये ग्यारह शंकर युद्ध-स्थल में आये ॥ १ ॥

लाल लाल नैत्र कर माहसिंह शत्रुओं के सिर पर तलवार चलाने लगा, उस समय बहादुर आग के समान गुस्से से भभकने लगे और कायर चिन्तित हो निःश्वासे डालने लगे। उस वीर को देव बालायें अपने घर ले जाने के लिये उसका पल्ला (कपड़ा) पकड़ने लगी और सिद्धराज शंकर सिर के लिये उसके पीछे फिरने लगे ॥ २ ॥

यवन योद्धा मानसिंह के पुत्र पर तलवारों के घाव करने के लिये दौड़ने लगे, उस समय आठों अप्सरायें उसको वरने के लिये और शंकर सिर लेने की प्रतीक्षा में थे ॥ ३ ॥

जगतसिंह के पौत्र ने अपने शरीर पर घाव लगवाकर शत्रु तलवारों की धारों को उज्ज्वल कर दिया। अप्सराओं ने उस वीर को वर कर पास में ले लिया तथा शंकर ने सिर रूपी रत्न को गले में धारण कर शृंगार किया ॥ ४ ॥

५४. सारंग देव (द्वितीय), कानोड़

गीत (बड़ा भाणोर)

समर धूवे आंगाट होय नाद सिधू सबद ।
जंगम अंग ओर जुध जड़ा जाडों ॥
दृढ सारंग हुओ आवियां दखण दल ।
अभंग भड़ धरां चत्रकोट आडो ॥ १ ॥

गाज गुण पनाकां बाण गोलां गड़ड़ ।
खलां सिर खीज जिम बीज खवते ॥
असनमें भाण घमसांण बिच ओर अस ।
राण धर राखवा काज रवते ॥ २ ॥

अभंग तोखार गज भार बिच ओरतो ।
सुतन महाव उत नृप काज सूरे ॥
रिम हरां झाड़खग पाड़ दल रहायो ।
भलाई सँहस दस लाज भूरें ॥ ३ ॥

डिये मुख दाद दीवांण आलम दुनी ।
पारावार तटे चढ़ कीत पांगी ॥
अंब पख चाढ़ सारंग घरे आवियो ।
जीत खल गड़ वाजाड़ जांगी ॥ ४ ॥

(रचयिता:—अज्ञात)

टिप्पणी:— यह रावत महासिंह का पुत्र था। महाराणा संग्रामसिंह (द्वितीय) ने महासिंह के वीरता पूर्वक युद्ध में काम आने की सेवा से प्रसन्न हो कर उपरोक्त सारङ्गदेव को कानोड़ की बड़ी जागीर प्रदान की। उपरोक्त महाराणा के समय में उस (सारङ्गदेव) ने कई युद्धों में भाग लेकर वीरता दिखलाई थी। जिस का इस गीत में वर्णन है।

भावार्थः—युद्ध के नक्कारे की आवाज और सिंधु राग सुन कर वीर सारंगदेव घोड़े पर चढ़ उस विषम युद्धः स्थली में आगया और दक्षिण की सेना के आने पर पराजित नहीं होने वाला वह वीर चित्तौड़ की भूमि के लिये दीवार (आड़ स्वरूप बन गया।

धनुष की टंकार और तोपों की गड़ गड़ाहट के समय महाराणा के राज्य के निमित्त, वीर भाण के समान घोड़े सहित, कड़कती हुई बिजली के समान शत्रुओं पर क्रुद्ध होकर वीर सारंग देव ने उस भयंकर युद्ध में प्रवेश किया।

महावसिंह के अपराजित पुत्र ने घोड़े सहित हाथियों के समूह में प्रवेश किया और विपक्षियों को तलवार के घाट उतारते हुए शत्रुओं को धराशाई कर स्वयं जीवित रहा। उस समय सिसोदिया ने अपने देश की लज्जा (रक्षा) सारंग देव के हाथों में सौंप दी।

हिन्दुओं के स्वामी राणा ने अपनी ओर से उसे धन्यवाद दिया। सारंग देव अपने कुल का गौरव बढ़ाता हुआ और शत्रु ओं को जीतता हुआ तथा विजय वाद्य बजाता हुआ वापस घर लौट आया, जिससे उसकी कीर्ति समुद्र पर्यन्त फैल गई।

५५. रावत सारंगदेव (दूसरा) कानोड़

गीत—(वड़ा साणोर)

तुरां पाखरां सझे सलहां भड़ां ततखरां,
　　दुजड़ जुध अर हरां वहण दावे।
थाट थंभ अभंग सारंग नाहरां थाहरां,
　　अला तो सारखां हाथ आवे ॥ १ ॥
अभनमां भांण धमसाण जीपण अभंग,
　　सुजस जग रखण दध कड़ां सारे।

कलम दल वहण खग भीड़ छकड़ा कड़ां,
धरा तो सारखां भड़ां धारे ॥ २ ॥
तई सुपहां घड़ा मोड़ माहब तणा,
न्हसै अर किता रहिया होण लोग ।
जड लगां पाण माना हाग तो जसा,
भरै कमलां जियां ऊजला भोग ॥ ३ ॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थ:- हे सिंह रूपी योद्धा सारंगदेव, तू युद्ध-काल में शत्रुओं पर खड्ग चलाने के लिये पाखर (लोहे का चार जामा) सहित वक्तर से (वीरों की लोह निर्मित वेश भूषा) शूर वीरों को सुसज्जित रखने वाला है। प्रति-पक्षियों के समूह में स्तम्भ के समान पूर्ण रूप से अडिग रहने वाले हे योद्धा, यह पृथ्वी तेरे समान वीरों के ही हस्तगत होती है।

हे भाण के समान ही वीर, तूने शत्रुओं से युद्ध में विजयी होकर, समुद्र के उस पार अपने यश को फैला दिया है। तू वक्तर बांध कर मुगल सेना पर तलवार चलाने वाला है। यह पृथ्वी तेरे जैसे वीरों का ही आधिपत्य स्वीकार करती है।

हे माहबसिंह के पुत्र, तेरे सम्मुख अनेकों नरेश युद्ध भूमि से पलायण कर गये और कितने ही युद्ध-स्थल से भाग कर तेरी जनता के साथ दर्शकों में मिल गये। हे मानसिंह के पौत्र, तलवारों की शक्ति से ही तेरे जैसे योद्धा देदीप्यमान होकर इस धरती का उपभोग करते हैं।

टिप्पणी:- १ वि० सं० की १८ वीं शताब्दि के अन्त में महाराणा संग्रामसिंह (द्वितीय) के सामन्त कानोड़ के रावत सारंगदेव (द्वितीय) ने युद्ध आदि किये और तत्कालीन दिल्ली-दरबार में जाकर अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया था। इस गीत में अज्ञात कवि ने सारंगदेव के गुणों पर प्रकाश डाला है।

मरद् घमसाण पुह लिये आलोमलां ।
चढण कज वाढ फेरी जीये वीजलां ॥
डोह घड़ चोवड़ा फतह जंग खलां डलां ।
खत्री गुर रौ छएल करै नत धूं कलां ॥ २ ॥

कलह अवियाट धन सूर माहव कालू ।
वाजता त्र्यंबाटां सत्रा रां फाटै वकां ॥
धूण जे दुरंग फौजां लड़ंग हिक धकां ।
असुरची धरा मभ पड़ै नत ऊदकां ॥ ३ ॥

वहादर कुल छलां रखण सारंग विया ।
कैलपुर ऊधरा करां जग सिर किया ॥
लोहड़ां साहरा मुलक लूटे लिया ।
पटा वहतां गजां राण भुज पूजिया ॥ ४ ॥

(रचयिता:-अज्ञात)

भावार्थ:- शत्रुओं की सेना ढाल-तलवारों सहित घोड़ों पर पाखरें सजाकर पड़ी थी, वहाँ अपनी भुजाओं की कीर्ति लिये हुए उमरावों सहित वीर सारंगदेव चढ़ चला। स्वामी भक्त नाहरसिंह ने चित्तौड़ के भू भाग को रखने के लिये ईडर राज्य पर आक्रमण किया।

उल्टी रीति से युद्ध करता हुआ वीर सारंग देव शत्रुओं को मारने योग्य घाव देता हुआ तलवार चलाने लगा। शत्रु-सेना को चार-चार बार विचलित कर युद्ध स्थल में विजय प्राप्त करने के लिये शत्रुओं के टुकड़े२ करने लगा। इस प्रकार क्षत्रिय-कुल के गौरव की रक्षा करने वाला गुरु (मुखिया) अपनी मर्यादा की रक्षा के लिये नित्य शत्रुओं से युद्ध आरंभ करता रहता है।

हे महासिंह के पुत्र! तेरी युद्ध की तैयारी के लिये बजाये हुए नक्कारे की घोषणा सुन कर शत्रु बेहोश हो जाते हैं। ऐसे हे वीर पुरुष! तूं धन्य है! शत्रुओं के दुर्ग को सेना की एक ही टक्कर से तूं विचलित कर देता है, जिससे शत्रु शिविरों में सदैव अशान्ति बनी रहती है।

हे (द्वितीय) सारंगदेव वीर! अपने कुल की रक्षा के लिये तुमने दान वीरता और युद्ध वीरता प्रदर्शित कर संसार में अपना यश फैलाया है और बादशाह के प्रदेशों को हाथियों द्वारा लूट लिया; जिससे महाराणा ने तेरी भुजाओं की पूजा की।

५८. रावत पृथ्वीसिंह सारंगदेवोत, कानोड़ १

गीत-(बड़ा साणोर)

खरा हेमरा भड़ां पीथल चढ़े खेड़िया।
दूरत गत घेरीया फरे दोले॥
रूकड़ां पाण उफड़ां खियां रोलिया।
धोलिया धकाया दीह धोले॥ १॥

समर रा भमर सारंग तणा सींध ली।
कहर गत बजाड़े गजर केवाण॥
होलियां जेम फर दो लिया होविया।
अरि हरां घुबिया भला आथाण॥ २॥

महा उमराव राणा तणे मेहरा।
वेहरा डाव चप चड़ेवानी॥
शाखरा भड़ां भिड़ज्जां चढ़े शावता।
मरद मेवाशियां हार मानी॥ ३॥

भावार्थः— हे पृथ्वीसिंह ! महाराणा और कछवाहों के मध्य युद्ध प्रारंभ होते समय, तूं महाराणा की सहायतार्थ रणभूमि में तत्पर होकर बिजली के समान कड़कड़ाहट करता हुआ शत्रु-सेना पर टूट पड़ा। हे रावत ! युद्ध भूमि में भयंकर तोपों की गर्जना के मध्य तू तलवारों से 'गेर' (ग्रामीण नृत्य विशेष) खेलता हुआ युद्ध में लगा रहा।

हे पृथ्वीसिंह सारंगदेव ! महाराणा के युद्ध आरंभ करने के पूर्व ही तू ने युद्ध में तलवार चलाना प्रारंभ कर दिया, अबला और अबोध कन्या के समान सेना के साथ तूने एक अनुभवी वर की भाँति सभी उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर युद्ध आरंभ कर दिया।

हे सारङ्गदेव ! उस भयंकर युद्ध में शत्रुओं के तोप के गोले, भालों तथा तलवारों के घाव लगाने लगा। जिससे शत्रुओं की सेना क्रुद्ध होकर भयंकर युद्ध करने लगी। परन्तु तूने फिर तलवार के वार की झड़ी लगा दी, जिस से उनके घावों में से अविरल रक्त धारा प्रवाहित होने लगी।

हे महासिंह के पौत्र ! युद्ध भूमि में भयंकर तोपों के गोले आकाश में आच्छादित हो गये; किन्तु फिर भी तूं अपने पुण्य तथा रण-कौशल से विजयी होकर नगारे बजाता हुआ अपने निवासःस्थल पर लौट आया।

६०. रावत पृथ्वीसिंह चुण्डावत, आमेट १

गीत (छोटा साणौर)

पुह रावत धनो पराक्रम पीथल।
घण बल पौरस दाख घणा॥
भड़तै समर भांजिया भाला।
तें जुड़ दल दखणियां तणा॥ १॥

निछट पांण वडड़ ध्रुव नालां।
धर राणा होए तो धक चाल॥
माझी अवर मुड़ंतां मंडियाँ।
तूं नेगां पाधर रण ताल॥ २॥

चौरंग वार अचल चूण्डावत।
वागो काहल चाहूँ वल॥
मदा भड़ां हरवल दूलह सुत।
दुजड़ां भांजे – सवा दल॥ ३॥

कुल अजुआल अम नवा मधुकर।
सब थाटां गांजें सवण॥
वसुह सुजस दुनियाण वदीतो।
रूकां जीनो माहा रण॥ ४॥

(रचयिताः–अज्ञात)

भावार्थः– हे राना के उमराव पृथ्वीसिंह ! तेरे पराक्रम को धन्यवाद है। तुझ में साहस शक्ति विशेष दिखाई देती है तूं दक्षिणियों की सेना से भिड़ने को युद्ध स्थल में प्रविष्ट हुआ और उनके भालों के टुकड़े कर दिये।

तीरों की बौछार, बन्दूकों की भयंकर आवाज होने लगी और महाराणा की देश भूमि को शत्रु शोणित से रंजित कर दिया और सेना

टिप्पणीः– १. यह रावत दूलहसिंह का पुत्र था और राणा संग्रामसिंह के समय मालवा की रक्षा के निमित्त होने वाले युद्ध में उक्त रावत ने भाग ले कर जीरण का गढ़ (परगना) अपनी जागीर में प्राप्त किया।

समझे जाते थे। इसी प्रकार वदनौर के राठौड़ भी अजेय योद्धा समझे जाते थे। उनका सारा अभिमान उन्हें परास्त कर तूने नष्ट कर दिया। तत्पश्चात् तूं चँवर ढुलाता हुआ युद्ध भूमि से विजय प्राप्त कर घर पर आया।

६२. रावत बुद्धसिंह चौहान, कोठारिया [१]

गीत (छोटा साणौर)

सलहां समझड़ां पाखरां साकुर।
धड़ चण खलां बीजलां धींग ॥
ऊदा हरौ अंद्र छजे अत।
साजे दन राजे बुध सींग ॥ १ ॥

कूंगल भड़ां घड़े केकांण।
धाय भाजण किलमां घमसाण ॥
सुजस रखण दईवाण भाणव सुत।
चक्रवत एस वोजे चहुवाण ॥ २ ॥

सुजल़ वरद चाढण धर सैंभर।
अण भंग आप वंस अजुआल़ ॥
रूकां जीत अखाड़ै रावत।
रांणा तणां घरां रखवाल़ ॥ ३ ॥

(रचयिता:—अज्ञात)

टिप्पण:—१—यह रावतदेवभाण का पुत्र था और महाराणा अरिसिंह के समय में टोपल मगरी के पास होने वाले युद्ध में विद्रोहियों को दवाने में महाराणा के साथ रहा। जिसका गीत में वर्णन है।

भावार्थः– हे उदय भाण के पौत्र वुद्धसिंह ! तूं शूर वीर के समान वीर वेप धारण कर घोड़ों पर पाखर डाल कर युद्ध में गया। इन्द्र के समान तेरा जीवन यशस्वी है. मानो तूं ने अच्छे नक्षत्रों में जन्म प्राप्त किया है।

हे भाण के पुत्र ! कवच धारी योद्धा ! तूं मुगल सेना को शस्त्राघात द्वारा नष्ट करने हेतु घोड़ों पर पाखर डाल कर युद्ध भूमि में प्रवेश करता है। हे चाहुआन ! तूं चक्रवर्ती के समान महाराणा के यश को चिरायु करने वाला है।

हे रावत ! (चाहुआनों की राजधानी के यश को) तूं अजेय रह कर सांभर के यश को बढ़ाने वाला है। अपने वंश को उज्ज्वल, महाराणा की पृथ्वी की रक्षा करने के लिये युद्ध भूमि में तलवारों की शक्ति से विजय प्राप्त करता है।

६३. महाराज कुशालसिंह शक्तावत, भीण्डर १

गीत [सु पङ्ख]

मिले गनीमां अकारी फौज भयंकारी हींता माथै।
ढल्लकै सवारी भारी सूंडां डंड ढाल॥
धीयतौ दुधारी खलां अहंकारी दीह धोलै।
खारी वार रासा वेल आवियौ कुसाल॥ १॥

वाजतां त्रंबालौ धीह नरातालां खड़े वाज।
तोलियां छडालौ पाण पंखालै सुताण॥
वा कारियौ पाट री हटालां खलां भूरो वाव।
आवियौ उमेद वालौ सींधालौ आराण॥ २॥

धीयतौ अठेल सेल गजां वेल फूल धारां।
भेलतो पेलतो साथां सामंतां उभेल॥

रूक झाटां वेल थियां गनीमां अठेल राजा।
बिरदां अवायां आयां महाराज वेल ॥ ३ ॥

खेड़िया न त्रीठ वाज पीठ कीना भड़ां खूर।
दहूँ दिल्ली दीठ धीठ झांटी पणौ दाव ॥
जाणता भरोसौ थारौ गरीठ दूसरा जैता।
रीठ वाग् वला माथै दीनो गाढ़े राव ॥ ४ ॥

कीरती जहाज गढ़ां-कोटां कविराज करे।
तपौ सगतेस दूजौ सूरेस दराज ॥
आगै कर राजनेस काज महाराव आयां।
लोहां पाज बांध पाड़ै सतारा री लाज ॥ ५ ॥

(रचयिताः-पहाड़ खान आढा)

भावार्थः- शत्रुओं ने तीव्रगति से विशाल सेना का संगठन कर हींता ग्राम पर आक्रमण किया। उस समय गजारोही शत्रु सैनिक एवं विशाल काय हाथी धराशाई होने लगे। हे क्रुद्ध कुशाल-सिंह ! उस समय दुधारी तलवार चलाकर केवल तूं ही रण-भूमि में उद्यत रहा।

हे उम्मेदसिंह के पुत्र ! जिस समय युद्ध वाद्य व नगारे बजने लगे उस समय वायु के समान वेग वाले घोड़ों को युद्ध स्थल में उपस्थित किया। तब पक्षी के समान द्रुत गति से शत्रु सेना पर भाले से प्रहार किया और भूरेसिंह की भॉति शत्रुओं को ललकारता हुआ तूं युद्ध भूमि में उपस्थित हुआ।

टिप्पणीः-१-यह महाराज उम्मेदसिंह शक्तावत का पुत्र था और महाराणा राजसिंह (द्वितीय) के समय मरहठों के युद्ध मे इसने अपना शौर्य बताया था। जिसका इस गीत में वर्णन है।

हाथियों के समूह की पंक्ति पर तीक्ष्ण भालों से प्रहार करते हुए तथा साथियों सहित स्वयं शत्रुओं के वार को सहन करते हुए तूंने अपने कुल गौरव को अधिक बढ़ा दिया। तलवारों के वार से शत्रुओं को धकेलता हुआ, गौरवान्वित हो तूंने महाराजा की सहायता की।

द्रुतगामी घोड़ों से शत्रुओं का पीछा कर तूंने दिल्ली पति को अपने शौर्य और साहस का परिचय दिया। हे जैत्रसिंह के समान योद्धा! जिस तरह का लोगों का तेरे पर विश्वास था ठीक उसी के अनुसार तूने कर दिखाया।

हे शक्तावत! समुद्र के उस पार कवियों ने तेरे यश को व्याप्त कर दिया है। दूसरे शक्तिसिंह के समान हे वीर! तूं इन्द्र के समान, शस्त्रों की बौछार करता हुआ, महाराणा राजसिंह का कार्य करने में अग्रगण्य हुआ है। हे महाराजा! तेरे शस्त्रों की भीषण वर्षा से शत्रुओं के शस्त्रों द्वारा बनाई हुई पाल को तूंने तोड़ डाला और उनके गौरव रूपी जलाशय को नष्ट कर डाला।

६४. शक्तावत कुशलसिंह, विजयपुर १

गीत (छोटा साणोर)

नारियण जोय पछ दूसरै नर हर।
देखो सगता भाल हुआ॥
भारत कुसलै वलां भरड़िया।
खल दांतां खोखला हुआ॥१॥

टिप्पणी:—१—यह महाराणा प्रताप के भाई शक्तिसिंह के बेटे अचलदास का पौत्र और विजयसिंह का पुत्र था। विजयपुर वाले इसी के वंशज हैं। मरहठों के आक्रमण होने पर युद्धादि में इस ने बड़ी वीरता दिखाई थी और सतारा के बादशाह के पास महाराणा ने इसे अपने प्रतिनिधि (वकील) के रूप में भेजा था।

माहेचा अकेला जुध मारे।
रूक वजाड़ वदीतो राण॥
केवी तणा गलिया कैल पुरा।
डाठां डगमगती दहवाण॥२॥

रूक दुवाह विजावत रावत।
वीस हती जोय दियो वर॥
जूनी डाढ़ां कमंध जारिया।
नवल वतीसी तणा नर॥३॥

(रचयिताः—मोतीसर पूर जी)

भावार्थः— हे कुशल सिंह शक्तावत ! तेरे पूर्वज नारायण दास और नर हर दास के बाद उन जैसा योद्धा तूं ही दृष्टि गोचर हुआ है। तूं ने युद्ध में प्रति पक्षियों को चूर-चूर कर दिया, और उनके दांत ढीले कर दिये हैं।

माहेचा गोत्र के अकेले वीर ने युद्ध भूमि में तलवार चलाकर शत्रुओं को नष्ट कर महाराणा को विजयी किया, जिससे उस (महाराणा) ने उसे (वीर को) धन्यवाद दिया। सिशोदिया दंत-रूपी तलवार से शत्रुओं को उसने विनष्ट कर दिया, जिससे उस वृद्ध वीर की डाढ़ें हिलने लगीं।

हे विजयसिंह के पुत्र ! तलवार चलाने का तेरा साहस देख कर युद्ध-चंडी ने तुझे वरदान दिया, जिस से बूढ़ी दंत रूपी तलवार से नये दांतों वाले राठौड़ों व उनकी सेना को विनष्ट कर दिया।

६५. आशिया चारण दयाराम [१]

गीत (छोटा साणौर)

हुए उदेपुर राड़ नर असत चल चल हुए,
गहर वल वल हुए जांगियां घाव।

ईस ऊभो कहे सीस दे आशिया,
अछर कहि आसिया विचाणां आव ॥१॥

राण दल़ कमंध खागां खहे रूसिया,
ढ़हे धरां धके मैंगलां ढाल।
कमल़ दे आस नत वरै यूं कमाल़ो,
वरे रंभ आस उत रथां चढ़ चाल ॥२॥

वाहता खग जुध दिवस दोय वदीता,
गढ़ां कोटां सुणी वात वड़ गात।
पुणे सिवनाथ धारांम माथो समप,
पुणे रंभ नाथ तू रथां चढ़ पात ॥३॥

सत्रहरां रहे रण महे पदमेस संग,
समपियो ईसनूं सीस साहे।
चढे रथ पात अछरां वरे चालियो,
मालियो इंदरा पुरा मांहे ॥४॥

(रचयिताः—अज्ञात)

भावार्थः- उदयपुर में युद्ध-आरंभ होते समय वार वार नगारों की भयंकर ध्वनि होने लगी और नगर-निवासी भयभीत होकर इधर

टिप्पणीः—१—वि० सं० १८०२ ई० सन् १७४५ में घाणेराव के ठाकुर राठौड़ पद्मसिंह पर उदयपुर के महाराणा जगतसिंह (द्वितीय) ने सेना भेजी और उदयपुर स्थित उनके निवास-स्थान को घेर लिया तब, ठाकुर पद्मसिंह राठौड़ अपने साथियों सहित युद्ध करता हुआ मारा गया। राठौड़ ठाकुर के पास रहने वाला चारण कवि आशिया दयाराम अपने स्वामी के साथ युद्ध करता हुआ रण खेत रहा। उसी दयाराम की स्वामीभक्ति का वर्णन इस गीत में किया गया है।

उधर भागने लगे। उस समय संग्राम के मध्य शंकर स्वयं खड़े होकर पुकारने लगे, " हे आशिया, मेरे कण्ठ में धारण करने के लिये तेरा मस्तक मुझे समर्पित कर-अप्सराएं कहने लगीं "हे आशिया तूं हमारे विमान में आकर बैठ जा" ॥ १ ॥

महाराणा की सेना राठौड़ों पर क्रुद्ध होकर तलवारें चलाने लगीं और तलवारों के वार से गजारूढ़ योद्धाओं को ढालों सहित धराशायी करने लगी। उस समय शंकर पुकार-पुकार कर कहने लगे, "हे वीर ! तेरे शीश के लिये सदैव मैं इच्छुक रहता था, इसलिये आज तूँ मेरी मनोकामना पूर्ण कर। इसी भांति अप्साराऐं भी पुकार कर कहती हैं-कि-हे आशा के पुत्र, तूं विमान में बैठ कर हमारे साथ प्रयाण कर। ॥ २ ॥

युद्ध होते-होते दो दिवस व्यतीत हो गये। चारों दिशाओं के दुर्ग-स्वामियों तक इस का खबर (समाचार) पहुँच गया। पार्वती नाथ कहते हैं, कि हे दयाराम, तेरा मस्तक मुझे अर्पित कर और मेरे कण्ठ को उससे सुशोभित कर। अप्सराएं तुझे 'स्वामी के नाम से संबोधित कर कहने लगी हे चारण कवि, हमारे रथ (विमान) में चल कर हमारे साथ स्वर्ग के लिये प्रस्थान कर ॥ ३ ॥

वीर दयाराम शत्रुओं का विनाश करता हुआ अपने स्वामी राठौड़ पद्मसिंह के साथ युद्ध-स्थल में धराशायी हुआ और अपने हाथ से शंकर को मस्तक समर्पित कर, अप्सराओं को वरण कर इन्द्रपुरी में निवास करने लगा ॥ ४ ॥

६६. आशिया चारण दयाराम

गीत (छोटा साणौर)

नाला पड़ धमक त्रंबलां नीद्रस।

राण जगो कम धज सिर रूठ ॥

भार पड़ंत पदम नहँ भागो।
दया राम खग वागो दृढ ॥ १ ॥

ऊडै धोम आरवां आतस।
खल दल सबल लू'बिया खूर ॥
पातल तणा मोहर उदया पुर।
सुत आसा टलियो नहँ सूर ॥ २ ॥

तोपां धड़क जाग जल तोड़ां।
रीठ पड़ै गोलां धुज रैण ॥
वीरम देव हरो शिण विढतां—
भिलियो लोह हगे भीमेण ॥ ३ ॥

आसल कमंध लू'ण उजवाले।
खिसियो नहीं वंदे चहुँ खूंट ॥
राजां पदम पातरण रसिया।
वर अपछर वसिया वैकूंट ॥ ४ ॥

(रचयिता:— अज्ञात)

भावार्थ:—हे दया राम, जिस समय महाराणा जगतसिंह ने क्रुद्ध होकर राठौड़ पद्मसिंह पर आक्रमण किया तब वीरता से सामना करता हुआ राठौड़ रणभूमि में अडिग बना रहा उस समय तू'ने भी बड़ी बहादुरी से तलवार चलाई।

हे वीर! आतिशबाजी के समान आकाश में असंख्य तोप के गोले छागये, चारों ओर धुँआ छा गया और शत्रु सेना झूमने लगी, उसमें प्रतापसिंह का पुत्र पद्मसिंह बराबर युद्ध कर रहा था तू'ने भी उसका साथ दिया और बड़ी वीरता से युद्ध करता रहा।

जलने हुए तोड़ों से चलने वाली तोपों की गर्जना से उनके गोलों की सनसनाहट से पृथ्वी कंपित होने लगी। वीरम देव के पौत्र पद्मसिंह घावों से आहत होकर वीर गति को प्राप्त हुए और साथ ही भीमराज का पौत्र दयाराम आशिया भी उसी के साथ शत्रुओं को नष्ट करता हुआ धराशाई हुआ।

हे आशिया! तूं ने अपने स्वामी राठौड़ का नमक सच्चा करने हेतु, युद्ध भूमि को नहीं त्यागा, जिससे चारों ओर तेरी प्रशंसा हुई। राजा पद्मसिंह और उसका कवि दयाराम ने युद्ध-रस के उपभोग करते हुए तथा अप्सराओं का वरण कर वैकुण्ठ निवास किया।

६७. चहुआन उदयसिंह, गढी-बांसवाड़ा

गीत (सु पंख)

चंडी छाक ले आमखां गूद कोण चीलां रंजां चले।
धृ काज दाकले गणां भूत राट धींग॥
पैराक चमूरां केक पैराक छाक ले पूरी।
साकुरां हाकले उसी वेलां उदै सींग॥१॥

सनाहां खणंकै कड़ी घड़ी घड़ी नचे सूरां।
हूरां रंभ खड़ी खड़ी रचे सुभ्र हार हीर॥
महा घोर घड़ी वागां लागां जोर अड़ी मेले।
वाजंदां ऊपड़ी वागां चाहुआण वीर॥२॥

कोम पीठ भोम भार घूमै वड़ा नाग कालां।
वरं माला लूंबै रथां रंभ चाला वेस॥
वाजतां त्रंबाला के कर माला भालां वीच।
नेज वाजां नरा तालां संभरी नरेस॥३॥

धृ तोम मंडी रे वीरां लाग हाक लोह धोम।
बोम बड़ा बड़ी रे उम्मरू डाक बाग॥
रोस आग जाग भलें रूद्र से अड़ी रै रूप।
बिड़गां गडी रै दूजो केहरी अजाग॥४॥

वज्र छूटो इन्द्र के, विछूटो रामचंद्र-बाण।
कूदवा सामंद्र बाण छूटो हणू क्रोध॥
कालीनाग बड़ा हूँ विहँग नाथ जूटो कना—
जटी की जटा सूं छूटो भद्र जोध॥५॥

वाजै बंकी गेड़ के अखाड़ें रूधां खास वाड़।
जंगी हौदां सुधा के पनागां पाड़ें जूथ॥
जोम आड़ें लागो चौड़े धाड़ें झाड़ें विज्र जलां।
विधू से विभाड़े ताड़े गनीमां विरूध॥६॥

तेग झालां छोड़े केक विछोड़े बैकूंट ताला।
गोड़े गणा धीस माला जोड़े धार गंग॥
नेगां पाण अग्रनंद सतारा नाथ सूं तोड़े।
मोड़ें मारहट्टां बड़ा मरोड़ें मतंग॥७॥

टिप्पणी:—१—यह उदयसिंह अमरसिंह, चहुआण का पुत्र, और अच्छा वीर था। यह बागड़ इलाके का रहने वाला था। उक्त गीत में उसके वीरत्व और युद्ध कौशल का वर्णन है। अपनी वीरता से इसने मूंथ के कुछ इलाके पर अधिकार कर गद्दी का ठिकाना बना लिया।

तोर जंगां तुरंगां जश्रंत जोम काढै तूं ही।
घात्रां क्रोध गाढे तूं ही रचे रुद्र घाण ॥
तपो वली ऊदा ए जाजुली फौजां वाढ़ै तूं ही।
चाढ़ै तूं ही कली दली विरदां चूहाण ॥८॥

(रचयिताः—हुक्मीचंदजी, खिड़िया)

भावार्थः— हे उदयसिंह ! जिस समय रक्त पान करने—चंडी अपनी प्यास तृप्त करने के लिये आई और चील पक्षी मांस भक्षण करने के लिये आकाश से धरती पर आ रहे थे तथा मस्तक के लिये शंकर अपने गण सहित रण भूमि में आये और वीरों को मस्तक देने के लिये उत्तेजित करने लगे। सेना में कई वीर सुरापान किये हुए के समान युद्ध में उन्मत्त होकर युद्ध कर रहे थे। उस समय तूने अश्वारोही होकर रण भूमि में प्रवेश किया।

वख्तरों और लोह शृंखलाओं की ध्वनि में वीरों का अग अंग नाच उठा। अप्सराएँ हीरों के हार से शृंगार करने लगीं। ऐसे समय में तूने अपने प्रण पर अटल रहते हुए अश्वारोही होकर, वड़े साहस से युद्ध भूमि में प्रवेश किया।

हे चौहान, सेना के भार से, पृथ्वी का भार वहन करने वाले शेष नाग और कछुए डोलने लगे। वीरों का भयंकर युद्ध देख कर अप्सराएँ आकाश मार्ग से विमान में बैठ कर अपने हाथों में वर माला झुलाती हुईं युद्ध भूमि में उपस्थित हुई। रण भूमि में नगारों का भीषण घोष होने लगा। चारों ओर शत्रुओं के क्रोध की ज्वाला फैल रही थी। ऐसे समय में हे वीर ! तू तलवार व भाले से वार करता हुआ रण भूमि में आगे वढ़ा।

हे वीर चौहान ! युद्ध में तेरे पक्ष के योद्धाओं के मस्तक में क्रोध की ज्वाला धधकने के कारण घमासान युद्ध होने लगा। जिसमें वीरों

की हुंकार से तथा डमरु और डाक की ध्वनि से आकाश गूंज उठा। उस समय वीरों के नेत्रों से शिव के तृतीय नेत्र के समान क्रोध की ज्वाला उत्पन्न होने लगी। हे योद्धा तू उस समय सिंह और यमराज के समान होकर 'गढ़ी' स्थान के दुर्ग पर शत्रुओं से अश्वारोही हो युद्ध करने लगा।

हे चाहुग्रान ! तू इन्द्र के वज्र के समान कठोर और राम के बाण के समान तीक्ष्ण शस्त्रों द्वारा, हनुमान के सिंधु पार जाने के साहस के समान साहस करके शत्रुओं पर वार करने लगा। तू काले नाग से गरुड़ के समान रुष्ट हो तथा शंकर की जटा में से उत्पन्न वीर भद्र के समान क्रोध भर कर, शत्रुओं को तलवार से प्रलय के समान नष्ट करने लगा।

हे रावत ! विलक्षण रूप से नगारों की ध्वनि कराते हुए अखाड़े रूपी युद्ध भूमि को अपनी सेना द्वारा कुचल दिया। हाथियों को होदे सहित भूमि पर गिराने लगा। हे वीर ! तूने आवेश में आकर शत्रु-सेना का पीछा कर अनेकों वीरों को तलवार चलाकर धराशायी किया तथा अनेकों को रणभूमि से भगा दिया॥

अग्नि की ज्वाला के समान चम चमाती हुई तलवारों से योद्धागण वैकुण्ठ के ताले तोड़ने लगे। शंकर अपने साथ अपने पुत्र गणपति को लिये, मुण्डमाला पिरोने लगे। हे अमरसिंह के पुत्र तूने अपनी तलवारों के बल से सतारा के स्वामी मरहठों को उनके हाथियों सहित नष्ट कर डाला।

हे साहसी उदयसिंह ! तूने युद्ध भूमि में अश्वारोही होकर मरहठों के साथ बड़े क्रोध से युद्ध में अनेक शत्रु सैनिकों के शरीर में शस्त्रों के घाव किये ! रण–भूमि में मरहठों के रक्त को बहा कर जसवंत राव होल्कर के अभिमान को नष्ट किया। हे योद्धा ! विशाल सेना को नष्ट कर तूने पृथ्वीराज के वंश का तथा अपना गौरव अमर कर लिया॥

६८ राज राघवदेव सिंह झाला, देलवाड़ा [१]

गीत (बड़ा साणौर)

अलग हूँत आया भला राणरा ऊमरा,
नगारां बाजतां प्रशण नमिया ।
रुधे कुरम कटक डगंतो राखियो,
डीगरा धणीरा कटक डगिया ॥१॥

मानसुत धनो फोजां तणो मोड़बी,
वाग ऊपाड़तां खाग वागी ।
पाटरा धणीरा थाट रहिया पगां,
झाटरा कटक सिर आग जागी ॥२॥

बहोत अरियांण तुंहीज समंद विरोले,
तूं ही दल डूबता थका तारे ।
राण रा भीच ढुढ़ाड ओले रहे,
धणी चीत्तौड़ रो अंजस धारे ॥३॥

आदरे नहीं भारत सजा अभ नमा,
छडालां खवंता बात छोटी ।

टिप्पणी:—१ जब जयपुर के महाराजा माधोसिंह और भरतपुर नरेश जवाहिरमल जाट के बीच वि० सं० १८२४ ई० सन् १७६७ में युद्ध हुआ। तब जयपुर के राजा माधोसिंह ने उदयपुर के महाराणा अरिसिंह के साथ सैनिक समझौता किया। इस समझौते के अनुसार महाराणा की सेना जयपुर की सहायतार्थ भेजी गई जिसमें देलवाड़ा का सामन्त राघवदेव भी था। इस युद्ध में झाला राघवदेव ने जिस वीरता का परिचय दिया; उसी का इस गीत में उल्लेख किया गया है।

समर री जाण वाजी भली सुधारी,
महीपत व थारी बात मोटी ॥४॥

कुल उजलो करे घरे आया कुशल,
भड़ां सह कमल्ल कीध भाला ।
हीये अबर प्रसणा घणो हालियो,
झालियो उगंतो आभ झाला ॥५॥

भलो जल चाडियो चित्तौड़ रा भाखरां,
लाखरा दलां विच उरस लागो ।
तेंही जीताड़ियो धणी जेंपुर तणो,
भरतपुर तणो सिरदार भागो ॥६॥

पाटड़ी छात रजवाट धर्म राखतां,
करतां उवेलणा धणी कीधी ।
हेक राजा तणी पीठ सबली हुई,
दूठ राजा बीयां पीठ दीधी ॥७॥

(रचयिता:—अज्ञात)

भावार्थ:— हे राघव देव ! जयपुर के कछवाह नरेश की सेना के चरण, शत्रुओं के सामने युद्ध-भूमि से डिगने लगे । उस समय हे राणा के उमराव, इतनी दूर से अपनी सेना लेकर ओज पूर्ण नगारे बजाता हुआ तू जयपुर के युद्ध में जा पहुँचा, तेरे प्रेरणादायक नगारों के स्वर सुनकर प्रति पक्षियों ने शीश झुका दिये और जयपुर की सेना का पक्ष प्रबल कर तूने डींगर के स्वामी की सेना के पग डिगा कर उन्हें भगा दिया ॥१॥

शत्रु सेना को भगा देने वाले हे मानसिंह के पुत्र ! तूं धन्य है। तूंने अश्वारोही होकर घोड़ों की रासें तानते हुए शत्रुओं पर तलवारों की वर्षा करदी। जिससे जयपुर नरेश की सेना के चरण दृढ़ होने लगें, और जाट सैनिकों (वीरों) में क्रोधाग्नि भड़क उठी ॥२॥

हे महाराणा के योद्धा ! समुद्र के समान अपार सेना को विचलित करने वाला और जयपुर नरेश की रक्षा करने वाला–तू ही था। तेरी वीरता के कारण ही ढूंढाड़ प्रदेश की रक्षा संभव हुई और इससे चित्तौड़ के नरेश भी गौरवान्वित हुए ॥३॥

श्री सजा ! (राघवदेव के प्रपितामह) के समान ही हे वीर राघव-देव, तू कभी साधारण युद्धों में भालो का प्रहार नहीं करता है। तूने इस भयंकर युद्ध को असाधारण जान कर जयपुर नरेश के सम्मान को रख लिया ॥४॥

हे झाला ! गिरते हुए आकाश के समान तूने इस युद्ध का भार अपनी प्रबल भुजाओं पर उठा लिया। जिससे प्रति पक्षियों के हृदय में तेरा साहस खटकने लगा। तू सभी वीरों सहित भालों को रक्त रंजित कर अपने कुल को उज्जवल कर पुनः आ गया ॥५॥

हे वीर ! तूने असंख्य सैना में आकाश की ओर अपना शीश ऊपर उठा कर युद्ध किया। जिस का गौरव चित्तौड़ की शैल मालाओं तक छा गया। तूने ही भरतपुर नरेश को पराजित कर जयपुर नरेश की विजय-ध्वजा फहराई ॥६॥

हे पाटड़ी-स्वामी के वंशज ! तूने जयपुर नरेश की सहायता कर क्षत्रिय-कुल-गौरव एवं धर्म की रक्षा करली। हे नरेश ! इस युद्ध में अन्य नरेश पीठ दिखाकर विमुख हो गये केवल तेरी सहायता ही सफल हुई ॥७॥

६९. राजा उम्मेदसिंह सिशोदिया, शाहपुरा[१]

गीत– (सु पंख)

वग आवरत पवन महाराज वखते विढण,
सरोतर तोलतां पाण अवसाण ।
नगां पत कूरमां नाथ चलतां नगां,
खगां पत हुओ अवछाड़ खूमाण ॥ १ ॥

वायधिक अधिक दूजो गजण वाजतां,
हूंता दहुवै तरफ पाण हमराह ।
मेर गिर चल-विचल थयो जैसींघ महि,
गुरड़ भारथ रै ढके गज गाह ॥ २ ॥

अनिल वल चहूँ वहतां प्रबल अजावत,
सिखर नूं ऊपड़ै गज धजा सामेत ।
गिरन्द कछवाह होतां कदम चलत गत,
खगिन्द्र दूजे दले ढाँकिया खेत ॥ ३ ॥

समर महि धाड़ अवनाड़ ऊमेदसी,
इतो जग तीख जोतां सवल आज ।

टिप्पणी:—१—वि० सं० १७९७ ई० सन् १७४० में अजमेर के पास गंगवाणां में जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह और जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के बीच युद्ध हुआ, उसमें नागोर का स्वामी राजा बख्तसिंह भी शामिल था । इस युद्ध में जयपुर की ओर से शाहपुरा के राजाधिराज उम्मीदसिंह ने भी भाग लिया और अपने प्रचण्ड पराक्रम से नागोर के स्वामी बख्तसिंह को परास्त कर उसकी सामग्री छीनली । इस गीत में उपर्युक्त युद्ध का उल्लेख है !

आठमो भाग गिर–राज रो गयो उड,
राखियो अडिग अणियाँ सहित राज ॥ ४ ॥
(रचयिता:–कविया अनूपराम)

भावार्थ:– हे सिशोदिया उम्मेदसिंह, जिस समय जोधपुर नरेश-वख्तसिंह ने तुलारूपी भुजाओं पर अपना साहस तोलते हुए, पवन के के समान प्रचण्ड वेग से जयपुर की ओर युद्ध करने हेतु प्रस्थान किया, उस समय पर्वत के समान अटल जयपुर के स्वामी के चरण भी डग मगाने लगे। तव तूँ ने गरूड़ के समान द्रुत-गति से जाकर युद्ध–भूमि में जयसिंह की रक्षा की ॥ १ ॥

हे भारतसिंह के पुत्र। जिस समय गजसिंह का वंशज प्रचण्ड पवन के समान जयपुर नरेश-रूपी पर्वत को विचलित करने लगा था। उस समय तूने भी, जिस प्रकार गरूड़ पर्वत की अपने पंखों से रक्षा करता है, उसी प्रकार पर-रूपी अपनी भुजाओं से जयपुर नरेश की रक्षा कर उसके गौरव को वचाया ॥ २ ॥

द्वितीय दलेलसिंह के समान हे वीर उम्मेदसिंह, जिस समय अजीत-सिंह का पुत्र प्रचण्ड पवन के समान युद्ध भूमि में पर्वत के समान अटल जयपुर-नरेश के ध्वज को उखाड़ने लगा और जयसिंह के पैर डग मंगाने लगे, उस समय तूने गरूड़ के समान द्रुतगति से आकर जयपुर नरेश की रक्षा की ॥ ३ ॥

हे उम्मेदसिंह, जिस समय युद्ध सि में मेरु के समान जयसिंह की सेना का आठवां भाग नष्ट हो गया और सेना सहित कछवाहा युद्ध–भूमि से पराजित हो भागने लगा, उस समय रणागंण में जयपुर नरेश की भीरूता को तूने छिपा लिया। राज्य की भूमि रक्षा हेतु इस प्रकार वीरता और शौर्य द्वारा जो तू ने किया, उसकी सव प्राणी प्रशंसा करते हैं ॥ ४

७० राजा उम्मेदसिंह सिशोदिया, शाहपुरा

गीत [सुपङ्क]

झंडो ऊपड़ै थयंडां थाट तंडां सूरवीरां झुरुडै,
भासै सार तंडां पूर पतंगां सुमेद ।
जाडा थंडां क्रोध चाढ मिलाया वखते जोध,
आडा खंडां मारू थंड़ां जिलाया उमेद ॥१॥

आतसां जागियां झाला झंयां चाढ़ झूलां ऊंडै,
दंडाला कराला दान रूड़ै थालै दीह ।
नीमजे वाणासां आयो अजारो विहतो नाग,
सार वोहरतो खेत भारथ रो सीह ॥२॥

चोल मैं वणावं सूरां कायरां अकूटा चाला,
एकठा वारंगां झुरुडां होवंतां उछाह ।
छूटां धोम आत सां दुरदां तूटां कंध छकै,
वूठा लोहा अणी धारां रूठा महा वाह ॥३॥

हाको हाका ऊपड़ै वेंडाका साम्हा खेत हक्कै,
छाकां सूर लोहां वोहां दुरदां विछोड़ ।
डाकां वागां ईजालै जोधाण जोध थालै दीह,
चाका वंध भल्ला भलो दिखाड़ै चितौड़ ॥४॥

जमा डाढां साचवै हकालै वलां महा जोध,
नीहसै वागां सां वाढ़ गाजियो निहाव ।

अधायो उमेद रोलै गाढ़ थंभ रहे ऊभो,
रोलै धाप हालियो गाढै मारू गन ॥५॥

(रचयिताः—भादा हरदान)

भावार्थः— शंकर के ताण्डव नृत्य के समान युद्ध क्रीड़ा करने के लिये शत्रुओं का समूह घोड़ों पर अपनी ध्वजा लहराता हुआ एकत्रित हुआ और इस कुतूहल प्रद युद्ध को देखने के लिये सूर्य भी स्थिर हो गया। तब अपने बलवान वीर-समूह के साथ क्रोध में आकर वख्तसिंह भी युद्ध-भूमि में आ शामिल हुआ और उम्मेदसिंह शत्रु-वीर-समूह के तिरछे घाव लगाकर उसे युद्ध-भूमि में घुमाने लगा ॥ १ ॥

आतिश बाजी की तरह तोपें और बन्दूकें चलने लगीं। उनके बारूद से प्रकाश होने लगा। वीर अपने कुल-गौरव को ऊँचा उठाने के लिये मध्यान्ह में भयंकर नगारे बजाने लगे। उस समय ऐसे भयंकर सैन्य-समूह से भिड़ने के लिये खिजाये हुए सर्प की तरह अजीतसिंह का पुत्र बख्तसिंह हाथ में तलवार उठा कर आया और इधर से भारतसिंह के पुत्र उम्मेद सिंह ने तलवार से रणक्षेत्र झाड़ते हुए सामना किया ॥ २ ॥

लाल वस्त्र धारण किये हुए कायरों के साथ वीर-गण बेहद छेड़छाड़ करने लगे। उस समय अप्सराओं का समूह एकत्रित हो गया और प्रचण्ड वीरों द्वारा शस्त्रों की चोटों से, तोपों और बन्दूकों के प्रबल प्रहार से-मदोन्मत्त हाथियों के कंधे टूटने लगे ॥ ३ ॥

अश्वारोहीं योद्धा वीर हुंकार करते हुए युद्ध-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए और घावों से छके हुए वीरों ने हाथियों को धड़ों से अलग कर दिया मध्यान्ह में नगारे बजाकर जोधपुर-नरेश के सैनिक वीर जोधपुर को उज्जवल करने लगे और उधर चित्तौड़-पति के वीर भी उन्हें चारों ओर से घेर कर विशेष बहादुरी दिखाने लगे ॥ ४ ॥

युद्ध में बड़े-बड़े योद्धा, सैनिक वीरों को ललकारते हुए कटारियों के वार करने लगे और शत्रुओं के घाव करती हुई तलवारों की झंकार

से आकाश गूंज उठा। ऐसे समय में उम्मेदसिंह युद्ध-कौतूहल के बीच स्तंभ की तरह अडिग पैर जमा कर खड़ा रहा और युद्ध से तृप्त होकर अडिग रहने वाला राठौड़ रणांगण में वापस लौट गया ॥ ५ ॥

७१. राजा उम्मेदसिंह सिशोदिया, शाहपुरा

गीत

पंथिया वातड़ी न जिण तणी पछ, जिण दिन भारथ जागा।
दिखण दलां राण छल दारण, विजड़ां कुण कुण वागा ॥ १ ॥
लाखां तणा पटायत लड़िया, चूण्डा झाला चंगा।
एकण भूप उमेद ऊपरा, असमर वगा अहंगा ॥ २ ॥
माधोराव तणा भड़ माझी, वल सवलां विप वूठा।
भारथ तणा तणें सिर भारा, विजड़ां अगणित तूठा ॥ ३ ॥
मूज्यां जहीं असनमां सूजो, कलहण राजां कलेगो।
धड़ धजवड़ां मिलेगो धारां, मनसा जात्र मिलेगो ॥ ४ ॥ ४ ॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थः- कवि पूछता है कि "हे पथिकों, अन्य बातों को छोड़कर, महाराणा और दक्षिणियों के मध्य भयंकर युद्ध हुआ, उस में किस किस वीरों ने तलवार चलाई, उसका वृत्तान्त मेरे सम्मुख करो ॥ १ ॥

उज्जैन से आने वाले पथिकों ने कहा "शिरोमणि चुण्डावत एवं झाला जो कि लाखों रुपये की सम्पत्ति के जागीरदार हैं" उन्होंने तलवार चलाई। किन्तु केवल मात्र उम्मेदसिंह के ऊपर ही शत्रुगण भयंकर तलवार चलाते थे ॥ २ ॥

माधवराव की सेना के मुख्य-मुख्य साहसी योद्धाओं ने शस्त्रों की बोछार कर दी और भारतसिंह के पुत्र उम्मेदसिंह पर असंख्य तलवारों को प्रहार करते करते तोड़ डाली ॥ ३ ॥

सुजानसिंह और सूर्यमल के समान वीर उम्मेदसिंह, तूं शत्रुओं के हाथियों को धराशायी करता हुआ, अन्त में वीर गति को प्राप्त हुआ। उम्मेदसिंह के शरीर के अंग छिन्न भिन्न होकर रण भूमि में मिल गये तथा उनकी आत्मा परमात्मा की दिव्य ज्योति में लीन हो गई ॥ ४ ॥

७३. राजा उम्मेदसिंह सिशोदिया, शाहपुरा

गीत (बड़ा साणौर)

लियां भूप ऊमेद गज गाह लड़ लोहड़ां,
लागियाँ डाण गज गाह लटकै।
वेख गजराज गत राणियाँ वखतसी,
खांत तण हिये गज राज खटकै ॥१॥

तड़ कमंध गाँजिया लिया भारथ तणौ,
भांजिया कटक वनराव भूखै।
सम गयन्द नारियाँ चाल पेखे सुपह,
हुआ रड़माल उर गयन्द दूखै ॥२॥

पामिया मोड़ सामंत कायल पुरे,
मग वणै दंत वग पंथ माला।
कामणी गवण मैमंत उमंगां करै,
कंथ चित चुभै मैमंत काला ॥३॥

गजां गत वेख गजराज चूड़ा गरक,
सोभ गज मोतियाँ भार सारा।

जीवड़े आद गिरि गजां जागिया,
बखतसी राणियाँ न दे बाग ॥४॥

(रचयिता:—कृपाराम महड़ु)

भावार्थ:—हे उम्मेदसिंह; तूने शत्रुओं से लड़ कर शस्त्रों द्वारा हाथियों को कुचलते हुए कुछ हाथियों को अपने पराक्रम से हस्तगत कर लिया तथा कुछ को घायल कर जब जोधपुर के राजा बख्तसिंह अन्तःपुर में जाता था तो उसे गज- गामिनी रानियों को देख कर, युद्ध स्थल के हाथी स्मरण में आते थे। जिसमें हाथियों की स्मृति निरन्तर हृदय में खटकती थी ॥ १ ॥

हे भारतसिंह के पुत्र ! तूने क्षुधातुर सिंह की भांति सेना को पराजित कर तूने राठोड़ नरेश को परास्त कर दिया। हे दूसरे रणमल के समान वीर बख्तसिंह, जिस समय अन्तःपुर की गजगामिनि रानियों की चाल देखता तो उसे युद्ध स्थल में खोये हुए हाथियों की स्मृति हो आती थी। यह स्मृति उसके हृदय में बड़ी पीड़ा करती रहती थी ॥ २ ॥

हे सिशोदिया, उम्मेदसिंह तेरे द्वारा नष्ट किये हुए हाथियों के दांत इस प्रकार पंक्ति में पड़े हुए थे मानों श्वेत बगुलों की पंक्ति हो। इस पंक्ति को देख कर उनके मदोन्मत्त हाथी की स्मृति हृदय में खटकती रही ॥३॥

बख्तसिंह—जिस समय अन्तः पुर में जाता उस समय गज-गामिनि रानियों के वक्षस्थल पर गजमुक्ताओं के हार तथा हाथों में हाथी दांत की चूड़ियों को देखता तो उसे अपनी पराजय और हाथियों की स्मृति हो आती थी। अतः वह रानियों को अपने अन्तःपुर में निश्चित तिथि और समय पर भी आने से मना कर देता था ॥४॥

७३ राजा उम्मेदसिंह सिशोदिया, शाहपुरा

गीत—(सुपंख)

दोला दूसरा उमेदसिंघ आवला मेलिये दला ।
चोट इक हकै सु चंचला धकै चाढ़ ॥
मेली खाक साख में अंजली जोड़ आण मली ।
वली डली डली की ग्रुमांण खला वाढ़ ॥१॥
कटांवेस्र भाड़ भाड़ा पहाड़ सेंलोट कीधा ।
वंस रांण मेवाड़ा अहाड़ा चढ़े वांन ॥
बड़ा आसवासी जिके वांकी ठोड़ तणां वासी ।
मीणां खासी रेत किया मेवासी अमान ॥२॥
धाड़-धाड़ पाथ रुपी भाराथ रां गादी धर्णी ।
पंजाया देखाया मेले सेनां साथ पूर ॥
अरी वाढ काढिया आटूं पेराकियां ।
सूधा कियां त्रंबाकियां वजावै राजा सूर ॥३॥

(रचयिताः—अज्ञात)

भावार्थः- दूसरे दौलत सिंह के समान उम्मेदसिंह ने सेना सहित एक ही बार घोड़े पर चढ़ कर शत्रुओं पर आक्रमण किया और विपत्तियों की शाखा को खाक में मिला दिया जिससे शत्रु हाथ जोड़ कर सामने आ गया। सिशोदिया ने युद्ध स्थल में प्रवेश कर शत्रुओं के घाव लगा उनके टुकड़े २ कर दिये ॥

मेवाड़ के राणावंशज सिशोदिया ने अपने गौरव को बढ़ाने के लिये पहाड़ों के झाड़ झंखाड़ों को साफ करा खुला मैदान बना दिया और विकट पहाड़ों में रहने वाले मीणों, गरासियों और भीलों (जो डाके डाला करते थे) को अपने अधीन कर लिया।

हे भारत सिंह के उत्तराधिकारी उम्मेदसिंह ! अर्जुन के समान तेरे साहस को धन्य है। हे शूरवीर नरेश ! तुमने आठ अश्वारोहियों से शत्रुओं को मार कर निकाल दिया और न जाने कितनों को नक्कारे बजवा कर सीधा कर दिया ॥

७४ राजा उम्मेदसिंह सिशोदिया, शाहपुरा

गीत [बड़ा साणोर]

दुरंग बणाहड़ा सहित सरदार अड़ते दियो ।
जमो असमान बिच सबद जड़ियाँ ॥
हाथियां तणो ऊमेद वड़ हीड़ाऊ ।
पड़ाऊ लियण रो व्यसन पड़ियाँ ॥ १ ॥

बरूथां बीर चाला करण बुलावै ।
थरहरां डुलावें पिसण थांनां ॥
मदभरां भारथ रो टका नहँ गुलावै ।
खाग बल खुलावै फील खानां ॥ २ ॥

सूजहर मिले अधियामण साज सूं ।
जेत खंभ आज रो किला जेरे ॥
बारण लियण हेरे नहं बिसाती ।
हथीड़ां दूकलां खला हेरे ॥ ३ ॥

तड़ां अन तड़ां सीसोद कीधां तंडल ।
रहचकां रांण सुरताण रीधां ॥
सिंधुरां पड़ाउ लियण बंध सेहुरां ।
देहुरां देहुरां चाढ़ दीधां ॥ ४ ॥

[रचयिता:—अज्ञात]

भावार्थ—युद्धारंभ होते ही सरदारसिंह ने वनेड़ा सहित किला सौंप दिया। जिससे हे उम्मेदसिंह ! धरती और आसमान के बीच तेरी कीर्ति फैल गई है। बड़े २ हाथियों को खुलवा कर छीनने की तेरी आदत ही पड़ गई है।

शूरवीर शत्रुओं से छेड़छाड़ कर उनको अपने स्थान से डांवा डोल कर देता है और कंपा देता है। हे भरतसिंह के पुत्र ! तूं मूल्य देकर हाथियों को खरीदता नहीं है। तूं तो अपनी तलवार की ताकत से ही दुश्मनों की हस्तिशाला से हाथी खुलवा लेता है।

हे सुजानसिंह के पौत्र ! तूं अजीब तरह से अपनी सेना को सजाकर चढ़ाई करता है और विजय का स्तंभ बन कर शत्रुओं के किलों को जीत लेता है। तूं हाथियों को खरीदने के लिये उनके व्यापारियों को ढूंढता किंतु तूं हाथियों सहित शत्रुओं को खोजता है।

संगठित और असंगठित शत्रुओं को तूं ने नष्ट कर दिया है। तेरे शौर्य को देखकर बादशाह आश्चर्यान्वित हो गया और राणा ने प्रसन्नता प्रकट की। हे उम्मेदसिंह तूं ने शत्रुओं से हाथियों को लेकर बहुत से देव मंदिरों को भेंट कर दिया है।

७५ राजा उम्मेद सिंह सिशोदिया, शाहपुरा

गीत (छोटा साणोर)

सफरा असनान खाग धारां सिर—
उतरा रवि क्रम क्रम असमेद ॥
जुध में भड़ा चाहिजे जतरा।
अतरां प्रव पामिया उमेद ॥१॥
बांधे नेत राण छल वागो।
मग मग जग साधे धर मोद ॥

ईसर-गवर मिलिय आराधे ।
सही मो सिर लाधौ सीसोद ॥ २ ॥

जसढ़ो हो तो देग वट जाहर ।
तेग वगां मृत कियो तिसो ॥
भारी लोण रांण छल भिड़ियो ।
जुड़ियो खेत उजेंण जसो ॥ ३ ॥

कैलपुरा कमंधां कछवाहां ।
ध्रवियां ऊगे सदा धन ॥
जुड़वे मरण हुवो जूड़ारां ।
दातारां तणो इणो दन ॥ ४ ॥

सूरां नरां मरण री सरायो ।
कवि गाया सुजस जे कंठ ॥
भारी छल पाया भारथाणी ।
वधाविया देवां वैकुंठ ॥ ५ ॥

(रचयिता:-अज्ञात)

भावार्थ:- क्षिप्रा नदी के पवित्र स्थान की गंगा का स्नान, तलवार की धार से रक्त रंजित होना, सूर्य की चाल उत्तरायण को देख कर युद्ध भूमि में तूं प्रति कदम अश्व मेध यज्ञ का फल प्राप्त करते हुए हे उम्मेद-सिंह, तूं ने मेरे पुण्य का दिन प्राप्त किया। वीरों के लिये युद्ध भूमि में पुण्य प्राप्त करने के लिये जितने साधन होने चाहिये उतने ही तुझे उपलब्ध हुए॥

महाराणा के लिये तूंने मस्तक पर विजय चिन्ह धारण कर युद्ध किया और युद्ध में हर्ष युक्त बढ़ते हुए अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त करने

की साधना की। हे सिशोदिया ! युद्ध भूमि में शंकर और पार्वती मिल कर तेरे मस्तक के हेतु तेरी आराधना करते थे उसी प्रकार उनको तेरे सिर का लाभ मिला ॥

गौरव के साथ जैसा तू युद्ध करता है वैसा ही तूं शत्रुओं पर तलवार चलाता है और महाराणा का नमक उज्ज्वल करने के लिये तू ने प्रतिपत्तियों के शस्त्रों द्वारा अपनी मृत्यु प्राप्त की ॥

हे सिशोदिया ! राठौड़ और कछवाहा नरेशों से समय समय पर तू लोहा लेता रहता था। हे वीर ! तूं दानवीर और युद्ध वीरता में निपुण था, जिससे तुझे यह पुण्य समय प्राप्त हुआ ॥

स्वर्ग लोक में देवताओं ने और पृथ्वी पर मनुष्यों ने तेरे इस मृत्यु के अवसर को देख कर तेरी सराहना की और कवि लोगों ने मुक्त कंठ से तेरा यशोगान किया है। हे भारतसिंह के पुत्र। उक्त समय अच्छा प्राप्त किया जिससे स्वर्ग में देवता लोगों ने तेरा भली प्रकार स्वागत किया ॥

७५. राजा उम्मेदसिंह सिशोदिया, शाहपुरा

गीत—(सुपंख)

पला बांध रायजादा पणे दोय सोवा पातसाई ।
खहे कला हूंत जे उथाप दीधा खेद ॥
माण धारे दूजा भूप इस हेक मामला सूं ।
अनेक मामला सूं इसा खाटिया उमेद ॥१॥

जसो नाथ कुरम्भां कमंधां अभो जेठी ।
वानेत चीतोड़ नाथ जगो महावीर ॥
केही वेलां खिजाया या तीना हूंतां भूठो कल ।
केही वेलां हरोलां व्हे रिझाया कण्ठीर ॥२॥

बखचोस वाला दलां चाढाक बाग सा बागो ।
हुवो बूंदी हूंतां दलो काटाक हींकोट ॥
बारा सूं भूठो क्रोध गाढाक गनीमां आगे ।
भाभी धके चाढाक गनीमां माल कोट ॥३॥

भाराथ ढीकोला कीधा भांजिया भुरट्टो भीच ।
सेन दोला कीधा कीधो जनकूं साकेल ॥
गयोंदव सुधां मोला भागे सात गेला कीधा ।
ओलो लीधा जगो बाथ ऊबरे आंकेल ॥४॥

जाजनेरां, सांवरा, नूं लूटिया जहान जाणे ।
सारा जोम हीण होय छूटिया मीमाड़ ॥
बणेडो, कोठियां कला तूटिया जे धके बागां ।
वलीग मेवासां भाग खूटिया बेह्राड़ ॥५॥

दे दे रीभ हजारां कविन्दां नूं नवाज दीधा ।
सोभाग हजारां लीधा ताल सोमवान ॥
हजारां भाराथ कीधा भूरै ऊभे गहां हूंत ।
ऊभे गहां हूंतां कीधा हजारां आसान ॥६॥

हिंदवाण नाथ हूंता हिंदवाण द्रोही व्हेता ।
जोधाण आंम्बेर सोही पालटे जे वार ॥
दाखियो दिवाण राज मो थंभे न कोही दूजो ।
भारान रा महावीर तोही भुजां भार ॥७॥

बाज डंकां अंबाला आतंका लाग वेरी हरा ।
रसा बोध काज धंकां धारियां सीरी सोद ॥
पृथी नाथ बाला बांज बाबां माथै वेल पूगो ।
सदा वीर हाकां माथै बाहरू सीसोद ॥८॥

आंबानेर जोधाण नाथरो भेद खेद ऊठो ।
सतारा नाथरौ भूल हे जमां समाग ॥
ऊठी सारा साम द्रोहां साथ रो संगाथ एतो ।
माराथ रो अठी हेका हेकी भूरो बाथ ॥९॥

खूंटा भंडां हबोला हे थंडां भू वेहरी खुरां ।
सूर ढंकां खेहरी भू मंजं नसा नेम ॥
रोला काज तेहरी थटेत आया राजा माथै ।
जटेत केहरी दोला फीलां टोल जेम ॥१०॥

एहा थोक लाखां उदेनेर दोला आंय लागे ।
तास तोपां ताव बागै कायरां भू तांम ॥
पतो वीजो चढ़ रूकां न्याय बागे जठे पैलां ।
सारा एके धाय भागै पाथरै संग्राम ॥११॥

मार दीधा हेकले नीसाण लम्बी सूछा किया ।
तेग पाण सूधा किया छाकिया तो सेल ॥
ईखे तेज राजारो धाखिया संधी ओट लधी ।
जठे राजा संधी माथे हाकिया जो सेल ॥१२॥

खुरां मेल चटालां पतालां घू नेजालां खूटा ।
रच ताला माथ चाला दीठा काल रूप ॥
लाय झाला क्रोध भूरो बुठतो चगालां लोह ।
भूरो वीर चाला काज पूरो एसं भूप ॥१३॥

जोधारां तोखारां व्हे दवासूं भेल्यां जगदालां ।
दवा सूँ कराला नाद वाजिया दुजीह ॥
कड़े चढ़े भड़ां फौजां दवासूं दैठालां कीधा ।
आंसां मांसा फीलां झंड़ा फाविया अवीह ॥१४॥

डंके वेद लंका ज्यां अपारां कंकां थोक आया ।
काली वीर कलकके थोगा का प्याला काज ॥
हूरा रंथ हजारां गैणाग ढका रथां हूँत ।
गोम गांकां नाथ धाया नाथ डेरू डंका गाज ॥१५॥

लाग्रां बाण गोला गैं नखत्रां ज्यूं तूटवा लागा ।
सेसरा तूटवा लागा भार हूँ सुमेद ॥
लागा सरां सेला फील मजोंड़ फूटवा लागा ।
यूं चौंड़ जूटवा लागा माथ ने उमेद ॥१६॥

टूट ऊमां चाकारे पेखतां काचा प्राण दाके ।
भड़ां नाथ जागे तेज जागे जेठ भाण ॥
रूक वाजे यां अनेक हजारां गलांमां गले ।
भाजे एक हजारां सूं दूसरे सुजाण ॥१७॥

भूपे थांम अरावां गैणाग तांई थांम न्यारो ।
कंध कोम लागो फोजां मचोले कागाथ ॥

रावोदेव झाला और सौलह उमरावों द्वारा महाराणा ने देवगढ़ वाले जसवन्तसिंह के ऊपर आक्रमण करवाया। उस समय हे वीर उम्मेदसिंह, तू ने जसवन्तसिंह का पक्ष लेकर उसकी ओर से युद्ध किया ॥ ४ ॥

हे वीर, तू ने जहाजपुर व सावर को लूट कर सारे प्रान्त में आतंक फैला दिया। जिस से शाहपुरा के समीपवर्ती राजा इधर उधर भयभीत होकर आश्रय लेने लगे। बनेड़ा नरेश ने तेरा सामना किया पर तू ने बड़ी वीरता से नरेश का राजप्रासादों सहित विनाश किया। पर्वत प्रदेशीय डाकुओं को नष्ट कर उनके अभिमान को नष्ट कर दिया ॥ ५ ॥

हे भाग्यशाली वीर, तूने सहस्त्रों कवियों को दान देकर उन से प्रशंसा प्राप्त की। हिन्दुओं और मुगलों से अनेकों समय तू ने युद्ध कर निर्बल पक्ष की सहायता की। जिससे तूने दोनों जातियों से समय-समय पर प्रशंसा प्राप्त की ॥ ६ ॥

जोधपुर और आमेर नरेश ने जब मिल कर मेवाड़ के महाराणा के ऊपर आक्रमण किया। उस समय हे वीर, महाराणा ने मेवाड़ की रक्षार्थ, इस युद्ध का समस्त उत्तरदायित्व तेरे कंधों पर ही छोड़ा। महाराणा कहने लगे कि, हे भारतसिंह के वीर पुत्र, मेवाड़ राज्य का भार तेरे ही कंधो पर छोड़ता हूँ क्योंकि अन्य में इस भार को वहन करने की सामर्थ्य नहीं हैं ॥ ७ ॥

हे योद्धा, तेरे नगारों के घोष से शत्रु भय से कम्पित हो जाते थे। मेवाड़-भूमि की रक्षा के लिये तू ने चारों ओर आतंक फैला दिया। हे सिशोदिया, तू ने नक्कारे बजाते हुए योगियों से भी युद्ध किया। इसी प्रकार तू सदैव निर्बल पक्ष की सहायता रण-भूमि में बड़ी वीरता के साथ करता था ॥ ८ ॥

जयपुर के कछवाहा एवं जोधपुर के राठोड़ वीरों के मन में ईर्ष्या होने के कारण सिंधिया के साथ मिल कर जिन में मेवाड़ के विद्रोही

सामन्त भी थे, मेवाड़ के ऊपर आक्रमण किया। उस समय हे भारत-सिंह के पुत्र, तूने सिंह के समान क्रुद्ध होकर स्वामी के हेतु-रणस्थल में प्रयाण किया ॥ ९ ॥

उस समय रण-भूमि में झंडे लहराने लगे और अश्वों के खुरों से पृथ्वी कुचली जाने लगी। घोड़ों के पैरों द्वारा उड़ती धूलिकण की आड़ में सूर्य छिप गया और पृथ्वी पर अन्धकार ही अन्धकार छा गया। जयपुर, जोधपुर और सिंधिया आदि सैनिक वीरों से शाहपुरा के विरुद्ध युद्ध करने के लिये सिंह रूपी शाहपुरा नरेश को गजरूपी सैनिकों ने चारों ओर से घेर लिया ॥ १० ॥

हे उम्मेदसिंह, प्रतापसिंह के समान वीर, अनेकों समय शत्रुओं द्वारा उदयपुर को घेरे जाने पर तू ने प्रचंड तोपों की गर्जना के मध्य युद्ध किया। अपनी तलवार के वार से शत्रुओं के शरीर में तू ने अनेकों घाव लगाये, यह देख कर भीरू सैनिक कम्पित होने लगे ॥ ११ ॥

हे वीर, तू अकेले ही शत्रु सेना से युद्ध करता हुआ, उनके नगारे और झण्डों को नीचे गिराने लगा। इस प्रकार सिंधिया सैनिकों पर क्रुद्ध होकर हे उम्मेदसिंह तू आक्रमण करने लगा। जिस से सिंधिया के सैनिक अपनी प्राण रक्षा हेतु आश्रय लेने लगे ॥ १२ ॥

माधवराव सिंधिया की सेना में घोड़ों की इतनी भरमार थी कि घोड़ों के खुर से खुर मिलने लग गये तथा हाथियों पर अनेकों ध्वज लहराने लगे। सिंधिया की सेना का विराट समूह काल के सदृश दृष्टि गोचर होने लगा। उस समय प्रज्वलित अग्नि के समान क्रोध में आकर तू शत्रु सेना पर प्रहार करने लगा और हे वीर, विरोधियों को चुनौती देने के लिये उनके सम्मुख जा पहुँचा ॥ १३ ॥

रण भूमि में दोनों ओर के अश्वारोही बख्तर पहने हुए अद्भुत वेष घोड़ों पर पाखर डाले हुए नगारे बजने लगे। दोनों पक्ष की ओर हाथियों

के वार से वीर गति को प्राप्त हुआ, अप्सराओं के विमान में विचरण करने लगा।

स्वर्ग लोक से गजा रूढ़ होकर इन्द्र आदि देवता तेरे स्वागत के लिये सम्मुख आये और स्वागत किया। हे सेना नायक उम्मेदसिंह, तू ने लाखों शत्रुओं को नष्ट कर कुल को उज्जवल करते हुए तलवार से कटकर सेना सहित विमानों पर आसीन होकर स्वर्ग की ओर प्रयाण किया ॥२४॥

जब तक सूर्य हिन्दुओं और मुगलों को प्रकाश देता रहेगा तब तक तेरा यश इस संसार में व्याप्त रहेगा। हे योद्धा इन्द्रलोक के अद्भुत झरोखे में बैठने के लिये आकाश मार्ग से तू पहुँच गया। हे वीर, जिस प्रकार रण के लिये तू प्रसिद्ध था उसी प्रकार से तू ने रण-भूमि में युद्ध किया। जिस की प्रशंसा संसार में विद्यमान रहेगी ॥ २५ ॥

७७. रावत पहाड़सिंह चुण्डावत, सलूम्बर १

गीत—(सुपंख)

आयो उरेड़ियो जोम रौ पटेल माथै धारे आंट।
रवचोस दूर हूँ तेड़ियौ काथै राग ॥
सांकलां हूँ लांधणीक हेड़ियो मीहतो सेर।
पूंछ चांप सूतो फेर छेड़िया पैनाग ॥ १ ॥

घाट ओढी पाहड़ेस धकेलतो नोढी धड़ा।
जड़ां खलां ऊखेलतो धरा छलां जाग ॥
गजां वोह वीच तुरी भेलतो वराथी गाढो।
लोह जाय मेलतो उरांथी द्रोह लाग ॥ २ ॥

वजाई कुवेर चढ़े वींद ज्यूं अनोप वाने।
अगोप गे भांजे यसो हाथलां उठाय ॥

अनाला करंतो होफ जंगां रोसा वक्र ओप,
कोप-तोप भालां लोप आयो महा काय ॥ ३ ॥

धूंत नालां उछाजतो भांजतो हाथियां धक्के,
धारू जलां गांजते अनेक घड़ा धींग ।
काल क्रीट ऊभांजतो ऊठियो लोयणां कोप,
नरवेधा दोयणां खंभ गांजतो नरसींग ॥ ४ ॥

चूंडै सोभादार किया खागरा ऊछाज चौड़े,
दिहूँ पासे चसम्मा आग रा तेज दीस ।
हेमरां अजेज वेग वाग रा उठाण हूँत,
सको हुआ नागरा मजेज हीण सीस ॥ ५ ॥

सन्नाहां न मावै सूर वड़ी-वड़ी नाच मूंडे,
आग भड़ी द्रोह ऊंडै चसम्मा अटेल ।
भड़ी खड़ी मूंछ भ्रहां लोहरे हडूंडे भांत,
पड़ी अड़ी राड़ चूण्डे अचूण्डै पटेल ॥ ६ ॥

आस मेद जागरा अमाप पांच दूत आवा,
आछै खांप हूँत दूत ओनागा अत्रीठ ।
लड़ाक सीसोद नेम गनीमां अहेत लागा,
नेत वंध वागा खेत अखाड़े नत्रीठ ॥ ७ ॥

रोक रोक तुरी भाण आराण विलोक रीझै,
विभ्र मोक त्रलोक गंवोक थोक बाज ।
वेध वेध सोक झोक तोक बाण सेल खाग,
सीसोद गनीम तणा थोक हुँ चोक सकाज ॥ ८ ॥

वांरगां उमंगां रंगां विमाणंगा सोक आज,
रारंगां अभंगां भड़ां दमंगां रो सार ।
पनंगां विहंगां ढंगां नारंगां अमीच पड़ा,
सारंगां खतंगां अंगा मातंगां दू सार ॥ ६ ॥

खत्री कंध जेम केही रो सार चसम्मां खोले,
सार तोले केही सार साचवै समंध ।
वार पड़े पूठ केही माथा मार-मार वोले,
काया तेग धार ऊठ डोले के कमंध ॥१०॥

सूर गैण बाथ घाले घणा तेग छूटै संध,
रोस छूटा घणा सूर माले गाडे राव ।
घणा सेल फूटां सीस करे खाग वाढां घांव,
घणा खाग टूटां करे जम्मां डाढां घाव ॥११॥

नारांजां के भड़े सूर अच्छरां लगावे नेह,
छेह पेले केही सूर आभड़े न छोत ।
देह त्यागै केही सूर जीरणां वसत्रां दाय,
सैं देह वेवाणां बैठ जावे के साजोत ॥१२॥

दुभ्फाल रा संध ज्यूं रहे न कोइ खीज ओटी,
करे के लाल रा जके छोटी वूथ कूंत ।
धाराला झालरा नागां अगोठी काल रा धूवै,
हाल रा चौसटी दे अनोठी बाणा हूंत ॥१३॥

महाराग छंडेव छंडेव व्हे न दे न गूंड,
वजंडेव डम्मरु चंडेव हत्ती बीस ।

संडेव छंडेव मेख पाथ वाण पाय साच,
उमंडेव मंडेव तंडेव नाच ईस ॥१४॥

ईख लंका खेत्रां त्रेता जुगेतां सग्राम असो,
उरधरेत केता धू अनेता उनन्द्र।
रुद्र छाक लेता वीर देता राह जेता फरे,
मल हास हेता वेता अनेता मुनन्द्र ॥१५॥

पंथ आसमाण हूंत झपट्टी अपट्टी परां
वरां कंठ लपट्टी अपट्टी जेणवार।
सामठी झड़फके गीध जठी तठी गणा सधौ,
धूर जट्टी चुणै धू हजारां हाथ धार ॥१६॥

भद्र जाती चुणै सीस मोती स्रोण पंका भलै,
खात मोती मुराली नसंकां चुगै खूद।
अंका कीध लंका राम मल वंका खेत एम,
गीध कंका अगंका नसंका लिये गूद ॥१७॥

जूं झवां फुहार टक्क उडै थके आय जेता,
अंग चक्क वार हुआ चक्क के अथाण।
केल पुरै अठी उठी चक्क वेग फेर कीधो,
मार टक्क मार हटी सेन गे मथांण ॥१८॥

चावदंत दीह अगां समा जूझ लाग चालै,
नरा ताल साम ध्रमी तणो साचो नेम।
क्रोध वाले रूप गनीमाण रो विधूंस कीधो,
जोध वाले वीर भद्र दक्ष जाग जेम ॥१९॥

सीसोद उमंड सुरां लोक लीधो सीस साटै,
हनी वीस मंडै ओक याटा स्रोण हेत।

रूतौ सार दूल खांत अखाड़ै उपाट रोस,
खलां दांत खाटा करे सूतो वीर खेत ॥२०॥

बीत त्यागी जेम सूर भी राण सीसोद बड़ै,
आभ क्रीत लागी चढ़ै निराणां धकायो ज्वाद ।
जुधा जुधा खलां तणा जिराणां एकूंट,
वीराणा चखावे स्वाद हालियो वैकूंट ॥२१॥

हुओ जोखंत कांकल ओत ओत जोत हूंतो,
जोत हूंतां रही नकां भंतका जुहार ।
सरै छांहां मही पुरी सातमी तंतका सार,
अंत समै लही पुरी अतंका उदार ॥२२॥

घरी खरी सरीत नवाही वाज फूल धारां,
गोलकूंडे रीत चूंडे अरी करी गाह ।
परी वरी हंस बैठ विमाणां सैं जोत पूगो,
मरी-मरी टूक होय उडो प्रथी माह ॥२३॥

(रचयिता:-बद्रीदास खड़िया)

भावार्थ:- हे रावत, माधवराव पटेल के ऊपर क्रुद्ध होकर. तू युद्ध करने लगा। तू ने बड़ी दूर से आकर भी आतुर हो युद्ध किया। उस समय तू श्रृङ्खला से छूटे हुए भूखे सिंह के समान अथवा सुप्त सर्प की पूंछ पर चरण लग जाने के समान भयङ्कर रूप से शत्रु सेना पर क्रुद्ध हुआ ॥ १ ॥

टिप्पणी:- १. यह रावत जोधसिंह का पुत्र था और वि० सं० १८२१ में सलूम्बर का रावत हुआ। वि० सं० १८२५ मे महाराणा अरिसिंह के समय उज्जैन में सफरा नदी के तट पर माधवजी सिंधिया से मेवाड़ की सेना का युद्ध हुआ, तब बड़ी वीरता से युद्ध करता हुआ छोटी अवस्था में स्वर्गवासी हो गया।

हे पहाड़सिंह, तू ने असीम सेना को विलक्षण रूप से पीछे धकेल दिया और पृथ्वी से शत्रुओं को निर्मूल करने लगा। हाथियों के समूह में अश्वारोही होकर शस्त्रों सहित प्रविष्ट हो युद्ध करने लगा ॥ २ ॥

हे कुबेरसिंह के समान वीर, तेरा विवाह के वर के समान तेजोमय पुष्ट शरीर दृष्टिगोचर होने लगा। सिंह के पंजे के समान अपने हाथ उठाकर तलवार से हाथियों को नष्ट करने लगा। युद्धः स्थल में क्रुद्धसिंह की भांति दहाड़ता हुआ युद्ध करने लगा। तेरी वक्र दृष्टि से तू युद्धः स्थल में शोभित रहता है। हे दीर्घ स्कंधधारी वीर, तू शत्रु सेना की अग्नि उगले वाली तोपों से भी अपनी रक्षा कर शत्रु के सामने जा पहुँचा ॥ ३ ॥

हे चुण्डावत, बन्दूकों की गोलियों का सामना कर शत्रुओं के हाथियों का नाश करता हुआ तू सुशोभित हुआ। सहस्रों वीरों का नाश करता हुआ तू अपनी तलवार को माँजने लगा तू यमराज के समान क्रुद्ध होकर शत्रुओं को ललकारने लगा और सहज ही नृसिंह अवतार के समान हिरण्यकश्यप रूपी शत्रु सैन्य को चीरने लगा ॥ ४ ॥

हे चुण्डा, तू ने सेना में सूबेदार का पद प्राप्त किया और प्रत्यक्ष रूप से तलवार उठाकर विरोधियों पर वार करने लगा। तुरन्त ही तू ने अश्वारोही होकर अपने नेत्रों में क्रोधाग्नि भर कर घोड़ों की वागों को अपनी सेना से उठवाने लगा। शेष नाग भी जो पृथ्वी का भार वहन करने का गौरव प्राप्त किये हुए था। उनका भी गौरव तेरी इस चपलता के कारण, पृथ्वी कम्पित हो जाने से, क्षीण हो गया ॥ ५ ॥

तेरे सैनिक वीरों के बलिष्ट शरीर बख्तरों में नहीं समा रहे थे। उनका अंग :प्रत्यंग युद्ध के आनन्द से प्रफुल्लित हो रहा था। सैनिक वीर नैत्रों में क्रोधाग्नि भर भोहों को टेढ़ी कर शत्रूओं पर इस प्रकार तलवार से प्रहार कर रहे थे मानो वे 'गैर' (ग्रामीण खेल) खेल रहे हों। इस प्रकार हे चुण्डा, अपने [illegible] अटल रह कर तू पटेल से [illegible] करने लगा ॥ ६ ॥

हे चुण्डा, तू नंगी तलवारों से शत्रुओं पर प्रहार करता हुआ ऐसा लगता था मानो अश्वमेध यज्ञ कर रहा हो। इस प्रकार तू रण चातुर्य दिखाता हुआ शत्रुओं की सेना चीरता हुआ आगे बढ़ गया। हे सिशोदिया, तू विजय चिन्ह धारण कर, इस प्रकार युद्ध कर रहा था मानों अखाड़े में दंगल हेतु मल्ल भिड़ रहे हो ॥ ७ ॥

उस समय आकाश-मार्ग में सूर्य अपने रथ को रोक, बड़ी प्रसन्नता से युद्ध देखने लगा। रण-भेरी एवं नगारों के तीव्र घोष से तीनों लोक भयभीत होने लगे। हे सिशोदिया वीर, तू ऐसे समय पर भयंकर रूप से शत्रुओं का पीछा करता हुआ, उन पर, तीर, भालों और तलवारों से प्रहार करने लगा ॥ ८ ॥

रण भेरी सुन कर वीरों का वरण करने हेतु अप्सराएँ विमान सहित युद्ध स्थल में उपस्थित होने लगी। उनके विमानों की सन् सन् करती हुई ध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है। तेरे नेत्रों में क्रोधाग्नि भभक उठी। सर्प के ऊपर जिस प्रकार गरुड़ तीव्र गति से आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार हे सिशोदिया वीर, तू ने बाणों की वर्षा से उन्मत्त हाथियों के ऊपर प्रहार कर उनके शरीरों को भेद डाला ॥ ९ ॥

अनेकों वीर अपने मस्तक के कट जाने पर भी धड़ सहित उठ कर युद्ध करते रहे और अनेकों यौद्धाओं के कटे हुए शीश अपने धड़ की ओर मुख खोलकर कहने लगे 'मारो' 'मारो'। इस प्रकार रण भूमि में वीरों के शरीर मस्तक के न होते हुए भी इधर उधर बड़ी तीव्र गति से चलते फिरते हैं ॥ १० ॥

अनेकों यौद्धाओं के धड़ आकाश में उछलने लगे। अनेकों यौद्धा अपने चरण दृढ़ता से टिका कर युद्ध स्थल में भयंकर रूप से भागने लगे। अनेकों वीर भालों से अपने मस्तक के चकनाचूर होने पर भी तलवारों से युद्ध करने लगे। यहाँ तक कि तलवारों के टूटने पर वे कटारों से युद्ध करते रहे ॥ ११ ॥

अनेकों धनुर्धारी वीरों के साथ अप्सराएँ प्रणय बन्धन करने लगी। स्पर्शास्पर्श का ध्यान किये विना ही वीर रण भूमि के उस पार सेना को चीरते हुए चले जाते थे। अनेकों योद्धा अपने प्राण शरीर से इस प्रकार छोड़ देते थे मानों फटे हुए वस्त्र को छोड़ रहे हों। अनेकों वीर सदेह अप्सराओं के विमानों पर आसीन होकर परम ब्रह्म में अपनी आत्मा लीन कर देते थे ॥ १२ ॥

क्रुद्ध समुद्र की भांति वीरों के नेत्रों में क्रोध सीमा छोड़ कर उबलने लगा। जिससे किसी की भी रक्षा नहीं हो सकी। वीरों ने भालों एवं अन्य शस्त्रों के प्रहार से शत्रु सैनिकों के शरीरों के टुकड़े २ कर दिये। इस प्रकार के तलवारों के विलक्षण युद्ध में नगारों का भयंकर घोष होने लगा। वीरों की इस प्रकार की रण-क्रीड़ा को देखने हेतु चौंसठ योगनियाँ रण-भूमि में हालरा (वीर गीत) को नवीन ढंग से गाती हुई रण भूमि में आने लगी ॥ १३ ॥

बीस भुजाओं वाली चण्डी, हाथ में डमरू का भयंकर घोष करती हुई रण भूमि में विचरण करती है। अर्जुन के समान धनुष में प्रवीण योद्धाओं का युद्ध देख कर शंकर अपने वाहन वृषभ को छोड़कर ताण्डव नृत्य करने लगे ॥ १४ ॥

यह युद्ध त्रेता युग के राम-रावण-युद्ध की भांति भयंकर रूप से होने लगा और रणांगण में शंकर अपने कण्ठ में कितने ही मुण्डों की मुण्डमाला धारण करने लगे। बावन वीर और पिशाच रक्तपान कर युद्ध भूमि में विचरने लगे। अनेकों ऋषि, नारद आदि आदि हास्य विनोद करने हेतु रणभूमि में सम्मिलित हुए ॥ १५ ॥

युद्धः स्थल में अनेकों अप्सराएँ वीरों के वक्षःस्थल पर झूमने लगी। गिद्धनियों के समूह मांस भक्षण हेतु इधर उधर झपटने लगे। शंकर सहस्रों भुजाओं को धारण कर सहस्रों मुण्डों को प्राप्त करने लगे ॥ १६ ॥

हाथियों में उत्तम जाति के भद्र हाथियों के मस्तक चूर चूर होने के कारण उनके मस्तक से मोती रक्त प्रवाह में वहे जारहे हैं। जिन को हंस वड़ी प्रसन्नता से चुगने लगे। गिद्ध धराशायी योद्धाओं के मांस का भक्षण निशंक होकर करने लगे। हे सिशोदिया वीर, जैसा युद्ध राम और रावण ने मिलकर किया वैसा ही युद्ध तू ने किया ॥ १७ ॥

वृत्ताकार तलवारों की धार से शत्रुओं के शरीर के तिरछे टुकड़े उड़ने लगे तथा शत्रुओं के धड़ से रक्तधार फव्वारे की भांति वहने लगी। उस रक्त धार से टकराने वाले योद्धा भी दूर जा पड़ते थे। हे हे सिशोदिया, तू ने शत्रुओं की सेना के दूसरे भाग पर वार कर मरहठों की सेना का सर्वनाश किया ॥ १८ ॥

एक श्रेष्ठ स्वामी भक्त की भांति, हे वीर उम्मेदसिंह, तू सूर्योदय के समय से ही युद्धारंभ करता हुआ उस में तल्लीन हो गया। दक्ष के यज्ञ रूपी रण में क्रुद्ध होता हुआ वीर भद्र के समान शत्रु सेना का समूल सर्वनाश किया ॥ १९ ॥

हे वीर, तू ने अपने मस्तक को प्रसन्नता से देकर, स्वर्ग का उपभोग किया। तेरे रक्त का पान वीस हाथों वाली चण्डी, अपने वीसों ही हाथ से अञ्जली वनाकर करने लगी। क्रुद्ध सिंह की भांति तू ने अपने प्रण को पूर्ण किया। शत्रु सेना के दांत खट्टे करते हुए तू ने रण-भूमि में वीर गति प्राप्त की ॥ २० ॥

हे सिशोदिया, तू दान वीरों और युद्ध वीरों में भी वेजोड़ रहा। तू ने तीनों लोक में अपना यश व्याप्त कर दिया। तू अपनी वीरता से शत्रुओं के हृदय में ईर्ष्या की ज्वाला जलाता हुआ तथा उनको अपनी वीरता का स्वाद चखाता हुआ, वैकुण्ठ पुरी में जा वसा ॥ २१ ॥

अनेक योद्धाओं के शरीर को छिन्न भिन्न करते तू ने परम पिता परमात्मा की दिव्य ज्योति में मिला दिया। जिससे किसी को भ्रांति नहीं रही। इस युद्ध की चर्चा सातों हीं खंडों में होने लगी। हे यशस्वी

तेरा यश भी सातों ही खण्ड में व्याप्त हो गया और अन्त में तू ने स्वर्ग की ओर प्रयाण किया ॥ २२ ॥

इस प्रकार चुण्डावत वीर ने स्वामी के नमक की सच्ची परीक्षा देने के लिये चक्रव्यूह बनाकर युद्ध किया। रण भूमि में चुण्डावत तिल२ कट कर आकाश में अप्सराओं के साथ विमान में विहार करता हुआ, परमात्मा की दिव्य ज्योति में सदा के लिये विलीन हो गया ॥ २३ ॥

७८. राज रायसिंह झाला, सादड़ी १

गीत [सु पङ्ख]

नंडै जोगणी महेस संडै उमंडै परी बेताल।
घुरंडै प्रचंडै थंडै डडंडै घैसाड़ ॥
आडै खंडै रोप भंडै भुजां डंडै तोखे आभ।
रायांसींघ गनीमां सूं मंडै चौड़े राड़ ॥ १ ॥

खलंगा करारे झाट बागे गाठ रीठ खगें।
जगे पाट प्रेत काली अनाढ़ जुवाण ॥
सताग हजार आठ लोह लाट आयो सजे।
गंसा रा निग्ग से साठ नीम जे आराण ॥ २ ॥

श्रोण चंडी पयालां नवालां ग्रीध भखें मांस।
दूथ भीने शाला ताला मुसाला जे दीठ ॥
दुजाला त्रिलाला झाला अचाला दखणी दला।
रूप माला जंगा गजां ढालां माता रीठ ॥ ३ ॥

राला कराला झाला अताला विछूटे बाण।
तह खेत्र पाला मंडे बेताला तमास ॥

मदाला दंताला काल नैजाला सुंडाला माथे ।
वाघ चाला कीता घालो आछटै वाणास ॥ ४ ॥

सीधा नाद रोड़े धूंस घमोड़े त्रिविध सेना ।
धजां गजां हिया होड़े गोड़े शूर धीर ॥
सात्रवां विछोड़े कंध अरोड़े दूसरो सींघ ।
जंगी होदां होड़े मोड़े छाकियां जंभीर ॥ ५ ॥

प्रेत भूतां वाज डाक हाक दूतां काल पीरां ।
ताबूतां सतारे हले हाहुतां तमांम ॥
कटारां खंजरां छुरां कैमरां दूधारां कूंतां ।
सूर धीरां राजपूतां घुमायो संग्राम ॥ ६ ॥

रथां परी जुथां माल अवरी समत्थां रोले ।
लूथ बूथां हुवे ईस मत्थां सूर लेण ॥
भारतां राखवा कत्थां पत्थां जेम वाघ भूरो ।
श्री हथां आछटै खाग दूजो चंद्रसैण ॥ ७ ॥

गलां गूध भखै गीध उडे के अंत्रालां ग्रहे ।
करालां वरालां झाला सेलालां करद ॥
तूटै करमाला प्रलै कालां आग झालां तेम ।
दंताला तमाला खावै मदाला दुरद ॥ ८ ॥

भड़क्कै दुआसां सेल तमासा संपेखै भाण ।
अच्छरां हुलासां हास नारदां उमास ॥

राजरों भरोसौ जिसो जाणता गरीठ रासा ।
उभै पाशा वगां ताशा तेलियौ आकाश ॥ ९ ॥

ऊघड़ी जरदां कड़ी खड़ी चंडी खेल ईखे ।
रथा चड़ी झड़ी झड़ी वरे सूरां रंभ ॥
साकड़ी वणांतां घड़ी वांकड़ी वजावे सार ।
खलां वड़ी वड़ी कीधी झाले अड़ी खंभ ॥१०॥

ताजे सौण झलै चंडी छाजे आसमान तेम ।
जाजे हेत वारंगना वरे सूरां जाम ॥
ओट पा जलूसखाना गाजे रायसींघ ऊभौ ।
देखे जोम भाजै अरी अद्राजे दमाम ॥११॥

लगै लौह अंगे तूर मरेठां जमी ते लोटे ।
ढलक्कै करीते रेजा लाल नेजा ढाल ॥
आपपाण हींते रासो खलां दलां घाय ऊभौ ।
खत्री जुध जीते आयौ अठी तें खुसाल ॥१२॥

पूर श्रोणधारां चंडी आमखां अहार पंखां ।
तइ जै जै कार जंपै सादड़ी तखत्त ॥
लागूवां हजारां भांज आवियौ धगारां लागो ।
वाजता नगारां रासो राण रै वखत्त ॥१३॥

(रचियता:- अज्ञात)

टिप्पणी:- यह झाला राज कीर्ति सिंह का पुत्र था । इसने हींता स्थान पर मरहठों से युद्ध कर अच्छी वीरता दिखाई, जिसका इस गीत में वर्णन है ॥

भावार्थः— हे रायसिंह ! तू अपनी अश्वारोही सेना लेकर बड़े स्वाभिमान के साथ युद्ध में खुले स्थान पर प्रविष्ठ हुआ। नभ-मंडल को अपनी भुजाओं पर स्थित रख सकने योग्य प्रचंड भुजाओं के सहारे शत्रु के सम्मुख अपना झंडा ऊँचा किया। उस समय शंकर का वाहन वृषभ बोलने लगा, योगिनियाँ, भूत, प्रेत आदि २ अपने निवास पर युद्धारंभ सुनकर प्रसन्न होने लगे।

हे वीर ! तेरे अविराम तलवार के प्रहार को देखकर कालिका एवं प्रेत,मांस एवं रक्त के लिये, तुरंत रण-भूमि में उपस्थित हुए। इधर सतारे का स्वामी आठ हजार सेना लेकर रणभूमि में आया।

हे झाला ! दूध के दांत अभी तक नहीं गिरे हों ऐसी सुन्दरता से तू देदीप्यमान हो रहा है। ऐसे हे नवयुवक वीर ! दक्षिणियों की सेना की तलवार और भालों को पकड़ कर, तूने हाथियों को नष्ट करने हेतु भयंकर युद्ध आरंभ किया। भयंकर अग्नि की ज्वाला के समान बाणों की बौछार युद्ध भूमि में होने लगी। उस समय क्षेत्रपाल एवं भूत प्रेत आदि युद्ध को देखने लगे। हे कीर्ति सिंह के पुत्र ! तू मदोन्मत्त श्याम हाथी पर लहराते हुए झंडों पर सिंह की भाँति तलवार से आक्रमण करने लगा।

हे वीर ! तू भिन्न २ प्रकार के शृंगी नाद और नगारे बजवाता हुआ, भालों के वार से झंडों सहित हाथियों को धराशाई करने लगा। शत्रुओं के शरीर से उनके शीश इस प्रकार नीचे गिराने लगा, मानो सिंह हाथियों के सिर को गिरा रहा हो। बड़े बड़े गजारोही योद्धाओं के बख्तर (लोहे की जंजीरों से बना हुआ योद्धाओं का वेष) की जंजीरें तथा हाथियों के होदों (हाथी पर कसने की विशेष प्रकार की काठी) के टुकड़े २ करने लगा॥

युद्धारंभ के समय यमदूत जैसे भयंकर मुगलों के वीर, भूत और प्रेत इत्यादि रण भूमि में उपस्थित होने लगे। सतारे का स्वामी ताबूत

निकलते समय जो शोर होता है उसी प्रकार के शब्द से युद्ध भूमि में सेना सहित करने लगा। क्षत्रियों ने उनके साथ कटारी, खंजर, दुधारे तथा धनुष आदि अनेक प्रकार के शस्त्रों द्वारा विपक्षियों से युद्ध करने लगे ॥

अविवाहित अप्सराओं का समूह रथ में बैठ कर योग्य योद्धाओं के कंठ में वरमाला धारण कराने हेतु उपस्थित हुआ। उस समय वीरों का वरण करने हेतु अपने समूह में ही वे झगड़ने लगीं। हे दूसरे चंद्रसेन और अर्जुन के समान वीर, इस भारत में यह उक्ति सत्य करने के लिये तू सिंह की भाँति आक्रमण करता हुआ शत्रु सेना का नाश करने लगा।

इस युद्ध भूमि में सियाल मांस भक्षण करती और गिद्ध आंतों के के टुकड़े लेकर इधर उधर आकाश में उड़ते हैं। शूरवीर अपने भालों को शत्रुओं के रक्त से रंजित करने लगे। इसी प्रकार शूरवीर झाला द्वारा किये हुए युद्ध में, मदोन्मत्त हाथियों पर तलवार के प्रहार होने लगे। जिससे मदोन्मत्त हाथी रण-भूमि में धराशाई होने लगे ॥

दोनों ओर की सेना के भाले चम चमाने लगे। इस दृश्य को सूर्य देखने लगा, अप्सराएँ मन ही मन हर्षित हुई तथा नारद मुनि खिल-खिलाकर हँसने लगे। हे झाला ! जिस प्रकार का तेरा भयंकर युद्ध करने का निश्चय था, उसी प्रकार से भयंकर युद्ध वाद्य बजवा कर तू ने अपनी, आकाश में उठ सकने वाली भुजाओं से युद्ध किया।

भीरु सैनिकों की जिव्हा भय से शुष्क होने लगी और एकाएक चोंक उठे। रण में डंकों की चोट से नगारे भयंकर शब्द करने लगे और वीर अपने नेत्रों में क्रोध की ज्वाला भर कर शत्रु सेना को नष्ट करने लगे।

योद्धागण हुंकार करते हुए शत्रु-सेना पर तलवार के वार कर, उसे नष्ट करने लगे।

परस्पर के प्रहार से यौद्धाओं के लोहे के बख्तरों की जंजीरें टूटने लगीं। उस समय वीरों का वरण करने करने हेतु अप्सराएँ रथ में चल कर युद्ध भूमि में आने लगीं। हे वीर रायसिंह ! ऐसी कठिन परिस्थिति में टेढ़ी तलवारों का शब्द करवाता हुआ तू पल-पल में तलवार रूपी ज्वाला की लपट से शत्रुओं को भस्म करने लगा ॥

महा चंडी नवीन रक्त का अपनी इच्छानुसार पान करने लगी। प्रफुल्लित अप्सराएँ प्रतिक्षण शूरवीरों का वर्णन करने लगीं। हे राय-सिंह ! तू उस समय वीर वेप में खड़ा हुआ शत्रुओं की भागती हुई सेना को देखने लगा। नगारों की भयंकर ध्वनि से भयभीत हो शत्रु-सैन्य भागने लगा।

यौद्धाओं के शस्त्राघात से मरहठे शत्रु धरती पर पड़े हुए तड़फने लगे और और उनके रेजे (मोटा कपड़ा) के झंडे हाथियों सहित धरती पर गिरने लगे। हे रायसिंह ! अपने पराक्रम से हींता (स्थान विशेष) की रण भूमि में शत्रुओं का नाश कर विजयोल्लास से तू खड़ा हुआ ॥

तू ने मांसा हारी प्राणियों को मांस से एवं चंडी को रक्त से प्रसन्न किया। जिससे तेरी सादड़ी के सिंहासन के चारों ओर जय जयकार होने लगी। महाराणा के युद्ध के समय सहस्रों शत्रुओं का नाश कर वीरोचित सम्मान प्राप्त किया और पुनः अपने निवास स्थान (सादड़ी) लौट आया ॥

७९ रावत भीमसिंह चुण्डावत, सलूम्बर

गीत—(सुपंख)

हचै खलां थोका भंजे फुणां फेर रा आपाण हूँत,
दाखे जेण वेर रा वाखाण झोका देर।
सही जीत होय राख्यो कुबेर रा भीमसिंह,
सेर रा कांठला जेम राण रो आसेर ॥ १ ॥

अड़े खेत गनीमां भला रा रूपी आय खगे,
विजु जला दलां रा आछटे धके वेर।
थाट पती दो हतेस राखियो मलांरा थंभ,
नां हतेस गलारा हार जूं उदेनेर ॥ २ ॥

ससक्के नगार वंध लटक्के नागरा सीस,
आ गरा अंगार तोपां भटक्के अवाज।
राखियो खंगार दूजा खाग रा पाण सूं रधू,
राण वालो वाधरा संगार जेम राज ॥ ३ ॥

वरेस तूझ सूं आंट वसे जे छार रे बीच,
समें गज भार रें करेस पूरी साथ।
खरेम सारे मूंढे काल हेत फेट खावे,
हाट करी मार रे मरेस क्याले हाथ ॥ ४ ॥

चूंडा भोक थारी आडी लीहरी वाखाण चवां,
ताई होय गया तारा दीहरा तावूत।
रध्र अवीहरा पगां राणेराव वालो राज,
सीहरा वगाव जेम राखियो सावूत ॥ ५ ॥

(रचियता:- अज्ञात)

भावार्थ:- हे कुंवरसिंह के पुत्र भीमसिंह, शत्रुओं की असंख्य सेना से शेषनाग के ऊपर अधिक भार पड़ने के कारण फण झुकने लग

टिप्पणी:— यह रावत कुबेरसिंह का पुत्र था और अपने भतीजे पहाड़सिंह के युद्ध में परलोक वास होने पर सलुम्बर का रावत हुआ। महाराणा अरिसिंह से लगा कर भीमसिंह के युग तक कई युद्धों में भाग लिया। इस गीत में इसका वर्णन है।

गया। किन्तु उस सेना में भी तू सत्य से विचलित नहीं हुआ और साहस से युद्ध करता रहा। जिस प्रकार सिंह के कण्ठ से कोई आभूषण नहीं निकाल सकता, उसी प्रकार तेरे जैसे सिंह के कण्ठ से चित्तौड़ कोई नहीं निकाल सका अर्थात् तू ने सिंह वत् चित्तौड़ की रक्षा की ॥१॥

युद्ध-काल में तू ज्वालारूपी तलवार से शत्रु सेनाओं को नष्ट करने लगा। हे शासन के संचालक, (थाट पति ये राणा के आदेशों को क्रियान्वित करते थे) तू पृथ्वी के ऊपर स्तंभ के समान युद्ध भूमि में अडिग रहा। नौ हाथ लम्बे प्रचण्ड सिंह की भाँति तू ने उदयपुर राज्य की रक्षा की ॥ २ ॥

हे खेंगार जैसे वीर, युद्ध-भूमि में अग्नि उगलने वाली भयंकर तोपों के गोलो के धमाके से शेषनाग का फण कम्पित हो उठा। नगारों वाले बड़े बड़े यौद्धा भी युद्ध की भीषणता देखकर हृदय में कम्पित हो उठे। परन्तु तू ने सिंह जिस प्रकार अपने शरीरके शृंगार की रक्षा करता है, उसी प्रकार तूने मेवाड़ राज्य की रक्षा की ॥ ३ ॥

हे वीर, वे यौद्धा जो तेरे शत्रुता किये हुए थे। तू ने उनका सर्व-नाश कर दिया। शत्रुओं के अनेक हाथियों को मारते हुए, शत्रु-यौद्धाओं को तलवार के घाट उतार दिया। इस प्रकार कितने ही वीरों को वीर गति प्रदान कर अप्सराओं के साथ उनका वरण करा दिया। हे यौद्धा, जिस प्रकार हाथियों के शत्रु सिंह से कोई आभूषण हस्तगत करने की चेष्टा में जाय तो उस वीर की मृत्यु से निडर होकर जाना पड़ता है। उसी प्रकार जो भी मेवाड़ राज्य को लेना चाहें उसे पहले निडर होकर तेरे से युद्ध करना पड़ता है ॥ ४ ॥

हे चुण्डा, तू ने तलवार चलाने में अपने अद्वितीय साहस का यश चारों ओर फैला दिया। सूर्य के समान तेरी शक्ति के तेज के सम्मुख शत्रुओं का तेज दिन के नक्षत्र के समान क्षीण दिखाई दिया। तू ने निर्भीक सिंह के समान मेवाड़ राज्य की रक्षा की ॥ ५ ॥

८०. रावत भीमसिंह चुण्डावत सलूम्बर और रावत अर्जुनसिंह चुण्डावत कुरावड़ [1]

गीत (बड़ा साणौर)

हटां चढ़ दरवणाद कटकां मलै हरामी,
अणि इक डंका बज बबै ईड़ ।
तखत उदिया नयर केम पलटै तिकां,
भीम अरजुन जिकां होय भीड़ ॥१॥

साम ध्रम अड़ग रख खेल खित्रवट सबल,
हुआं दध छल दल प्रबल हाको ।
ठाम चत्र कोट अण ठेल किम कर टलै,
करै ज्यां वेल भत्रीज काको ॥२॥

धरा रछपाल कांधाल हरणै धणी,
निमख अजवाल न कलंक नजर नेक ।
तखत राणा सथर राज आवै तिकां,
होवै भेलो जिकां सलूम्बर हेक ॥३॥

जोरवर थां जिसा हुवै चूण्डा जिकै,
तिके रावत भलां मूछ ताणा ।
थेट कमसल रतन जाण उथापियौ,
रूक बल थापियौ असल राणौ ॥४॥

(रचयिता:- अज्ञात)

टिप्पणी:—१ यह गीत सलूम्बर के रावत भीमसिंह चुण्डावत और कुरावड़ के के रावत अर्जुनसिंह चुण्डावत की प्रशंसा में है। जिन्होंने वि० सं० १८२६ में माधवजी सिंधिया के उदयपुर घेरा डालने के समय नगर की रक्षा करने में बड़ी तत्परता प्रगट की थी, इस गीत में उसी का वर्णन है।

भावार्थः-- शैतान दक्षिणी हठ पकड़ कर सेना को संगठित कर बजते हुए नक्कारों के साथ ; तळवार बजाते हुए अपने साथियों सहित आगे बढ़े। किन्तु जहाँ भीमसिंह, अर्जुनसिंह जैसे सहायक हैं, उस उदयपुर के तख्त को कैसे पलटा जा सकता है ? ॥ १ ॥

स्वामी धर्म को अडिग रख क्षात्रवत का खेल खेलने वाले बहादुर सैनिकों की समुद्र के तूफान की तरह हाक हुई। लेकिन चित्तौड़ की अडिग रहने वाली गद्दी कैसे डिग सकती है ? जब कि उसके काका-भतीजे दोनों सहायक हैं ॥ २ ॥

मेवाड़ की रक्षा करने वाले ऐसे कांधल के वंशजों से स्वामी हर्षित रहता था। नमक उज्ज्वल करने वाले कलंक रहित उस रावत को स्वामी अच्छी नजर से देखने लगा था। सलूम्बर का स्वामी जहाँ भी सम्मिलित रहता है वहाँ राणा की गई हुई राजगद्दी भी आजाती है और अचल रहती है ॥ ३ ॥

हे चुण्डा ! तेरे जैसे वीर पुरुषों का मूंछों पर ताव देना सराहनीय है जो कि तू ने कुलहीन रतनसिंह को राज गद्दी से हटा कर अपनी तलवार की ताकत से (कुलीन) राणा को स्थापित किया ॥ ४ ॥

८१. रावत अर्जुन सिंह चुण्डावत कुरावड़

गीत (बड़ा सारणौर)

कलै होत ज्यों उठै अजमाल वै हक अकल,
लड़ण तै हक छलां दलां लाडौ ।
साजतो नहीं अस पेल अहमीद नै,
हलमटां सेल ऊठेल हाडौ ॥ १ ॥

राण नजदीक जो होत खंताल रिण,
. . . . न लागत दाव पूरौ ।

हाथियों को विनष्ट करने वाला चुंडावत अगर महाराणा के आगे होता तो राणा को मार कर हाडा का सकुशल लौटना असंभव होता। दूसरों की भाँति वह (अर्जुनसिंह) जमीन की ओर दृष्टि नहीं करता बल्कि वीरों को मार कर स्वयं (भी वहीं) धराशायी होता ॥ ३ ॥

रास (गेहर) के डंडों रूपी तलवारों से युद्ध खेलता जिससे अनेक शत्रुओं की शारीरिक शक्ति नष्ट हो जाती। यदि उस युद्ध में केसरी-सिंह का पुत्र अग्रगण्य होता तो राणा के लिये लिखी हुई विधाता की रेखा भी बदली जाती ॥ ४ ॥

८२. रावत अर्जुनसिंह चुण्डावत, कुरावड़ [१]

गीत (बड़ा साणौर)

मजा हीण अनभड़ हूँता चल विचल चित मरम,
कजा खत्रवट पड़ी नरम कांटै।
राण अड़सी कहै लज्जा तो सूं रहै,
अजा भुज ओड धर भार आंटै ॥ १ ॥

अटकै खार धर वेध डगिया असत,
सार फाटै गयण मेल सांधो।
धणी दाखै धमल टांड कज इला धुर,
केहरी तणा हव मांड कांधो ॥ २ ॥

लखां दखणाद रा लगस आया लड़ण,
पयोनिध अगस मुनि जेम पीजे।
साम थापल कहै राख डगती समी,
दुआ कांधल जमी खवौ दीजे ॥ ३ ॥

महत, समरू फिरंग वले दिखणी मथ,
एता भागा समर पेस ऊंडै ।
उदैपुर सहित धर सरब राखी अडग,
चमर छत्र तखत री लाज चूंडै ॥ ४ ॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थः- क्षात्रकुल के गौरव का पलड़ा नीचे झुकता देख महाराणा अरिसिंह का चित्त चलायमान हो गया और दूसरे सामंतों से निराश हो अर्जुनसिंह से कहने लगे कि मेवाड़ की स्वतंत्रता का भार तेरे भुजों पर है और मेरी लज्जा की रक्षा करने की शक्ति भी तुझ में ही है ॥ १ ॥

अरिसिंह की गद्दी-नशीनी से ईर्षा वश खिलाफ हो मेवाड़ के लिये खिलाफत करने में अन्य सामंत थे। वे विपक्षियों की ओर चले गये। इस पर अरिसिंह कहता है कि सभी ओर फटे हुए आकाश के थेगली लगाने वाला एक तू ही वीर दिखाई देता है। हे केसरीसिंह के पुत्र. देश भूमि के युद्ध-भार को कंधों पर उठा के गर्जने वाला वृषभ स्वरूप तू ही है ॥ २ ॥

दक्षिणियों की लाखों का सैन्य दल समुद्र युद्ध करने के लिये उमड़ पड़ा। जिसे अगस्त ऋषि की भांति शोषण करने में तू ही समर्थ है। स्वामी नियुक्त करने वाले हे दूसरे कांधल जैसे वीर, मेवाड़-भूमि (मेरे) पैरों नीचे से खिसकने वाली है। जिसे तू ही अपने बाहु-बल से रोक सकता है ॥ ३ ॥

अन्य सामंतों ने खिलाफ होकर समरू अंग्रेज और दक्षिणियों द्वारा मेवाड़ पर आक्रमण करवाया। उस समय उदयपुर (राजधानी) सहित सब भूमि अडिग रख हे चुण्डा। तू ने सिंहासन (गद्दी) और छत्र-चँवर की लज्जा रख दी ॥ ४ ॥

८३. रावत अर्जुन सिंह, चुण्डावत, कुरावड़

गीत

पालट ऊमरां चल चलै पोहमी, रघुरायण राज ।
भुजां डंग तो आभ थांभै, अजा अवसर आज ॥ १ ॥
मींढरा नर सकल मुड़िया, धरा धूकल थाग ।
राण छल उधारा रावत, तोल खाग असाग ॥ २ ॥
चित्र गढ ओठम चूंडा, थिया हर थल थेट ।
सही मोखण ग्रहण साहां, मही संकट मेट ॥ ३ ॥
नरखिया भड़ सकल नयणैं, जीयां भेदल जंद ।
हेक तो मुख पर हीमत, नूर केहरी नंद ॥ ४ ॥
खत्री ध्रम रथ कलश खुम्भियो, असह थाट उचांड ।
धूज धजवड़ तंड धवला मरद जूसर मांड ॥ ५ ॥
राड़ रा लेयण उधारा रावत, केवियां हण कोप ।
विखम खंडां धार वरसै, रघुअ भंडा रोप ॥ ६ ॥
धरा चल चल विखम धमचक, अचल विरद अगोड़ ।
वाढ खल रतनेस वीजा, चाढ जल चीतोड़ ॥ ७ ॥
उजल ते महाराणा ओठम, पाण पोरस पाज ।
आजरै अवराण अरजुन, राज रै भुज राज ॥ ८ ॥

(रचयिता:-नन्दलाल भाट)

भावार्थ:-मेवाड़-भूमि पर शत्रु-सेना के आवागमन से चलायमान हो सभी उमराव (सामंत) महाराणा के प्रतिकूल होगये। हे अर्जुनसिंह डिगते हुए आकाश को रोकने वाले यह मेवाड़ का राज्य शासन तेरी भुजाओं पर ही अवलंबित है ॥ १ ॥

इस देश के भू भाग को विशेष कलह पीड़ित देख सभी समान प्रतिष्ठित व्यक्ति युद्ध-भूमि से मुड़ गये। महाराणा की सहायता करने वाला साम्रह हाथ में तलवार लिये हुए हे वीर रावत! केवल तू ही दिखाई देता है ॥ २ ॥

प्रारंभ से ही चुण्डावत महाराणा की सेना के अग्रभाग में रह कर चित्तौड़ के लिये निरंतर ढाल स्वरूप बने रहे हैं। मेवाड़ के कष्ट को मिटाने के लिये युद्ध भूमि में बादशाहों को कई बार पकड़ कर छोड़ दिया उसी तरह आज भी इस कथन को सत्य करने वाला तू ही है ॥३॥

महाराणा कहते हैं कि हे केसरी सिंह के पुत्र। मैंने सभी शूर वीरों को अपने नेत्रों से देखा है, किन्तु उनके हृदय साहस रखने वाले नहीं दिखाई देते, केवल तेरी ही मुख्य कांति दिखाई देती है ॥ ४ ॥

शत्रु-समूह रूपी कीचड़ में क्षात्र धर्म रूपी रथ फँसा हुआ है। हे वीर! घोड़े पर पाखर सजा कर वेग युक्त तलवार से उक्त कीचड़ को उथल पुथल कर! वृषभ स्कंध के सदृश तेरी भुजाओं से युद्ध भार उठाने और वीर हुंकार करते हुए उक्त रथ को बचाने वाला तू ही है ॥ ५ ॥

क्रुद्ध हो कलह उभार तो शत्रुओं को युद्ध भूमि में नष्ट करने वाला तू ही वीर पुरुष है। हे वीर! रणांगण में तू तलवार की धार तथा अन्य शस्त्रों से शत्रुओं के सिर पर वर्षा की बौछार के समान झड़ी लगा कर अपना विजय-ध्वज स्थिर कर देता है ॥ ६ ॥

शत्रुओं के विषम धूल धाम से जमीन चलायमान होने लगी। लेकिन हे वीर! दूसरे रत्नसिंह के समान तू ने अपने कुल की अचल मर्यादा में रह शत्रुओं का विनाश कर चित्तौड़ दुर्ग को गौरवान्वित किया ॥ ७ ॥

शत्रु-रूपी समुद्र के उमड़ आने पर तू अपने हाथों की साहस रूपी पाल से दुश्मनों की शक्ति का आड़ बना रहा। हे अर्जुनसिंह, आप के समय में सावधानी का उपयोग कर मेवाड़-देश का राज्य तू ने अपनी भुजाओं पर ही अवलंबित रखा है ॥ ८ ॥

८४. रावत अर्जुनसिंह चुण्डावत, कुरावड़

गीत (वड़ा साणोर)

कहर झड़ै चकमक चखां चांपिया नाग कल,
अरि चढ़ै कांपिया गिरां ओखा।
अजन रा ठेट हूँ अलल जुध ऊपरै,
गढ़ पड़ै फेट हू जलल गोखां॥ १ ॥

रोस चूण्डै चखां घटक अहराव रुख,
मटक तज दुसह लै गिरंद मागां।
करै आधा तुरी कहै भागा कटक,
अथागा ढहै गढ़ फटक आगां॥ २ ॥

वीर सीसोद भवकै चसम झालां विख,
चढण अरि तकै गिर उवर चहलै।
तेज दाभै तुरंग हकै केहर तणो,
दुरंग भाजै धकै महल दहलै॥ ३ ॥

मद्दल खल जकै सोचे घड़ी घड़ी मह,
तकै नहँ करै सुघड़ी घड़ी तीज।
गड़ गड़ी सुथर रावत रढां गहलरी,
वाग ऊपड़ी पड़ी गढ़ां सर वीज॥ ४ ॥

सत्र रयण हरांची चोट सुण खाप संक,
जाय गिर ओट धर न कूं जमिया।
एकल इक चोट अस वाग ऊपाड़तां,
मोट म्वग नाग दल कोट भमिया॥ ५ ॥

तोड़ खल जमाचो आच खग तोलियां,
ईस गण नाच धम धमाचो ओप।
गजब रौ तमाचौ अजब रो थको गण,
कना सर अकुट वर रमाचो काप॥ ६ ॥

(रचियता:- अज्ञात)

भावार्थ:- हे अर्जुनसिंह, तू युद्धारंभ के समय अश्वारोही होकर रणांगण में प्रविष्ट होता है, उस समय श्याम सर्प क्रोध में जिस प्रकार अपनी पूंछ दबाता है और नेत्रों में क्रोध भरता है उसी प्रकार तू भी अरुण-नेत्र किये हुए, प्रति पक्षियों पर तलवारों की झड़ी लगा देता है। जिस से दोनों ओर की तलवारों के घर्षण से अग्नि की ज्वालाएं उत्पन्न होने लगती हैं तथा शत्रुगण इस भयंकर स्थिति से त्राण पाने हेतु विजन पर्वत-प्रदेश में भाग जाते हैं। शत्रुओं के दुर्भेद्य दुर्गों को तू अपने घोड़ों की टापों से झरोखों सहित विध्वंस कर देता है।

हे चुण्डावत, नेत्रों में क्रोध की ज्वाला भरे हुए सर्प के समान, तुझे देख कर शत्रु भीरु बन कर पर्वतों में आश्रय लेते हैं। जब तू रणांगण में अश्वारोही-होकर युद्ध में प्रवृत होता है तब शत्रुओं की सेना अपने प्राणों की रक्षा करने हेतु यत्रतत्र भाग जाती है। फिर तू निशङ्क होकर घोड़ों के चरणों से दुर्ग के एक एक पत्थर को उखाड़ देता है॥ २॥

हे केसरसिंह के सिशोदिया पुत्र, तेरे नेत्रों में क्रोध रूपी बिजली ज्वालाओं को देख कर. शत्रुओं के हृदय कम्पित हो उठते हैं। जिससे शत्र भाग कर पर्वतों का आश्रय लेने लगते हैं। जिस प्रकार ग्रीष्म में धरती पर चरण जलने के कारण मनुष्यगण जल्दी-जल्दी चरण उठाते है, उसी प्रकार तेरे घोड़ों के चरणों की चपलता है। इस प्रकार की चपल गति वाले घोड़ों को आगे बढ़ाकर तू दुर्ग की दीवारों को ध्वंस करता है। ऐसी भयानक स्थिति में नारियों के हृदय धक् धक् करने लग जाते है॥ ३॥

हे रावत, तेरे भयंकर आक्रमण से क्षण-क्षण विचार करती हुई शत्रुओं की स्त्रियां, प्रतिज्ञा करती हैं जिस क्षण में कि वे आनन्द और शांति से तीज का उत्सव मना सकें। हे रावत, तू युद्ध में उन्मत्त होकर, शत्रुओं के विरुद्ध कूच करने में विलम्ब नहीं कर-अश्वारोही हो घोड़ों की वाग उठाता है। तत् पश्चात् तुरन्त ही शत्रुओं के दुर्ग पर आक्रमण कर देता है। तेरे आक्रमण से दुर्ग की दीवारें इस प्रकार क्षत-विक्षत होती हैं मानो आकाश मे बिजली गिरी हो ॥ ४ ॥

हे यौद्धा, युद्ध-भूमि में तेरे तलवार की ध्वनि सुनकर शत्रुओं के हृदय कम्पित हो उठते है और पलायन कर विजन पर्वत में आश्रय लेते हैं। तू अपने घोड़े की वाग उठाये हुए स्वयं ही प्रवेश कर खड्ग-प्रहार से शत्रुओं की हाथियों सहित सेना को छिन्न भिन्न कर देता है तथा दुर्ग को भी ध्वंस कर देता है ॥ ५ ॥

हे रावत, तेरे रणांगण में, शंकर अपने गणों सहित नृत्य करते हैं। जिससे पृथ्वी कम्पित होती है। तेरा क्रोध विलक्षण प्रकार का दृष्टि गोचर होता है तू शत्रुओं को नष्ट करने में यमराज जैसा पराक्रमी है। जिस प्रकार रावण की लंका के दुर्गो पर श्री रामचन्द्रजी का आतंक छाया हुआ था, उसी प्रकार तेरा आतंक शत्रुओं के दुर्ग पर छाया हुआ है ॥६॥

८५. रावत प्रतापसिंह चुण्डावत, आमेट

गीत— (सुपंख)

जंगां जांगी बजे जुँझाऊ पनंग सीस धूणै जेम।
अभंगां वानैत आगां जोस में अमाय ॥
धारै खागां उनागां उमंगा आप रंगां धायो।
पमंगा ऊपड़ी वागां ऊ आयौ प्रताप ॥१॥

धूबै झाल अरावां अचंडां गोल गैण ढंके।
रणांके न भेगी डंड मंडै चंडी रास ॥
खलां गैच भेलिया भीम रा गजां आडा खंडां।
बीजै मान जाडा थंडां भेलिया अहास ॥२॥

वहै धारा दुधार करारां बाँण धारा वूढैं।
है तुण्ड प्रहारां भोण धारां भरै होद ॥
मार-मार उच्चारां अपारां पाड़ क्रोध मच्चै।
सारधारां रच्चै राड़ गनीमां सीसोद ॥३॥

अंचाकां अहाकां भालां भचाकां वयंडां तुण्डां।
हुवै वीर हाकां डाकां हैरू व्है हुलास ॥
रंगां छोह छाकां जागी वगां प्रेम पागी रंभा।
गैराकां रचाकां वागी व लागी अयास ॥४॥

चलो वली वीजलां प्रहारां चक्र वेग चाढा।
मंगलां तडच्छै सूंडां ओप भुण्डा मक्र ॥
कहारां रचायौ जाहरां रैण ऊमै राही।
तुण्डहरा नाहरां मचायो राह चक्र ॥५॥

जगा रा वरद्दां संग तेडीस उचाला जोम।
सरद्दां अचाला पाव सेस धू मंडीस ॥
भ्रमै जुध्र वड्डा सैन मतारा नाथ रा भागा।
पतारा हाथ रा वागा उनागा पांडीस ॥६॥

उथड़ैत कड़ालां प्रनाला हल्ले खलक्कै सोण बाला ।
अटक्कै छड़ालां भुजां गैणागां अड़ैत ॥
गा गनीम झंका पड़ै नतारैं पुहँती गल्लां ।
बांका नेत बाधा खेत फता रैं बानैत ॥७॥

चूण्डा बाला सगाला वरदां हदां नीर चाड़ै ।
रिमा वीर चाला कंनता धूधड़ै रहेत ॥
झाड़े करम्माला तोय त्रांबाला नीसाण झंडा ।
खूंडाला ले आयो मेवा डंबरां सहेत ॥८॥

फौजरा हरोलां भाई फताचा हचोला फव्वै ।
झूल चंडां रीझाय जनेवां ध्रुवे झाट ॥
दाधा लोहां ताप वीर मार हक्कां थाट दवे ।
प्रताप प्रवाड़ा थी गरज्जै मेद पाट ॥९॥

(रचयिताः- अज्ञात)

भावार्थः-नगारे बजने लगे; युद्ध भूमि में अपराजित योद्धा एकत्रित हुए। जिनके भार से शेष नाग का मस्तक हिलने लगा। खुली तलवार लेकर मन में हर्षित होता हुआ घोड़े की बाग उठाकर (वह) प्रतापसिंह दौड़ आया ॥ १ ॥

तोपों की प्रचंड ज्वाला व गोलों की गर्दी से आकाश छिप गया। युद्ध-भूमि में रण भेरी घुराती हुई चण्डिका ने रास की रचना शुरु की। दूसरे मानसिंह के समान जैसे तू ने सेना के तगड़े समूह में अपने

टिप्पणीः-यह रावत फतहसिंह का पुत्र और मानसिंह का पौत्र था। इसने महाराणा अरिसिंह के समय टोपल मगरी [illegible] ग लिया था ॥

घोड़े को प्रविष्ट किया और शत्रुओं के तिरछे टुकड़े कर (उन्हें) भीम के हाथियों में मिला दिया ॥ २ ॥

द्रुतगति से तलवार, पराक्रम पूर्ण बाणों की बौछार और घोड़ों के मुँह पर लगाई लोहे की सूंडों के प्रहार द्वारा प्रवाहित रक्त धारा से युद्ध-स्थल होजों की तरह भर गया। हे क्रुद्ध सिसोदिया! मार मार शब्द का उच्चारण करते हुए तू ने अपनी तलवार की चोटों से कायर शत्रुओं को धराशाई कर दिया ॥ ३ ॥

भालों और घोड़ों के लगाई हुई लोहे की सूण्डों के वार से एवं जोशीले नगारों की भयंकर आवाज होने लगी। आकाश की ओर उठी हुई तलवारों की मुठ भेड़ से आकाश झंकृत हो उठा, जिसे सुन कर बावन वीर हुंक्कार करते हुए डाक डमरू बजाते हुए हर्षित होने लगे और इन जोशीले वीरों को घावों से पूर्ण रूप छके हुए देख कर अप्सराएँ वरण करने के लिये स्नेह से विव्हल हो गई ॥ ४ ॥

लगातार चक्र जैसे वेग युक्त तलवारों से हाथियों पर वार होने लगे; जिससे हाथियों की सूंडें कट कर मच्छियों के झुण्ड की तरह भूमि पर तड़फने लगी। शंकर का हार बनाने के लिये दोनों ओर से खुले मैदान में युद्ध आरम्भ किया। जिससे सिंह रूपी चुण्डा के पौत्र ने राहु के चक्र तुल्य तलवार का वेग आरम्भ किया ॥ ५ ॥

जगतसिंह के विरुदों से सुशोभित रुद्र स्वरूपी जोश में आकर उबलते हुए अपने वीर साथियों सहित युद्ध भूमि में शेष नाग के मस्तक पर (अडिग) पैर जमा दिये। उस युद्ध भूमि में रावत पत्ता की नग्गी तलवार बजने लगी। जिस से सतारा के स्वामी की लड़ती हुई सेना भ्रम में पड़ कर भागने लगी ॥ ६ ॥

शूर वीरों के हाथ में आकाश की ओर उठाये हुए भालों के वार से. बख्तरों की कड़ियाँ गिरने लगीं और शत्रुओं के घावों से परनालों

की भाँति रक्त धारा बहने लगी। फतहसिंह के पुत्र बांके वीर ने विजय चिन्ह धारण कर युद्ध किया जिससे शत्रु साहस हीन हो गये। इसकी खबर सतारा तक पहुँच गई ॥ ७ ॥

हे रावत! तलवारों द्वारा शत्रु से भिड़ कर, शत्रुओं के नगारे, निशान, हाथी, राजचिन्ह (मेघाडम्बर) आदि तू विजय कर लाया। शत्रुओं के साथ निश्चय रूप से आतंक का व्यवहार करने वाले तू ने चूंडा के सब विरुदों पर बेहद गौरव चढ़ाया ॥ ८ ॥

सेना के अग्रभाग में रुचि रखते हुए विजय प्राप्ति की घोषणा कर दी, और तलवारों की विद्युत वेग के समान झड़ी लगाकर चामुण्डा के गिरोह को प्रसन्न कर दिया; शस्त्रों की जलन से जल कर मरहटों के समूह दब गये और हे प्रतापसिंह युद्ध विजय कर गर्जता हुआ तू मेवाड़ को लौटा ॥ ६ ॥

८६. रावत प्रतापसिंह चुण्डावत-जगावत, आमेट [१]

गीत (वड़ा साणोर)

गजर ऊगतां नेजां फरक्कै गैंग्ररां,
थोम चख अजर भजराग धवते।
पाधरे वरे जी हूँत हेकाद पंत,
रूक हद भेलिया एम रवते ॥ १ ॥

धाढ़ झड़ बीजलां दोय वे वे वरंग,
चाढ चत्र कोटरी लड़ै चोजां।

टिप्पणी.—१—यह रावत फतहसिंह का पुत्र था। मेवाड़ मे मरहठों द्वारा किये गये उपद्रवों के समय बेरजी—ताक पीर से युद्ध किया। उसकी वीरता इस गीत में उल्लिखित है।

धरा कज आंपणी लड़ै चूण्डौ धणी,
फतारां सतागं तणी फौजां ॥ २ ॥

आड धारा दिये मार कण ऊपरा,
मर हटां तणी लग सेन साथै।
माई मुरातबां तैं लियो मनोहर,
सारां तद वीर रै हेक साथै ॥ ३ ॥

रसाला, तोप सुखपाल, जाडारसत,
लेण कर कलह कज एम लीधा।
दोय हाथी पति खोस दखणादरा,
कैलपुर नाथ रै नजर कीधा ॥ ४ ॥

(रचयिता:-अज्ञात)

भावार्थ:- प्रातः काल होते ही हाथियों पर झंडे लहराने लगे। वीरों के नेत्रों में क्रोधाग्नि सुलग रही थी। जोश पूर्ण वाद्य यंत्रों के साथ सिंधु राग प्रारंभ हुआ। इस प्रकार युद्धारंभ कर रावत ने अपने वीर साथियों एवं अन्य अधिपतियों के साथ वैरजी नामक शत्रु से भिड़ने के लिये युद्ध स्थल में प्रवेश किया ॥ १ ॥

फतहसिंह के पुत्र ने अपनी भूमि के लिये खिताग की फौज से युद्ध छेड़ा और चित्तौड़ दुर्ग पर शत्रुओं की चढ़ाई से उत्साहित योद्धाओं ने अपनी तलवारों से शत्रुओं के दो दो टुकड़े कर दिये ॥ २ ॥

मरहठों की सेना के (रण बांकुरे) योद्धाओं के तिरछे घाव लगाकर हे मानसिंह के पौत्र, तूं ने अपने कौशल से विजय प्राप्त कर विरोधी वीरों के राज चिन्हों (लवाजमों) को एक साथ ही लेलिया ॥ ३ ॥

रिसाला, तोपें, तापजाम, रसद, दो गजपति (सामंत) इत्यादि इस युद्ध में दक्षिणियों से छीन कर महाराणा के नजर किये ॥ ४ ॥

८७. रावत प्रताप सिंह चुण्डावत आमेट

गीत (छोटा साणौर)

साखां तिण वार चंद्र धर सूरज ।
घर लाखां व्रद चढै घणा ॥
आखा दखण हूंत आफलियौ ।
तूं ताखा फतमाल तणा ॥ १ ॥

छुण झालां करंगा फूंकारां ।
अजवाला मण वरद अखै ॥
खग चाला तोसूं कुण खेलै ।
पातल काला नाग पखै ॥ २ ॥

कसिया जरद धणी धर कारण ।
जस रसिया रूकां जम राण ॥
खसिया जता आय खल खागां ।
अहि चूण्डै डसिया आराण ॥ ३ ॥

हद सोभा तो चढै मानहर ।
झलं बां कड़ी कड़ी रण झूल ॥
खाधा अरी चमू खल खागां ।
मंत्र जड़ी न लागौ मूल ॥ ४ ॥

भावार्थः—सर्प के सदृश विष वाले हे फतहसिंह के पुत्र, तू ने दक्षिणियों से युद्ध कर लावा के कुल को गौरवान्वित किया, जिसकी साक्षी पृथ्वी पर सूर्यचंद्र दे रहा है।

हे मणिधर सर्प के सदृश शैली ग्रहण करने वाले, तू कुल को उज्ज्वल करने के लिये सर्प के फण स्वरूपी तलवार की फूंक (पवन गति) से शत्रुओं को नष्ट करता है। काले सर्प के समान हे प्रताप! तुझ आतंककारी के सामने तलवार से छेड़ छाड़ करने वाला कोई नहीं है। न तेरा कोई सामना ही कर सकता है॥

हे यमराज का रूप धारण कर तलवार चलाने वाले वीर! तू तलवार चलाकर विजय यश का इच्छुक रहता है, स्वामी की भूमि की रक्षार्थ बख्तर कसे रहता है और जितने शत्रु सामने आवें उन्हें अपनी सर्पिणी रूपी तलवार से काट कर हे चुण्डा! तू धराशाई कर देता है॥

हे मानसिंह के पुत्र! रणाम्बर (कवचादि की कड़ियों की झिलमिलाहट) से तू सीमा तीन (हद दर्जे का) शोभित हो रहा है। तू ने सरी शत्रु सेना को अपनी सर्प रूपी तलवार से खा डाली। जिसके जड़ी बूटी और मंत्र कुछ नहीं लगे (कोई उपचार नहीं लग सका)॥

८८. रावत प्रतापसिंह चुण्डावत, आमेट

गीत—(सु पंख)

आछे नक आंट गनीमां हू मेलिया निराट ऊखा।
आछी खाई रूखां केक झेलिया त्रिताप॥
ऊली अणी पाछी दूखी काथे ग्राग ऊझेलिया।
पैली अणी साथे काछी मेलिया प्रताप॥ १॥

भूपटे गनीमां धग गढ़ा व्है न नाग ढोल।
कानां सुणै फना रै ग्वनाग बोल केम॥

सतारा छात रा दलां ऊपरा अथायो सीह।
जेथ आयो ऊलका पातरा नारा जेम ॥ २ ॥
मूंछां रा वलाका दीधां सीसोद गनीमां माथै।
धूर हास तमासै मुनिन्द्र गीधा धीर ॥
म्यान हूँ उखेलतांई कीधा त्याग नेठी मगां।
वैठी मगां मेलतांई कीधा महा भीर ॥ ३ ॥
मेदपाट तणी कूक सांभले विजाई मान।
वान आयो अभूख उपाटां जेण वार ॥
मरेटां दने उ भूख करंतो जनेवां मूढै।
एक घाव गेंई टक जनेऊ उतार ॥ ४ ॥
नारा जा आगाण झली वीजली सिलाव मेजां।
दुहुँ फौजां उलली दारणा मली दीठ ॥
लड़ाका री सोद आडी घोड़े धाड़ि धाख लागी।
राड़ी चंखे सीसोदां गनीमां वागी रीठ ॥ ५ ॥
सूरां पूर झाटा माची भ्रकूटां उठावे संभू—
सांची तान लावै रंभा मचावै संगीत ॥
रीखाराज वावै वीण प्रवीण हर खारतौ।
गावै सूखा चोसटी अंगौठी रूखां गीत ॥ ६ ॥
काल वाली चरखी असाध झूठौ नाग कीना।
रूठौ जिसौ झूठौ खत्री धखै उरां रीस ॥
एक मूठौ महा रथी वाई कराल तो आगि।
सायिकां अरोड़े टूटो आध रती सीस ॥ ७ ॥

सड़फ्फ बीज़ जलां हास मोहा वड़फ्फे सूर।
सीसहार भड़फ्फे पड़क्खे नथी संभ ॥
ग्रीधणी हड़फ्फे पलां सामली हड़फ्फे गूद।
रुण्ड केई अड़फ्फे पड़फ्फे वग रंभ ॥ ८ ॥

के दिया न दीठ वैठ नागड़े जोगिन्द्र के ही,
सही लंका आवा वड़े दीठ वंका सूर ॥
दवासू पागड़े लग्गो नृपरां चलावे दोहूँ–
गहड़ी वग ऊपरां भागड़े परी जे हूर ॥ ९ ॥

गोलां तणी मार लोप तोपरे जंभीरे गयो।
आहड़ेस धारी न को बोलां तणी आप ॥
त्रहुँ लोकां मभारे औ सांप पूगी रोला तणी ताप।
ताप गीर हिये पूगी गोलां तणी ताप ॥१०॥

उथापे गनीसां थाण सूरां सीस थाप ऊभो।
जोधपुरा काप ऊभो भीम भाड़ भोड़ ॥
अरी खाप धाप ऊभो करी खावा थाप आंच।
आज री जगाणी खांपां न मावे अरोड़ ॥११॥

[रचयिता:– बद्री दान खड़िया]

भावार्थ:– सैनिकों ने शत्रुओं से अच्छी तरह लोहा लिया–सामना किया। उनके आतंक से कितने ही वीर शत्रुओं ने उदास हो कर छटपटाते हुए शस्त्र प्रहार सहे और पीछे हटने लगे। इस सेना को पीछी हटती देख आतुरता से तलवार का वार करने के लिये प्रतापसिंह ने अपने घोड़े को शत्रु दल में घुमा दिया ॥ १ ॥

शत्रु अपना अधिकार जमाने के लिये प्रतिदिन ढोल नगारे बजाते रहते हैं लेकिन फतहसिंह का पुत्र इन थोथे बाजे शब्दों को कैसे सुन सकता है? वह क्षुधित वीर सतारा स्वामी की सेना पर आक्रमणार्थ चढ़ आया ॥ २ ॥

सिशोदिया मूछों के वट लगाता हुआ शत्रु-सेना से भिड़ने लगा, जिसे देख शंकर और नारद हर्षित होने लगे। वह तलवार को म्यान से बाहर निकाल कर और भिड़ने के लिये विचित्र गति से वार करने लगा ॥ ३ ॥

मेवाड़ देश की कष्ट भरी आवाज सुन कर हे दूसरे मानसिंह! उस समय तू ने अपने बदन पर नूर चढ़ा, क्षुधित हो मरहटों को उस दिन तलवार से चकना चूर कर दिया ॥ ४ ॥

युद्ध में झंडों पर बिजली के सदृश चमकती हुई तलवारों के वार होने लगे और दोनो सेनाओं के उछलते हुए हर्षित वीर भयंकर स्वरूप में दिखने लगे।

सिशोदिया वीरों की अश्वारोही सेना देख शत्रु दिल में कंपित होने लगे और परस्पर प्रत्यक्ष में तलवारें चलने लगीं ॥ ५ ॥

खड्ग प्रहार से दोनों ओर के धराशाई हुए वीरों के मस्तक शंकर उठाने लगे और अप्सराएँ; योगिनियाँ आनंद प्रद गीत गाने लगीं। इसी तरह रणक्षेत्र में हर्षित हो नारद अपनी वीणा बजाने लगे ॥ ६ ॥

क्रुद्ध सर्प की भाँति, काल चक्र की तरह क्रुद्ध हो कर वीर क्षत्रिय भिड़ने लगा; दबी हुई अग्नि तुल्य शत्रु-समूह को कुरेदने (उकसाने) लगा और उसे तीरों द्वारा घायल कर धराशाई करने लगा ॥ ७ ॥

कितने ही जख्मी वीर रक्त रंजित हो रण-भूमि में पड़े हुए तड़प रहे हैं। कितने ही युद्धासक्त वीर पड़े पड़े परस्पर शत्रुओं को ललकार रहे हैं। शंकर अपनी मुण्डमाल के लिये वीरों के शिर पृथ्वी पर गिरने पूर्व ही झपट कर ले रहे हैं। गिद्धनियाँ, चील्हें, मांस, हड्डियों के

लिये छीना झपटी कर रही हैं। वीरों के कवंध आपस में टकरा कर भूमिसात् होने लगे और अप्सराएँ सैनिकों को वरण करने लगीं ॥ ८ ॥

उन परम सुन्दरी अप्सराओं के सामने ऐसा कोई दिगंबर ऋषि नहीं था, जिसने इन पर दृष्टिपात न किया हो। ऐसी वे अनुपम सुन्दर अप्सराएँ लंका विजयी जैसे वीर बांके योद्धाओं को देख, उन्हें वरण करने की लालसा से उनकी रकाबों से लिपट कर नूपुर बजाती हुई आपस में झगड़ने लगीं ॥ ९ ॥

वह वीर युद्ध करता हुआ तोपों के गोलों की बौछारों को सहन कर (तोपों की) कतार के पास पहुँच गया। उस वीर एवं साहसी सिशोदिया ने विकट समय को कुछ नहीं मान युद्ध किया। जिसका आतंक सिंधी वेहर जी पर ही नहीं अपितु सारे भू मंडल पर छा गया ॥ १० ॥

वीर प्रतापसिंह के पक्ष के योद्धा ने राठौड़ भीम तुल्य शत्रुओं से भिड़ कर उनके स्थापित किये हुए थानों को हटा दिया और अपनी सीमा कायम कर शत्रुओं को नष्ट कर अपनी क्षुधा शान्त की किन्तु अरि-गजों को धराशाई करने की लालसा पूरी नहीं हो सकी ॥ ११ ॥

८९. राज कल्याण सिंह झाला, देलवाड़ा १

गीत (वड़ा साणोर)

महावीर वीराद् प्रमजोत ग्रंगं मलै ।
बार जन् कला मुख नूर बरसै ॥
नार इन्द्र तणी वरमाल् वाली न को ।
दध सुता माल् वरमाल् दरसै ॥ १ ॥

टिप्पणी:—यह झाला राज सज्जा (तृतीय) का पुत्र था। वि० सं० १८४४ में यह राणा भीमसिंह के समय हड़किया खाल् के सगटा युद्ध में वीरता के साथ युद्ध कर शस्त्रों से स्वयं घायल हुआ था ॥

राँण दल़ पलटतां सुथर झालो रहे ।
भांण अस रोक आराण भालं ॥
राज रै कंठ भूखाण उण चौसरां ।
रंभ चौंसरन को सीस रालं ॥ २ ॥

विधाता नाथ व्रण लेख अवरी वरी ।
विया राघव करी अचल़ वातां ॥
हार ग्रीवां तणा देख झाला हिये ।
हार वारँग लियां रही हातां ॥ ३ ॥

करै मनुहार मुख हूंत इण विध कहै ।
आव रथ भीच दीवाण वाला ॥
पोहप वर माल घाली न को अपछरा
मोतियां तणी गल़ देखमाला ॥ ४ ॥

(रचयिता:-अज्ञात)

भावार्थ:- हे वीर कल्याण सिंह ! मरहठों के साथ युद्ध भूमि में अनेकों वीर शिरोमणि युद्ध करते हुए परमात्मा की दिव्य ज्योति में मिल गये । परन्तु उस समय तेरी मुख-कांति कमल पुष्प के समान दृष्टि गोचर हो रही थी: किंतु हे वीर ! स्वर्ग की अप्सराएँ तेरे गले में मोतियों की माला देख कर तुझे वरण करने हेतु वरमाला तेरे गले में नहीं डाल सकी ॥

हे झाला ! महाराणा की सेना के चरण रण भूमि से डिगने लगे, उस समय तू रणस्थल में बड़े साहस से अपने स्थान पर दृढ़ रहा । इस प्रकार के तेरे शौर्य को देख सूर्य अपना रथ रोक युद्ध क्रीड़ा देखने लगा । किंतु तेरे गले में मोतियों की माला देख कर अप्सराएँ वर-मालाएँ नहीं पहना सकीं ॥

हे राघव देव के समान वीर ! तू ने राघव देव के रण-कौशल को अमर कर दिया। ज्ञात होता है कि विधाता ने अप्सराओं के भाग्य में विवाह नहीं लिखा था क्यों कि कल्याणसिंह के गले में मोतियों की माला देख अप्सराएँ वरमाला धारण नहीं करा सकीं और वर मालाएँ उनके हाथ में ही रह गईं ॥

अप्सराएँ केवल मात्र अपने मुख से यह शब्द कह कर आग्रह करने लगीं कि "हे कल्याण सिंह ! तू विमान में बैठ कर हमारे साथ विहार कर किंतु कल्याणसिंह के गले में मोतियों की माला देख कर अप्सराएँ विवश हो गईं क्योंकि मोती और अप्सराएँ सहोदर होने के कारण अप्सराएँ उनके साथ विवाह नहीं कर सकती थीं ॥

६०. झाला राज राघव देव (द्वितीय), देलवाड़ा

गीत (बड़ा साणोर)

अचल नव लाख रे जुध देखि धायो अरक।
ईस धायाँ लहै सीस अण चूक ॥
धड़चतो घड़ां वेरी हरां न धायो।
राज राघव तणो अघायो रूक ॥१॥

तमासा सिध पईसे समर मार तुरण्ड।
उमापत सधप तोड़े कमल आप ॥
वड वड़ां सत्रां अणियाँ सधप विहंडनो।
मान तण तणो खग अधप अण माप ॥२॥

प्रचण्ड थट महारिण पेखे पुरण पतंग।
नायका कवट पूरण भरण नाग ॥
अलवलां सपूरण खलां आरोगनो।
खिवे कड़तलां करां अपूरण खाग ॥३॥

बूकड़ा वटक गूधा गटक लिये वल।
सह कटक आचमे गजां सहतो॥
वधापै जेम दहतो समंद वाड़ नल।
वीर खग न धापे रिमा वहतो॥ ४॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थ:- हे राघवदेव! युद्ध भूमि में अडिग रहने वाले नव लक्ष सैनिक वीरों के साथ होने वाले तेरे युद्ध को सूर्य देख कर व शंकर मस्तक पाकर तृप्त हो गये। हे वीर! शत्रु अंगों को जख्मी करता हुआ तेरा खड्ग तृप्त नहीं हुआ।

तेरे युद्ध कोतूहल को नारद व सूर्य देख देख कर और उमापति (शंकर) ने प्रति पक्षियों के मस्तकों को तोड़ते हुए अपनी इच्छा पूर्ण करली। फिर भी हे मानसिंह के पुत्र! बड़े बड़े विरोधी वीरों पर वार करता हुआ तेरा खड्ग तो तृप्ति रहित ही बना रहा।

तेरे साथ शत्रुओं के विशाल समूह का भयंकर युद्ध अवलोकन करता हुआ और सर्प को धारण करने वाले (शंकर) ने बड़े बड़े योद्धाओं के मस्तक पा कर अपनी क्षुधा शान्त करली। किंतु हे झाला! तेरे हाथ से विरोधी दलों को नष्ट करते हुए (तेरे) खड्ग के हृदय में शान्ति नहीं हुई।

प्रति पक्षियों के सैनिक वीरों और उनके हाथियों के कलेजों के टुकड़े टुकड़े कर उनके रक्त व मांस का आहार कर तेरे खड्ग ने आचमन कर लिया। फिर भी हे वीर! विरोधियों को निर्मूल करते हुए तेरे खड्ग के हृदय में ईड़वाग्नि की ज्वाला के सदृश क्षुधा की अशान्ति बढ़ती ही रही है।

६१. राजा बहादुर गोपाल दास चुण्डावत, करेड़ा

गीत (छोटा साणौर)

राखि गोपाल मरण अब रूड़ा,
लेख अचड़ चहुँ जुगां लगे ॥
पट हथ कमल भुजे प्रतमाली ।
परठ पाण आछटी पगे ॥ १ ॥

सुर नर अचरजियां सीसोदा !
थोबे अरक रथ थकत थियो ॥
कर कुंजर सिर रोप कटारी ।
क्रमे कटारी मार कियो ॥ २ ॥

साच कलह दाखे दूदा सुत—
मने साच सुर भुयण मझार ॥
थल त्रिजड़ी कुंभाथल हाथे,
ठेली चलणे थाट विदार ॥ ३ ॥

कलह लंक–कुरखेत पछैं कर ।
दो मझि थिन गोपाल दुआढ ॥
मदझर सिर कर मांडे मारी,
जसाग तड़ियल जमदाढ ॥ ४ ॥

टिप्पणी:—यह देवगढ़ के रावत जसवंत सिंह का छोटा पुत्र था, महाराणा अरिसिंह के समय रावत जसवंतसिंह जयपुर जाकर रहने लगा था । वहाँ उसको किसी वीरता के उच्च कार्य के कारण राजा बहादुर की उपाधि मिली । इसके वंशधर करेड़े की जागीर में हैं । उपरोक्त गीत में इसके द्वारा कटारी से हाथी मारने का वर्णन है ।

कसन नहँ लगो सिंघ कलोधर।
अहवि घाव मनाड़ि ईसो ॥
गड़ो उपाड़ न आवे गैमर।
दूजा ही गोपाल दिसो ॥ ५ ॥

(रचयिताः-अज्ञात)

भावार्थः- हे गोपाल दास ! तुमने मृत्यु प्राप्ति के लिये अच्छा शुभ दिन प्राप्त किया। तुमने अपने भुज वल से हाथी के मस्तक पर कटारी का वार करके इस वात को युगों तक अमर करदी ॥ १ ॥

हे सिसोदिया ! तू ने अपने वाहू वल से हाथी के मस्तक पर कटारी का प्रवेश किया; तेरी इस वीरता को देखने के लिये आकाश में सूर्य अपना रथ रोक कर देखने लगा और देवता गण तथा मनुष्य आश्चर्य करने लगे ॥ २ ॥

हे दूदा के वंशज ! अव तक इस प्रकार के युद्ध की केवल कहावत ही चलती थी पर तुमने इसे पृथ्वीपर यथार्थ कर दिखाई और तू ने अपने छल से हाथी के दुर्दम कुम्भस्थल को कटारी की पैनी नौक से विदीर्ण किया ॥ ३ ॥

हे गोपालदास ! लंका तथा कुरुक्षेत्र के वाद इनसे भी महत्वपूर्ण कार्य तू ने कर दिया। हे जसवंत सिंह। मदोन्मत्त हाथी के सिर पर बिजली के समान कटारी का वार कर तू ने उनसे भी अधिक यशस्वी कार्य किया ॥ ४ ॥

हे गोपालदास ! तू ने अपने सिंह के कुल को धारण कर उस पर कलंक नहीं लगने दिया; तथा ऐसे भयंकर युद्धों में इस प्रकार आघातों से तू ने यह भी समझा दिया कि फिर कभी वह हाथी सिर उठा कर तेरे व किसी के भी सामने नहीं आ सके ॥ ५ ॥

९२. राजा बहादुर गोपाल दास चुण्डायत, करेड़ा ?

गीत (छोटा साणोर)

चढ़ियौ जस-कलस आदि लग चूण्डा !
पै गज थाट गिलण गोपाल ॥
दाणव, देव, मानव कोय दाखो ।
पग सूं गज हिण तो प्रित माल ॥१॥

होयतां कलह चार जुग हुआ ।
असी अचड़ नहँ कीध अडूर ॥
सु जड़ी दूदा सुत जिम पग सूं ।
सिंधुर हयो न किण ही सूर ॥२॥

राघव पछै चूंड हर राखी ।
इवड़ी अचड़ जुगां अनिसंध ॥
मारियौ चलण कटारी मांडे ।
मुड़ियौ वल छंडे मद गंध ॥३॥

करगे अ वसि होये वसि कीधी ।
गज दल घाव वही गज घाव ॥
पग गोपाल जड़ाली परठैं ।
पड़ियौ हसती मरण परि जाव ॥४॥

(रचयिता:-अज्ञात)

भावार्थ:- हे चुण्डायत गोपालसिंह ! तू ने पैर से कटारी चलाकर हाथी मार किया । जिससे तेरे यश ने पूर्वजों के यश पर कलश का स्थान ग्रहण किया । देवता और राक्षसों ने कटारी पैर में पकड़ कर हाथी को मारने के लिये नहीं चलाई ॥

युद्ध होते हुए चार युग बीत गये किंतु ऐसी स्थिर (अमर) रहने वाली वीरता किन्ही अन्य वीरों ने नहीं की। दूदा के पुत्र की भाँति पैर द्वारा कटारी से हाथी को किसी योद्धा ने नहीं मारा ॥

राघव देव के पश्चात् युगों तक प्रचलित रहने जैसी वीरता चुण्डा के पौत्र ने ही की। उसके पैर की कटारी के वार से रक्त रंजित हाथी साहस हीन हो गिर पड़ा ॥

हाथ से न चला कर भी हाथ ही से चलाई गई हो इस प्रकार कुशलता से वे गोपाल सिंह ! तू ने पैर से कटरी का वार कर हाथी को गिरा दिया ॥

९३. राव सवाई केशवदास परमार, बिजोलियां

गीत—(सु पंख)

जलो सेल्हिया भड़ज्जां भड़ां करे हलो महा जोध,
 टलो दे दोखियां सीस बजे वीर तास।
  भूपती देस रा सारा पर देसी भाखे भलो,
   दूठ खागां पाण कल्लो लीधो केसोदास ॥१॥

धुवे नाल अराबां चरक्खां धोम धोम धूजे,
 जंगां जेत वारां सदा करे खलां जेर।
  नेत बंध गाढे राव अरीचो गमायो नास,
   असी रीत तेगां जोर जमायो आसेर ॥२॥

टिप्पणी:—१—राव केशवदास, परमार राव शुभ करण का पुत्र था। मेवाड़ के महाराणाओं की ओर से दक्षिण में शाही सेना के पक्ष में इसने युद्ध किया और अपनी बहादुरी का परिचय दिया।

खुले हास नारदां तमासा भाण रथां खंचे,
तड़च्छै सतारा दलां हाकलै तुरंग।
टंकारां धानंखां बजे सत्रां घड़ां करे टूका,
दूजे मान लीधौ सकां गैजूह दुरंग ॥३॥
सोभाग सुजाव चाढ पुंआर उदार सोभा,
गोखां हेट लागा मदां करीजे अग्राज।
सारा छत्र धार्यां राजा राण दीधी सुरां,
राजोई आथाण भूरा क्रोड़ जुगां राज ॥४॥
(रचयिता:-अज्ञात)

भावार्थ:- हे केशवदास, तूने तेरी सेनाओं का कुशलता से संगठन कर शत्रु-पक्ष के अनेक यौद्धाओं को परास्त कर दिया। तूने अश्वारोही होकर रणभेरी बजाई और भयंकर युद्ध किया। मानो तू साक्षात काल के समान ही शत्रुओं का संहार कर रहा था। इस प्रकार तूने दुर्ग पर अधिकार प्राप्त कर लिया। जिससे तेरा यश देश विदेशों में फैल गया ॥ १ ॥

तोप के चरक (तोपों से शत्रु सेना पर प्रहार करते समय निशाना बांधने का एक यंत्र विशेष जिससे तोप इधर उधर ऊपर नीचे फिराई जाती है) पर तोप को चढ़ाकर; उससे गोले छोड़ने से एवं बन्दूकों के भीषण शब्द से आकाश और धरती कम्पित होने लगी। हे यौद्धा ! तूने जब २ युद्ध किया तब शत्रुओं को आक्रमण के पूर्व ही भयभीत कर दिया इस प्रकार तूने शत्रुपक्ष के गौरवांवित नाम को अपनी विजय से तथा विजय चिन्ह बांध कर इस प्रकार तलवार के बल से नष्ट कर दिया अपने दुर्ग पर बड़ी कुशलता से अधिकार प्राप्त किया ॥ २ ॥

हे वीर, तेरे इस भयंकर युद्ध को देखने के लिये सूर्य ने अपना रथ रोक लिया और नारद को हँसी छूट गई। उस समय अश्वारो

होकर सता की सेना पर तूने आक्रमण किया। जिससे सैनिक वीर धराशायी होकर छटपटाने लगे। हे मानसिंह के समान वीर, तू ने गज-समूह पर आक्रमण कर दुर्ग पर आधिपत्य स्थापित कर दिया ॥ ३ ॥

हे परमार सौभाग्यसिंह के पुत्र, तेरी रणविजय की कीर्ति देश देशान्तरों में व्याप्त होगई। तेरे राज प्रसादों के आंगन में हाथी गर्जना कर विजयनाद करने लगे। इस प्रकार की विजय से अन्य राजाओं तथा महाराणाओं ने तुझे 'राजा' की उपाधि से विभूषित किया हो। हे परमार तू इस उपाधि से विभूषित रह कर चिरायु हो ॥ ४ ॥

६४. रावत अजीतसिंह सारंगदेवोत, कानोड़[1]

गीत (वड़ां साणोर)

भरळ तेज उडगाण अणी विकटां भलक।
पांण घण बांण अत जेहर पायो ॥
वहे दइवाण रो धांस जवनां वीच।
अर्‌यां सर जांण वीजाण आयो ॥ १ ॥

जभक अहराव फुण हूंत भालां अजर।
क्रोधवंत जटाधर नेत केहो ॥
प्रवल भुज धारियां प्रसण हुँत ऊपरा।
अजा रो कूंत जमराण एहो ॥ २ ॥

---

[1] टिप्पणी—यह रावत जालिमसिंह का पुत्र था और महाराणा भीमसिंह के समय वि० सं० १८५६ में जालिमसिंह झाला ने अंबाजी इंगलिया के भाई बालेराव को महाराणा की कैद से छुड़ाने के लिये झाला जलिमासिंह (कोटा) ने चढ़ाई की। चेजा की घाटी में महाराणा और जालिमसिंह झाला की सेना का मुकाबिला हुआ जिस में रावत अजीतसिंह घायल हुआ।

बांण पाराथतणों जांण वीरोध रो ।
विखम थट रोद रोकियां बांसों ॥
जबर भुजधारियां हरण बल जोध रो ।
धमक भुज धारियां अरुण धांसों ॥ ३ ॥

जगाहर हूंत धक जांण वी जांग रो !
थाट रै समी कुण बाथ घालै ॥
रागणों धरा रखपाल दीवाण रै ।
सेल अरियाण रै हियै सालै ॥ ४ ॥

(रचयिता —अज्ञात)

भावार्थः— शत्रुओं की सेना में तेजी से प्रखर प्रहार करने वाले भाले को बनाते समय उस की नोक विष में बुझा दी थी । हे सारंग देव ! तेरा भाला मुगल शत्रुओं पर बिजली के समान चलता है ।

क्रुद्ध सर्प के मुँह की विष युक्त फुत्कार के समान और शंकर के तीसरे नेत्र के समान हे अजीतसिंह ! तेरी शक्तिशाली भुजाओं में लिया हुआ भाला यमराज के समान शत्रुओं पर चलने वाला है ।

अर्जुन के बाण के समान विरोध बढ़ाने वाला और मुगलों के समूह का पीछा करने वाला तथा हे हनुमान के समान वीर सिसोदिया ! तेरे हाथ में यह रक्त-रंजित भाला शोभा देता है ।

हे जगतसिंह के पौत्र ! तेरा भाला शत्रुओं पर आक्रमण करने में बिजली जैसी शक्ति रखने वाला है; किसका साहस है जो कांटेदार वृक्ष को भुजाओं में कसने की इच्छा करे । महाराणा की पृथ्वी की रक्षा के लिये तू ऐसा गुण युक्त भाला रखता है जो शत्रुओं के हृदय में प्रतिदिन खटकता रहता है ।

९५. ठाकुर जैत्रसिंह राठौड़ मेड़तिया, बदनोर[1]

गीत (सुपङ्ख)

प्याला पीवणां अनोखां दारू लेवणां हमेसां पांगी।
ईवणां सुपातां गुणां खालुवां अरूठ॥
मंडी राड़ न नीवणा दीवणा पनंग माथै।
दईवान जीवणा आजान बाह दूठ॥१॥

ईस रै उबारी गला आगै ही चित्तौड़ वारै।
साह री सिंधारी फौज पडै ईव साथ॥
राड़ ले उधारी यसो वला झारी जैत राज।
छौला वरां पूर भारी मेड़ता रो छात॥२॥

सगत्ताणी सांगांणी सत्तारां हूँत आणी सेना।
तुरक्काणी हिंद बाणी ऊप जैतसींग॥
ईसराणी चल्यो पाणी सादांणी मेवाड़ आतां।
काश वाणी हींदवे जंगाणी तोल कीग॥३॥

दावा गिरां हीरदां जे ओ गाजे बंदूकां दारू।
जगायौ कंठीर छाजे तराजे जोधा दार॥
जीवणां गराजे राजे साढै देह भोगे जमी।
अड्सी नवाजे राजे ईसरा औतार॥४॥

(रचयिता:-अज्ञात)

---

[1]टिप्पणी:- यह बदनौर के ठाकुर अक्षयसिंह का पुत्र था और महाराणा भीमसिंह के समय सिंधिया के युद्ध के अवसर पर आंबा इंगलिया और लकवा दादा के बीच मेवाड़ में लड़ाइयाँ हुई उस समय यह लकवा के पक्ष में रह कर लड़ा था।

भावार्थः- हे जैत्रसिंह ! तू विचित्र प्रकार के शराब के प्याले पीकर प्रतिदिन यश प्राप्त करता है और कवियों के गुणों का सम्मान कर शत्रुओं पर रुष्ट होता है। युद्धारंभ के समय भयभीत न होकर तू शेषनाग के सिर पर अविचल पैर रखने वाला है। हे दीवान ! तू लंबी भुजाओं वाला वीर दिखाई देता है तू चिरायु रह ॥

चित्तौड़ के पूर्व युद्ध में तुम्हारे पूर्वज ईश्वरदास ने भी बादशाह की सेना का संहार कर और स्वयं वीर गति प्राप्त कर अपने यश को अमर कर दिया था। हे मेड़ता निवासी जैत्रसिंह ! तू युद्ध के लिये पूर्ण उन्मत्त हो युद्ध मोल लेने वाला शूर वीर है ॥

शक्तावत और सांगावत जब सतारे की सेना को मेवाड़ में लाये उस समय हे ईश्वरदास के वंशज ! हिंदू और मुसलमान दोनों जातियों ने मेवाड़ में आने के पश्चात् इस युद्ध में हिन्दू-सूर्य की सहायता के लिये तुमने अपनी भुजाओं पर युद्ध भार तोल लिया—उठा लिया ॥

हे वीर ! सोये हुए सिंह के जागने के समान और भभकते हुए बारूद के समान तुम्हारा शौर्य शत्रुओं के हृदय को छेद कर जलाने वाला है। तेरी गर्जना से और तेरे मेवाड़ में रहने से राणा अरिसिंह साधारण रूप से राज्य का उपभोग करते हैं। हे वीर तू चिरायु रह ॥

९६. राजराणा अज्जा झाला, सादड़ी ?

गीत (छोटा साणोर)

पड़िया नेजाळ विहे पाटरिये,
भागां कोट नहँ क्रम भरिया।
अजमल तणा खड़ग रै ओले,
अधपत मोटा ऊगरिया ॥ १ ॥

सेलां सूंहे राज धर संभ्रम,
लोहे जिते मैंगलां ढाल।
रावल गव आविया राणा,
ओले तूझ तणे अजमाल॥ २॥

झालै भार जुझरा झाले,
सीस आपाणे सरब मही।
राणा वड़ै ऊबरे राणा,
रवि रयणां ज्यां वात रही॥ ३॥

(रचयिता:—अज्ञात)

भावार्थ:—युद्ध स्थल में झंडा लहराने वाले बड़े बड़े मुखिया वीर, वीर गति को (मोक्ष को) प्राप्त हुए। गढ़ के टूटने के पश्चात भी युद्ध स्थल से पैर नहीं हटाने वाले हे अज्जा, तेरी तलवार की आड़ से बड़े बड़े राजा महाराजा बच गये।

हे राज राणा अघरु के पुत्र! तूने अपने भाले से बड़े २ हाथियों को मार गिराया। तेरे साहस की आड़ लेने के लिये बड़े बड़े राजा और राणा तेरी शरण में आ बसे।

हे झाला! तूने युद्ध का सारा भार अपने कंधों पर लेकर सारे आघात सिरपर सहन किये। राणा और बड़े बड़े राजाओं को तूने अपने साहस से बचा लिया। इसका यश सूर्य की गति तक अमर रहेगा।

टिप्पणी:— १ यह महाराणा रायमल के समय में जब हलवद काठियावाड से झालों का मेवाड में आगमन हुआ, उसमे झाला सरदार अज्जा व सज्जा दोनों प्रमुख व्यक्ति थे। वि० सं० १५८४ में महाराणा सांगा और बाबर के बीच खानवों मे युद्ध हुआ, उस समय यह महाराणा के घायल होने पर उसका प्रतिनिधि बना युद्ध करता हुआ समर क्षेत्र में मारा गया। इसके वंशज सादड़ी के झाला सरदार हैं।

९७. रावत संग्राम सिंह शक्तावत, कोल्यारी

गीत (बड़ा साणोर)

हले थाट दखणाद लग दल तोपां हसत ।
ससत सद सीहरा लगां खागां ॥
सरट तिणवार राखी वकट सोसरां ।
सुदेती चौसरां तणी सांगा ॥ १ ॥

हाक रण डाक मल वीर मरदां हला ।
सत्र गला विरुथा लूंब सूण ॥
अगै खग तोलकर तोपथल ऊथला ।
भलो नर वाहियो वाल सूंग ॥ २ ॥

वांकड़ा भड़ा रण मरद पलटे वचन ।
छक केनां वट नन किनां छायां ॥
आहुड़ण खेत असणा मणा ईडरा ।
आगसण सीहरा न को आयां ॥ ३ ॥

लाल सिं राव सौभाग सगतां तलक ।
खलक आये नजरां आग खवतां ॥
अन भड़ां सरण इल अलक छक ऊतरण ।
रण सरण सौ सुणां सर खतां ॥ ४ ॥

टिप्पणी:- यह शिवगढ़ (डूंगरपुर) के लालसिंह शक्तावत का पुत्र था । महाराणा भीमसिंह के समय में यह बड़ा साहसी और शक्तिशाली पुरुष था । इसने अपनी ताकत से धावा कर सुदृढ़ गढ़ डांडियों से छीन लिया । इसको महाराणा की ओर से मुखी बना कर मरहटों के कैम्प में भेजा ।

पख जंग क्रूंत केतां धरम पालटै ।
हटै विपरूत गत सूं तंग हीयां ॥
कलह विच मज़बूत अडिग रोके क़दम ।
राह रजपूत मावृत रहियां ॥ ५ ॥
(रचयिता:–अज्ञात)

भावार्थ:– दक्षिणी सैन्य समूह के तोपों से बँधे हुए हाथी आपस में टक्कर लगाते हुए चलने लगे। तेरे समान बल-गौरव वाले यौद्धा तलवारें लेकर सामने आकर खिसकने लगे। ऐसे समय हे मांगा ! तूने श्वेत दाढ़ी मूछों का गौरव रख लिया और सामने अड़ा रहा ॥

वीर हुँकार होते ही रणांगण में बावन वीर मिलकर डमरू बजाने लगे। शत्रु सेना के यौद्धा वीरों की ग्रीवा पकड़ कर मल्ल युद्ध करने लगे। हे वीर ! ऐसे यौद्धाओं के सामने तलवार उठाकर उनको उलट पलट कर तूने अपना वचन निभाया ॥ २ ॥

रण भूमि में कितने ही यौद्धाओं का गौरव उनके वचन भंग करने से नष्ट हो गया। कितने ही वीरों का गौरव बढ़ गया। अनेकों संबंधी यौद्धा लड़ने के लिये आकर भी तटस्थ रहे ॥ ३ ॥

हे शक्तावत वंश के सिरमौर ! लालसिंह के पुत्र, उनके सौभाग्य से जिस समय शत्रु तेरी दृष्टि के समाने आ जाते हैं उस समय तेरे नेत्र लाल हो जाते हैं और नेत्रों में अग्नि समा जाती है। अन्य वीर तो सेना में उत्साह हीन होकर अपना गौरव नष्ट करते हैं किंतु हे रावत ! युद्ध में वीर गति प्राप्त करने हेतु तुम्हें सौगुना आवेश आता है ॥ ४ ॥

युद्ध में भालों का वार देख कर कई यौद्धाओं ने अपना क्षात्र धर्म बदल दिया और इस भयंकर युद्ध को देख कर अनेकों यौद्धा मृत्यु के भय से भीरु बन कर स्थल छोड़ चले, किंतु हे वीर ! तू युद्ध स्थल में अडिग रहा और क्षत्रियत्व के मार्ग पर डटा रहा ॥

९८. रावत अजीतसिंह चुण्डावत, आसींद १

गीत—(सु पंख)

राड़ां सालुलै अन्थगां वेध वधे सोवां रायजादा,
सतारा उछाजां जूह उमंड़े सजीत।
घोर वेला प्रथम्मी आराता मृत हेक घाटैं,
आसमांन फाटैं थंभ लगायौ अजीत ॥१॥

नखै चीर लागे छंदा धरती उघाड़ैं नाची,
नेण हूँ छतीस सखां दखै आमान।
च्हह चकां साजै नाद आरातां वानैत चूण्डा,
अधारै भूडंडां ने डगंतो आसमान ॥२॥

फरे गढ़ां दोलाके हबोला लाख फौजां,
लूट मलै कार दुनी करे भू लेणाग।
जमींरे कांकार रे हो मेटतां अजाग जेठी,
गाढ़ राव धारै भुजां टूटतो गेणाग ॥३॥

भूरा हूह विलाती फिरंगा जूह मेल भूरे,
सेला भीम राजां ग्लानी भमाया असंभ।
भू गोल करंते थाले सतारा उथेल भालां,
ग्रै गोल लसंते हाथ दीधा अड़ी खंभ ॥४॥

टिप्पणी:—१—यह कुरावड़ के रावत अर्जुनसिंह का छोटा पुत्र था। महाराणा भीमसिंह के समय बढ़ते २ दीवानों में दाखिल हो गया था और रियासत से पृथक जागीरी प्राप्त कर ली थी मरहठों व पिण्डारियों के उपद्रव के समय इसने सैनिक और राजनैतिक सेवाओं में भाग लिया था अंग्रेजों से मेवाड़ की सन् १८१८ में इसी के द्वारा सन्धि हुई थी।

दिस दसा राव राजा आसांन ठाणियो दिलां,
माफ देह धारे लाह माणियो अमांन ॥
सांगा वांर जीतो देस राण रै आणियो सारो,
जाणियो प्रवाड़ो आलमां जहांन ॥५॥

(रचियता:- अज्ञात)

भावार्थ:- राव राजाओं और सूबा (प्रान्त) पतियों में परस्पर विशेष कलह बढ़ने लगा। सतारे के उच्च श्रेणी के अविजित वीरों के समूह उमड़ आये। ऐसे भयंकर समय में हे अजीतसिंह ! गिरते हुए आकाश के थंभ लगाने जैसी देश की एक साथ व्यवस्था की ॥ १ ॥

चीर (वस्त्र) होते हुए भी नखरे करती हुई नग्न होकर पृथ्वी नृत्य करने लगी (अर्थात् व्यवस्था होते हुए भी पृथ्वी शत्रुओं के अधिकार में जाने लगी) जिसे छतीस वंशी क्षत्रीय, राज्योपभोगी देखने लगे ऐसे समय हे चुण्डावत अपने वीर वेश धारण कर गिरते हुए आकाश को भुजाओं पर झेलने की भांति बजते नक्कारों के बीच अपनी जमीन अधिकार में कीं ॥ २ ॥

लाखों शत्रुओं से गढ़ घिर गया। प्रलयंकरी ने लूटमार शुरु की तथा पृथ्वी बल से अधिकार में करलीं। हे अजीतसिंह के पुत्र ! ऐसे समय में तूने गिरते हुए नभ मंडल को अपनी भुजाओं से बचा लिया ॥ ३ ॥

हे वीर, तू ने अंग्रेजों के समूह को रक्त रंजित कर भीम के हाथियों में मिला दिया। हे बहादुर ! सतारे के स्वामियों का भू अधिकार तूने अपने भाले की शक्ति से हटा दिया और गिरते हुए आकाशी प्रलय से अपने को बचा लिया, ठीक व्यवस्था रखली ॥ ४ ॥

(बढ़ते हुए प्रलय से देश को बचाने से) दसों दिशाओं के राजाओं पर अहसान किया। जिसका उन्होंने हृदय में हर्ष माना और उसका

लाभ उठाया। महाराणा सांगा के अधिकार के समय का राज्य (जो-बाद में शत्रु के कब्जे में होगया था) वापस राणा के अधिकार में करा दिया। जिससे तेरा गौरव सारा संसार जान गया ॥ ५ ॥

६६. रावत हम्मीर सिंह चुण्डावत, भदेसर[1]

गीत (वड़ा साणोर)

अथय सिलह सभ हमीरे भड़ां थट पेरिया।
अस कसे फेरिया गिरां ओड़े ॥
घरर त्रांबाट फजराट थर घेरिया।
खेरिया जनेवां वाड़ खोड़े ॥ १ ॥

त्राण पाखर भणाण हजारी तड़छिया।
रोल भुज वड़छिया रचण राड़ा ॥
कर मछर धाड़ची लियण वित कड़छिया।
धड़चिया चूंड रज भुजां धाड़ा ॥ २ ॥

केमरा भड़ां तन दवा सूं काढ़िया।
झंडा रिण गाड़िया क्रोध झाले ॥
चंचलां थके खागां झपट चाढ़िया।
वाढ़िया निखादां सेर वाले ॥ ३ ॥

टिप्पणी:— १. यह रावत भैरोंसिंह का पुत्र था। महाराणा भीमसिंह के समय अमीरखां पठान ने भदेसर छीन कर वहां अपना थाना बिठा दिया, और ठिकाना निम्बाहेड़ा में मिला दिया। तब हम्मीरसिंह ने आकर भदेसर से मुसलमानों का थाना उठा दिया और अपना अधिकार कर लिया। इसके अतिरिक्त अन्य कई युद्धों में उसने भाग लिया था।

तारवड़ा उलट में त्रासियां लटायत ।
छटायत नाहरां भड़ां छोगे ॥
रमें खग भटायत तो। जहीं हमीरा ।
भलां जे पटायत पटा भोगे ॥ ४ ॥

(रचयिता:—अज्ञात)

भावार्थ:—सर्व प्रथम हम्मीर सिंह ने सैन्य समूह के साथ कवचादि पहन घोड़ों पर चारजामें कसकर पहाड़ के चारों ओर घेरा लगा दिया, और नगारे बजाता हुआ सुबह के समय शत्रुओं को घेर उन पर तलवारों की धारें भोटी करदी ॥ १ ॥

तलवारों के वार से यौद्धाओं के वख्तर व घोड़ों के पाखरों की भन-भनाहट होने लगी। शत्रुओं के तिरछे घाव लगाने लगे। वीरों ने अपनी भुजाए चला कर बरछियों के वार शुरु कर दिये। क्रुद्ध हो लुटेरे मवेशियों को लेने के लिये युद्ध करने लगे। चुंडावत ने उन डाकुओं को अपने प्रहार से जख्मी किया ॥ २ ॥

हम्मीर सिंह ने (शत्रु) यौद्धाओं को तीरों द्वारा घायल कर रण-स्थल में अपना विजय का झंडा रोप दिया। सैंरुसिंह के पुत्र ने अश्वा-रोही हो सामने के निषाद वंशियों को तलवार से काट गिराया ॥ ३ ॥

सिंह सी छटा वाले वीर शिरोमणि ने सज कर उलट-आने वाले (उन) लुटेरों को मार दिया। हे हम्मीरसिंह तेरे जैसे खड्ग धारी क्षत्रीय जागीरी का उपभोग करते हैं सो वाजिब ही है ॥ ४ ॥

१००. रवत हम्मीरसिंह चुण्डावत, भदेसर

गीर (सुपङ्ख)

भंडा फरक्कै मदालां पीठ आरबां न त्रीठा भड़ै,
भू पंडां ऊभड़ै वे निरंडां सूर धीर।

रमे दे घुमंडां वीर मार तुंडां रुके राह,
हकै बीच थंडां जटै उडंडां हमीर ॥१॥

रुकां वेग झालरा धू हालरा दे जोग गाणी,
धुरे राग कालरा वडाणी वंब घोर।
असा वीर ख्याल रा मंडाणी आप ताप उठै,
तटै रिमा सालरा सदाणी वालो तोर ॥२॥

वावां अंगां वड़ंगां वेढंगा तंगा वीर घाट,
भोम रंगां श्रोण हूँत नारंगां मेवान।
जोध चंगा वारगां मुरंगां वींद वरे जटै,
अभंगा सीसोद सुजां अड़ै आसमांन ॥३॥

माझी सूर अणी कढां सावलां अखाड़ां मंड,
धणी छलां ओनाड़ा नमाय खलां धींग।
राड़ी राग धाड़ा धाड़ां सउजा सोभाग रीत,
अहाड़ा प्रवाड़ा जीत दूजा अभै सींग ॥४॥

(रचयिता:- फतहराम आशिया)

भावार्थ:- हाथियों की पीठ पर झण्डे लहरा रहे हैं एवं नगारों की भयंकर आवाज हो रही है। युद्ध में अडिग रहने वाले वीरों के सिर धड़ से अलग हो रहे हैं। शूर वीरों की युद्ध क्रीड़ा देखने के लिये सूर्य भगवान ने अपना रथ आकाश मार्ग में स्थिर कर दिया है। ऐसे वीर शत्रुओं के समूह में हम्मीरसिंह ने अपना घोड़ा बढ़ा कर युद्ध आरम्भ किया ॥ १ ॥

अनल ज्वाला की भांति तलवारों के वेग और व्याकुल करने वाले सिंधूराग तथा नगारों का घोर नाद सुन कर योगिनियाँ हर्षित हो सिर

धुनने लगीं। इस प्रकार आतंक पैदा करने वाली वीरों की युद्ध–क्रीड़ा हो रही है। वहाँ शत्रुओं के दिल में तूं सदैव खटकना रहता है ॥ २ ॥

इस प्रकार अनेक शूर वीर घावों से परिपूरित होकर निशंक शत्रुओं के टुकड़े कर रहे हैं। पृथ्वी रक्त-प्रवाह से नारंगियाँ रंग की सी हो गई है। जहाँ पर अच्छे योद्धाओं के घावों से टुकड़े हो रहे हैं उन रंगीले वीरों को दुलहा बना कर अप्सराएँ वरण कर रही हैं! ऐसी युद्ध–गति में सिशोदिया ने पूर्ण रूप से अपनी भुजाएँ वार करने के लिये आकाश की ओर उठाई ॥ ३ ॥

तलवारों और भालों की नौंक से युद्धारंभ कर अपने स्वामी की सहायता के लिये प्रमुख वीर ने शूर वीर शत्रुओं को युद्ध में झुका दिया। दूसरे अभयसिंह के समान युद्ध विजय कर हे सिशोदिया संसार में अपना सौभाग्य और उज्जवल यश की वाह वाही फैलादी ॥ ४ ॥

१०१. रावत हम्मीर सिंह चुण्डावत, भदेसर

गीत (सुपंख)

काढ़ी दलां सी मंगलां प्रले समंदां ऊजली किन्ना।
खलां धू अरुठी जन्त्र गे थंडां खाणास ॥
सरंगां बिछूटी तूटी साघ पव्वे काला सीस।
बीर चूण्डा वाली ज्वाला बीजलां बांणास ॥१॥

जटी ऊघड़ी क चखां अरावां सावात जागे।
संधां ऊवड़ीक पव्वे भूमंडां सामाज ॥
मामलां घड़ीक बूठी सतारां गिरद माथै।
निहंगां तड़ीक जेम तुहाली नाराज ॥ २ ॥

सफ्फै गे जूह लोहां के धरा तड़फ्फै सूर।
वड़फ्फै खेचरां रंभा झड़फ्फै वेवाण ॥

महा वेग वहिया गनीम अद्र नगां माथै ।
ओधंशी हमीर वाली दामणी केवाण ॥ ३ ॥

नीर वजे आसेर चढ़ायो सालमेस नन्द ।
सोभा चाहूँ फेर चाढी प्रवाड़ गनीम ॥
ओभलाणो थारी समसेर छटा लगी आगे ।
मेर फेर फूल पत्रां न आवे गनीम ॥ ४ ॥

(रचयिता:-तेरजंराम आशिया)

भावार्थ:- हे शूर चुंडा, तूने अपनी तलवार निकाल शत्रुओं एवं उनके हाथियों के समूह पर क्रुद्ध होकर वज्र के समान चलाई। उस समय ऐसा आभास हुआ मानो समुद्र की लहर में प्रलयंकर अग्नि की ज्वाला चमक रही हो या काले पहाड़ पर बिजली टूट पड़ी हो ॥ १ ॥

उस समय कड़कती हुई तोपों का शोर (बारूद) ज्वाला ऐसी दीखने लगी, मानो शंकर का समाधि नेत्र खुल गया हो और उन तोपों की भयंकर कड़कड़ाहट से पहाड़ टूक २ हो जमीन पर पड़ने लगे, ऐसे भयंकर युद्ध में एक घड़ी तक सतारा के स्वामी पहाड़ स्वरूपी पर तेरी तलवार बिजली के समान टूट पड़ी ॥ २ ॥

युद्ध-भूमि में हाथी व योद्धाओं के समूह घावों से परि पूरित हो छटपटाने लगे। उस समय पिशाच योगिनी आदि कड़कती हुई आवाज से बोलने लगीं और अप्सराएँ वीरों को वरने के लिये, एक दूसरी से झपट २ कर विमानों में, बैठाने लगी, उस समय हे हम्मीरसिंह, शत्रु स्वरूपी पहाड़ पर बिजली के समान अत्यन्त वेग से क्रुद्ध होकर तूने तलवार चलाई ॥ ३ ॥

हे सालमसिंह के पुत्र तूने इस युद्ध को विजय कर अपने राज्य शासन एवं दुर्ग का गौरव बढ़ाया। जिसका यश सारी पृथ्वी की सीमा

तक आगया। यह शत्रु स्वरूपी पहाड़ बिजली के सदृश तेरी तलवार से जला हुआ भविष्य के लिये सर मज्ज एवं पत्र पुष्पों से रहित हो गया ॥ ४ ॥

१०२. झाला जालिमसिंह, कोटा[१]

गीत (बड़ा साणोर)

अई अरोड़ा राण झाला अचल अखाड़ा।
जैत खंभ अमोड़ा खला जारै ॥
राय हर अजोड़ा केम तो सू रहै।
थाय खोड़ा हरण नाम थारै ॥ १ ॥

टिप्पणी:- १. यह झाला पृथ्वीसिंह का पुत्र था। १६ वीं शताब्दी में राजस्थान के राजपूत सरदारों में यह बड़ा प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित व्यक्ति था। प्रारंभ में यह अपने पिता पृथ्वीसिंह के साथ कोटा महाराव के पास गया और वहां रिश्तेदारी के कारण उच्च पद पाया। फिर कोटा में वीरता के अनेक काम किये और जयपुर की सेना को बड़ी पराजय दी। बाद में वहाँ विरोध होने पर यह मेवाड़ में चला आया और महाराणा अरिसिंह ने उसे चीता खेड़ा की जागीर और राज राणा की उपाधि दी वि० सं० १८२५ में माधव राव सिंधिया से मेवाड़ की सेना का क्षिप्रा के तट पर युद्ध हुआ; जिसमें राज राणा जालिमसिंह घायल होकर कैद हो गया। फिर वहाँ से छूट कर कोटा चला गया और पुनः वहां का प्रधान मंत्री बना। मेवाड़ के आंतरिक कलह में उसका हाथ रहता था और शक्तावतों व विरोधियों के फिरके का पक्षपाती हुआ। आम्बाजी ईंगलिया, के भाई. बालेराव को छुड़ाने के लिये मेवाड़ पर चढ आया और महाराणा भीमसिंह से जहाजपुर का इलाका प्राप्त किया। अवसर पर रुपैये पैसे की मदद देता रहा। अंग्रेजों के साथ में कोटा की संधि हुई; जिसमें उसने सदा के लिये प्रधान मंत्रित्व का पद अपने और अपने खानदान के लिये प्राप्त किया। फलः स्वरूप कोटा के महाराव किशोरसिंह से युद्ध हुआ और कालान्तर में झालावाड़ रियासत की बुनियाद पड़ी यह अपने समय का बड़ा राज-नीतिज्ञ और वीर था उसके वंशधर झालावाड़ के स्वामी हैं।

ठह लंगर पाय दुसहां करण ठांगला।
रूक दोय आंगला वाढ़ ग है॥
बोलतां नाम थारै मयन्द बांवला।
मृग हुवै पांगला जंगल मा है॥ २॥

दल़ बहल़ मेल़ थानक अडंड डंडिया।
घड़ कुरंभ विहंडिया रूक वावां॥
सांड सबल़ तुहाल़ै नाम जालम सुपह।
पंथ सारंग वहै अहंड पावां॥ ३॥

साह खग नगी दड़बाण पीथल सुतन।
करण धणियां अगा फतै काजा॥
सलामी करै तज माण असणा सणा।
रह लगा पागड़ै आन राजा॥ ४॥

(रचयिता:-अज्ञात)

भावार्थ:-हे राय सिंह के पौत्र! तू युद्ध भूमि में ऐसा अडिग चरण रखने वाला है कि भयंकर शत्रु जब तक लौट न जाय तब तक डटा रहता है। तुझ से कौन संधि करके नहीं रहना चाहता क्योंकि हिरण जैसे पशु भी तेरे भय से पंगु हो जाते हैं॥

हे वीर! तू दो अंगुल चौड़ी तलवार की धार से शत्रुओं के घाव लगाता है और पांवों में जंजीर डालकर उन्हें बंदी बना लेता है। छेड़े हुए क्रुद्ध सिंह की भांति हे विक्रम योद्धा! तेरी धाक सुन कर वन में मृग पंगु हो जाते हैं अर्थात् भय से पांव लड़ खड़ाने लग जाते हैं॥

हे जालिम सिंह! सेना का संगठन कर तूने कर न देने वालों से भी कर ले लिया कछवाहों की सेना शस्त्र प्रहार में नष्ट कर दी।

हे वीर ! तेरी इस प्रकार की वीरता से भरी हुई हुंकार सुन कर मार्ग में चलते हुए हिरणों के पांव टूट गये हों वैसे भय कंपित होकर चलने लगते हैं ॥

हे पृथ्वी सिंह के पुत्र ! महाराणा की सेना के अग्रभाग में अपने दृढ़ चरणों पर अडिग रहते हुए स्वामी की विजय प्राप्ति में सहायता करता है। हे योद्धा ! तेरे संबंधी अपने स्वाभिमान को त्याग कर घोड़े का जीण घोड़े पर कसी हुई काठी के ऊपर लगाये हुए कपड़े का छोर पकड़ कर चलते हैं ॥

१०३. राजाधिराज माधोसिंह, शाहपुरा

गीत (छोटा साणौर)

विखमी गय राग चढ़ण घुर वंबी,
धारे कुल़ बरद धरोसे।
रहवै नसंक धरापत राजन्द,
भारत हर तूझ भरोसे ॥१॥

समर अचाल़ पाँव अंगद सम,
दुसहां उर अणमाव दहै।
मेर समाव तूझ भुज माधव,
राणो गाव नचीत रहै ॥२॥

राखण साथ भड़ां रवताल़ा,
ऊपरट खग चाल़ा आचार।

टिप्पणी:–१–१६ वीं शताब्दी के अन्त में हुए शाहपुरा के राजाधिराज माधोसिंह की इस गीत में प्रशंसा की गई है।

काला गिरन्द तुलै थारै कर,
भीम सुतन वाला सह भार ॥३॥

पांणां झाल कुल विरद पुराणा,
कवियणां सारण सह काज।
सुत अमरेस साल सुरताणा,
राणा धर ओटम महाराज ॥४॥

(रचयिता:-अज्ञात)

भावार्थ:- अपने कुल को गौरवान्वित करने वाले हे भारतसिंह के पौत्र ! युद्ध स्थल में नगारों के भयंकर घोष और सिन्धु राग के बजते समय मेवाड़ नरेश तेरी बल शाली भुजाओं पर निश्चिन्त रहता है।

हे वीर, युद्ध-भूमि में तू अंगद के समान अडिग चरण वाला है। शत्रुओं के हृदय में तेरी वीरता नहीं समा पाती और अग्नि के समान उनके हृदय में जलन उत्पन्न करती है। हे माधोसिंह, तेरी शक्ति शाली भुजायें सुमेरू पर्वत के समान शोभा देती हैं। ऐसी भुजाओं के बल के सहारे ही मेवाड़ का महाराणा निश्चिन्त रहता है ॥२॥

हे महाराणा के उमराव रावत, तू साथ में सैनिक वीरों का समूह रख कर, युद्ध-भूमि में शत्रुओं पर विलक्षण रीति से खड्ग चलाता है। उसी भांति तू दान वीर भी है, क्यों कि तेरा हृदय दान देने में भी अधिक उदार दृष्टि गोचर होता है। हे लोह वेप (लोहे का बख्तर शरीर पर धारण करने का) धारी, कज्जल गिरि के समान अडिग वीर अपने पिता अमरसिंह और पितामह भीमसिंह के गौरव का भार तेरे कंधों पर सुरक्षित है ॥३॥

हे अमरसिंह के पुत्र, तू अपने पूर्वजों की ही भांति कवियों की सहायता स्वयं हाथ से करता है और महाराणा की राजधानी की रक्षा करने के कारण दिल्ली पति बादशाह के हृदय में खटकता रहता है ॥४॥

१०४. राजा उम्मेदसिंह, शाहपुरा

गीत (वड़ा साणोर)

सुरिंद नमो आकाय उमेद सिसोदिया ।
भेद खत्र वाटचा विरद भावे ॥
उदैपुर वेल तू वेल आंबेर री ।
अठी तू जोधपुर वेल आवै ॥ १ ॥

सुतन भागथ जुध अनड़ ऊँचा सिरां ।
लड़ण घड़ कुँवारी जि तू लाडो ॥
जगा रै ढाल तू ढाल जैसिंघ रै ।
अठी तू ढाल अभमाल आडो ॥ २ ॥

तुरत गत भुजां दंड धाड़ दुजा दला–
रूक हथ धाड़तो दुहूँ राहै ॥
मुदे मेवाड़ ढूंढाड़ तू हिज मुदे ।
मुदे तू मुरधरा दलां माहे ॥ ३ ॥

साह पुर राज महाराज ऊमेदसी ।
समापण वाज रीझां सकोने ॥
त्रहू ही नरेसां काज सारण तू ही–
त्रिहूं देसां तणी लाज तोने ॥ ४ ॥

(रचयिताः–सोभा छोटाला)

भावार्थः– हे उम्मेद सिंह सिशोदिया ! इन्द्र के समान दान की झड़ी लगाने वाले, क्षत्रिय कुल की लज्जा रखने वाले तेरे शोभायमान कुल को नमस्कार है । तू उदयपुर और जयपुर नरेशों को सहायता देता है और जोधपुर के नरेश को भी सहायता देने को तैयार रहता है ।

हे भारत सिंह के पुत्र, श्रेष्ठ वीर! युद्ध में बिना वरी सेना (कुमारी किसी वीर से बिना खंडित की हुई सेना) का तू दुलहा है। महाराणा जगतसिंह और जयपुर महाराजा जयसिंह का तू ढाल के समान रक्षक है और इधर जोधपुर महाराजा अभयसिंह की ढाल की तरह तू रक्षा करने वाला है ॥ २ ॥

हे दूसरे दलेलसिंह! तीव्र गति से तलवार चलाने की हिंदू और मुसलमान (तेरी) सराहना करते हैं ॥ तू मेवाड़ के नरेश की सेना अग्रगण्य वीर शिरोमणि रहता है उसी तरह ढूंढाड़ और मारवाड़ नरेश की सेना में भी अग्रगण्य रहता है ॥

हे शाहपुरा नरेश उम्मेद सिंह! हर एक को घोड़े प्रदान करने वाला होने से तीनों देशों की लज्जा का भार तेरे भुजों पर निर्भर है ॥

१०५. उम्मेदसिंह भारतसिंह शाहपुरा

गीत (छोटा साणोर)

ग्रह भालों ऊठ अमर चत्रियाँ गुर, पूठ रहे हय गज पिलाण ॥
लूट धरां अजमेर दुरंग लग, खूट गनीम खगां तज खाण ॥ १ ॥

कुल तो सदा सुपह रे कारण, डारण किस तो गाल दले ।
धर जसनी जिण दीहक धारण, मारण हाण जगत मले ॥ २ ॥

भूप उमेद अने नृप भारत, सुजस कियां नृप खेद सही ॥
मेदपाट लग आण मनाई, रैण सदा अण भेद रही ॥ ३ ॥

रजपूतां री आथ जकारे, कूंतारी भरलाट करां ॥
सकुल कहै जावे सतारी, भूतां री किम जायधरा ॥ ४ ॥

(रचियता:- अज्ञात)

भावार्थः- हे क्षत्रियों के गुरु अमरसिंह ! तू प्रतिदिन उठ कर देख कि तेरे सामंत अश्वारोही होकर सदा तेरे साथ फिरते रहते हैं तथा अजमेर दुर्ग तक भूमि को लूटते हुए तलवार के द्वारा शत्रुओं को निर्मूल कर दिये हैं ॥

हे नरेश ! तेरे (स्वामी के) लिये ये योद्धा रात दिन बख्तर कसे हुए रहते हैं और जिन्होंने तेरे राज्य शासन की भूमि को स्थाई कर दी ऐसे वीरों को संसार भी मानता है।

महाराज उम्मेदसिंह व भारतसिंह ! तेरी विपत्ति के समय में भी वीरों ने बख्तर कस कर सब मेवाड़ पर तेरा आतंक फैलाया। यह पृथ्वी सदैव इसी प्रकार से रहती आई है ॥

जिनके पास संपत्ति रूपी वीर क्षत्रिय संचित हो जिनके भाले सदा चमकते रहते हों। उनके लिये संसार कहता है कि यह पृथ्वी सोते रहने वाले भीरु लोगों से भले ही चली जाय किन्तु ऐसे वीरों की जमीन किसी प्रकार नहीं जा सकती।

१०६ कान[1] पंचोली उदयपुर

गीत (बड़ा साणोर)

पटायत लाख रा सहु लागा पगां, राण बीड़ो दियो होय राजी।
मेवातियाँ परै धणी मेवाड़ रे, मोकल्यो कान्ह ने करे माजी ॥१॥

१—यह भटनागर जाति का कायस्थ और छीतर का पुत्र था। महाराणा अमरसिंह दूसरे, संग्रामसिंह दूसरे और जगतसिंह दूसरे के समय तक वि०-सं० अठारहवीं शताब्दी तक विद्यमान रहा। यह दिल्ली के मुगल दरबार में मेवाड़ राज्य की तरफ से वकील बना कर भेजा जाता था। उसने कई सैनिक सेवाओं में भी मेवाड़ की तरफ से भाग लिया था। इसी गीत में महाराणा संग्रामसिंह के समय रणबाजखां मेवाती पर सेना का प्रयाण हुआ, उस समय यह सेनापति बनाया गया था, जिसका इस गीत में वर्णन है।

हलाकर राण री फौज मोहर हुवौ, दोखियां ऊपरै मार दीधी ।
कानै छीतर तणा तुरक सह काटिया, कान्ह दीवाण री फतै कीधी ॥१॥

धरा कंपित हुई प्रसण सह धूजिया, किया मेवातियां बंद काला ।
असँख चत्र कोट रा धुणी दल आवतां तरां अजमेर रा जड़णा ताला ॥३॥

आंण दीवांण रीफर आयो अभंग, थापियो पंचोली अडग थाणौ ।
प्रथीपत राज सूं वणी सुख पावियौं, रीझियौ न्याय संग्राम राणौं ॥४॥

(रचयिता:-अज्ञात)

भावार्थ:- हे कानसिंह ! जिस समय तुझे मेवातियों पर सेना लेकर जाने के लिये बीड़ा (हुक्म) दिया, उस समय तूने खुश होकर बीड़ा (हुक्म स्वीकार किया । लाखों रूपैये की जागीरी भोगने वाले महाराणा के उमरावों ने इन्कार कर सिर झुका दिया । तब मेवाड़ के स्वामी ने मेवातियों पर तुझे सेनापति बना कर भेजा ॥

हे कानसिंह ! तू वीर हाक करता हुआ महाराणा की सेना के आगे हुआ और शत्रुदल को शस्त्र प्रहार से विनष्ट किया तथा महाराणा की विजय पताका फहराई ॥

तेरी इस युद्ध क्रीड़ा में शत्रु भयभीत हो गये, सारी पृथ्वी कंपायमान होने लगी । पश्चात् तूने उन मेवातियों को कब्जे में लिया । चित्तौड़-स्वामी की असंख्य सेना लेकर तूने आता सुन अजमेर के दरवाजों के ताले बंद करवा दिये ॥

हे वीर पंचोली तूने उन मेवातियों को पराजित कर महाराणा की विजय दुन्दुभी बजवाई और थाणा (फौजी मुकाम) स्थापित किया । तेरे इस युद्ध कौशल को देख महाराणा सांगा तुझ पर बहुत खुश हुआ ॥

१०७. रावत गुलाबसिंह १ चुण्डावत आटोला

गीत (बड़ा साणोर)

समर संभाली दगो होतां तरल् सटारी,
थके लख नजर खल् थटारी थाग।
वोम छवतें रखण तीख कुल् छटारी,
मर गयंद कटारी जड़ी गुल सींघ॥ १ ॥

जमी पुड़ धर हरे उर्वे रूकां जरक,
देख कपणां थरक पीठ दीधी।
हचरा रण सुकर जम दाढ अहियां हरक,
करी चाले असुण्ड गरक कीधी॥ २ ॥

खल् कटे सहेता जरद खगां खतंग,
खलक थावां रतंग दरद खाथे।
तठे लड़वा बड़ी खेल रीभव पतंग,
मरद सुजड़ी जड़ी मतंग माथे॥ ३ ॥

वोम छव कमल् अतमाल् कर वाहतो,
गज थड़ां गाहतो खलां गूंडा।
रण कटे गयो वैकुण्ठ भ्रम राहतो,
चाहतो मुक्त सामीप चूण्डो॥ ४ ॥

(रचयिता:-अज्ञात)

टिप्पणी:- १. यह सलूम्बर के रावत केसरसिंह प्रथम के चतुर्थ पुत्र रोड़सिंह का बेटा था, और मरहठों के किसी झगड़े में यह मारा गया जिसका इस गीत में वर्णन है।

भावार्थः- हे गुलाबसिंह ! तेरे साथ थोक से युद्ध आरंभ हुआ, उस समय युद्ध स्थल में अपने सामने लाखों शत्रु योद्धाओं को देखा और बिजली के समान चमकती हुई कटारी को आकाश की ओर उठा तूने हाथी के मस्तक पर वार किया।

उस समय तलवारों के वार से पृथ्वी कंपायमान होने लगी, भीरु लोग भयभीत होकर युद्ध भूमि से पलायन करने लगे। उस समय तूने हर्षित हो युद्ध करने के लिये अपने हाथ में कटारी ली और हाथी के मस्तक पर मारी।

हे वीर ! जिस समय तलवार द्वारा कवच सहित शत्रुओं और हाथियों के घावों से झरने के समान रक्त प्रवाहित होने लगा, उस युद्ध-कौतूहल को देखने के लिये सूर्य भी खुश होकर घड़ी भर ठहर गया और उसी समय तूने हाथी के मस्तक पर कटारी का वार किया।

हे चुण्डा ! तूने आकाश की ओर मस्तक उठा कटारी के वार से गज-सेना को शत्रुओं सहित विनष्ट कर दिया। उस युद्ध में शत्रु दल को जर्ज्जर करता हुआ अपनी इच्छा के अनुकूल (युद्ध) धर्म के रास्ते होता हुआ वैकुण्ठ (स्वर्ग) जाकर मुक्ति प्राप्त की।

१०८ रघुनाथ सिंह रागावत,

गीत (वड़ा साणोर)

भड़ां राण रा अने सुरताण रा भड़ंतां,
कथ आलम कलम रम कहियो।
रूक जुध वाहतो रूप रागावतां,
रुधो साहब तणी जोड़ रहियो॥ १॥

अराबां धोम धुंआ खग उडंतां,
वहण जुध वार देतो समह ओख।

वाहतो खेलतो खाग फौजां खिचा,
सूर सामी भुजां सांम मारीख ॥ २ ॥

तुरंग रथ थांभ जोग्रे अरक तमासा,
रीभ वाखाणियो दहूँ राहे ।
धड़च खल दलां नर वाह कर धान गे,
मान गे मले प्रभ जोत माहे ॥ ३ ॥

(रचयिता:-अज्ञात)

भावार्थः-हे रघुनाथसिंह ! जिस समय महाराणा और बादशाह के योद्धा भिड़ने लगे, उस समय हिन्दू-मुसलमानों ने कहा कि राणावतों की आन रखने वाला वीर रघुनाथसिंह राणावत सचमुच साहब के समान तलवार चलाने लगा है ।

तोपों के चलने से धुंए की गर्दी सूर्य तक पहुँचने लगी, उस समय तूने स्वयं आक्रमण सहते हुए शस्त्रों की वर्षा कर दी । हे वीर ! तूने उस समय स्वामी का बांया हाथ होकर युद्ध किया ॥

हे मानसिंह के पुत्र, तेरा युद्ध देखने सूर्य ने आकाश में अपना रथ रोक लिया और युद्ध देखने लगा । हिंदू और मुसलमान युद्ध कौशल से प्रसन्न होकर सराहना करने लगे और तू युद्ध करते २ वीर गति प्राप्त कर प्रभू में विलीन हो गया ॥

१०६. राजराणा माधोसिंह झाला, झालरापाटण १

गीत (सुपंख)

फौजां भमाई हजारां थां सो लगायो अयास फाटे,
धीम सैलां त्रसागां नमाई जड़ां धीगं ।
जालमेस पाई घणी रंग रेलाई जमी,
(जिन) सार धारां ऊजला जमाई माधोसींग ॥१॥

पाई फतैं गोले पाँव हद्दाड़ दराया पाछा,
डाण आयै वहाई न भूलों थाव डाव।
ऊयां धरे पत्ता मार भालां धरा आपखाई,
मुथाला जणी नूं पाछी वहाई सुजाव ॥२॥

केही सेवासरो करे प्रलै जाग कीधो,
मडां घोड़ा थोक रै बीटियाँ वहै भाग।
दूर दावा अबीहँ डोकरैं खलां भोम दाबी,
नदी जावा जिकां नूं छोकरे काले नाग ॥३॥

पढ्यो वीर पाटीपाव आराण न दिया पाछा,
ताखा लाटी वैटो ही ऊगती मूछां नाग।
बाप खाटी मेदनी ऊजला रूका पाण बापी,
राज दाटी सुजां रै सरोसे फाला राण ॥४॥

(रचयिता:- अज्ञात)

भावार्थ:- हे माधवसिंह, सहस्रों बार शत्रु सेना को रण-भूमि से हटा कर, गिरते हुए आकाश के समान कष्ट में तूने अपनी प्रबल भुजाओं का स्तंभ बना कर कष्ट का निवारण किया। भालों तथा अन्य प्रकार के अनेकों शस्त्रों से शत्रुओं को जड़ सहित नष्ट कर दिया। तेरे पूर्वज जालमसिंह से प्राप्त की हुई भूमि की रक्षा, उज्जल तलवारों का प्रहार शत्रुओं पर कर, की तथा तेरी भूमि शत्रुओं के रक्त से प्रवाहित हुई ॥ १ ॥

टिप्पणी:- यह कोटा के प्रधान मन्त्री राजराणा जालमसिंह झाला का पौत्र और मदनसिंह का पुत्र था। कोटा के हाडा नरेश महाराव रामसिंह के समय इसका अधिक विरोध बढ़ गया, तब अंग्रेजों ने कुछ राज्य के परगनों को अलग कर झालरा पाटण की प्रथक रियासत कायम की और माधोसिंह को प्रथम नरेश माना।

हे वीर, युद्ध भूमि से दूढाड़ के स्वामी के पांव पीछे हटा दिये और तू स्वाभिमान से शत्रुओं का नाश करने में रणचातुर्य कभी नहीं भूला। तेरे पूर्वज प्रतापसिंह ने अपने खड्ग-बल से भूमि का आधिपत्य प्राप्त किया था, उस भूमि की तूने यथावत रक्षा की तथा तूने स्वयं बाहुबल से और भूमि को प्राप्त किया और उस की सुन्दर व्यवस्था की ॥ २ ॥

हे चतुर अश्वारोही और शूरवीर समूह के भाग्यशाली स्वामी, तूने कितने ही डाकुओं का नाश कर दिया। तेरे वृद्ध पूर्वज जालमसिंह और प्रतापसिंह ने जो भूमि पर अधिकार प्राप्त किया था, उस अधिकार को तूने अपने शैशवस्था में भी काले सर्प की भांति सुरक्षित रक्खा ॥ ३ ॥

हे भाला, तूने युद्ध कला पूर्णरूप से प्राप्त की है। अतः तू युद्ध में अडिग चरण रहा। तेरे पूर्वजों द्वारा प्राप्त-भूमि की रक्षा काले सर्प की भांति तूने अडिग रह कर की ॥ ४ ॥

१०४. शेखावत डूंगजी जवाहरजी १

दोहा

सेखावट जलहल समर, फर चल दल फरगांण।
प्रथी सोह कलहल पड़े, भल हल ऊगां भाण ॥

गीत (सुपंख)

खावै आतंकां आगरो खांपां न मावै भमावे खलां,
धावै थावै अजाण लगावै चोड़े धेस।
ऊगां भाण नाग वंसां माथै खगां राज आवे,
दावै लागौ पंजावै फरंगी वाला देस ॥ १ ॥

कंपू मार तेगां तीजी तालो सो कुरंगी कीधी,
जका बावनूं रंगी प्रजाली भुजां जोम।
मानूं जाणों तारखी विहंगी काली घड़ा माथै,
भूप ऊंगां बंभू में फरंगी वाला सोम ॥ २ ॥

पड़ै धोखा दल्ली बंगा कुरंभां चाढ़वा पाणी,
आप मत्तै शेप घू गाडवा जाम आठ।
काकोदरां माथै खगांधीस ज्यूं काढ़वा केवा,
लागो केड़ै चाढ़वा हजारां जंगी लाट ॥ ३ ॥

तूटो व्योम थाट लगा तालका विछूटो तारो,
केतां छूटो प्राण आलक्का ताके कोप कूंप।
कहै रुद्र मालक्का विहंगां नाथ भूठो कना,
रूठा गोरां माथै ग्रलै कालक्का मा रूप ॥ ४ ॥

भल्लो भाई मेल्या राला विगेरे सारकी भीच,
मारां मरै मार छातगी सौज सौज।

टिप्पणी:—१—शेखावत २० वीं शताब्दी के प्रसिद्ध राजस्थानी वीर थे। दोनों काका-भतीजा थे। ये अंग्रेजों के इलाकों में धावा मारते थे और धनाढ्यों को लूट कर निर्धनों को बांट देते थे। यही व्रत इन्होंने लिया था। इस कारण अंग्रेजों ने डूंगजी को गिरफ्तार कर आगरा के किले में कैद कर दिया था। इसकी खबर जब जवाहरजी को मिली तो अपने वीरों को साथ ले आगरा पहुंचा और रात्रि के समय आक्रमण कर डूंगजी को छुड़ा लाया। इन गीतों में चारण कवि ने दोनों वीरों का वर्णन किया है।

राजस्थान में 'डूंगजी-जवाहरजी' लोकगीतों में बहुत गाये जाते हैं। अंग्रेजों के साथ इनका लोहा लेना बड़ा महत्व रखता है और इसीलिये रात २ भर जाग कर इनको गाया जाता है।

मल्लै थाट हवोला नारखी काली नाग माथै,
फेरे दोली भारकी भूरियाँ वाली फौज ॥ ५ ॥

लोही खाल पूर पट्टां हजारां वैणानै लागा,
थट्ट रंभा गैंण ने हजारां लागा थाट ।
रुकां भाट हजारां वैणानै लागा काल रूपी,
लागा टूक व्हैण ने हजारां जंगी लाट ॥ ६ ॥

रैंण ढंडा-अडंडां गवांने भीच वागराका,
खाग गका भूर ढंडां अरिन्दां खाणास ।
पड़ै पाका खंड खंडां फैण नाग राका पीधां,
वाही आगग का भंडां ऊपरै वाणास ॥ ७ ॥

(रचयिता:-चंडीदानजी महियारिया)

दोहे का भावार्थ:- हे शेखावत, तूने अंग्रेजों की सेना से रण-भूमि में युद्ध कर उसे नष्ट कर दिया। जिस का कोलाहल सूर्योदय होते ही सब को सुनाई दिया।

भावार्थ:- हे शेखावत, तेरे शरीर में असीम बल और शौर्य है। तेरे शौर्य के समक्ष शत्रुगण भौंचक्के हो जाते हैं। इस प्रकार के तेरे शौर्य से आगरा तक के शत्रु भयभीत रहते हैं। उन की असावधानी की अवस्था में, दिन को भी तू निडर होकर, आक्रमण कर देता है। शक्ति शाली सर्प रूपी अंग्रेजों के आधिपत्य में जो स्थान थे, उन पर तू गरुड़ के समान सूर्योदय होते ही, आक्रमण कर बलपूर्वक उनको हस्तगत कर लेता है ॥ १ ॥

अंग्रेजी कम्पनियों के सर्प-रूपी सैनिकों पर गरुड़ के समान हे योद्धा, तूने आक्रमण कर उन के भुजबल के अभिमान को नष्ट कर दिया। हे डूँगरसिंह, इस प्रकार तूने अंग्रेजों की राज्य सीमा को नष्ट कर दिया ॥ २ ॥

हे वीर, तू रणस्थल में दिन के आठों प्रहर तक स्वेच्छा से अडिग चरण रखकर युद्ध करता रहा। जिस से कछवाहा वंश का गौरव बढ़ा और दिल्लीश्वरों में आतंक छा गया। बड़े-बड़े लाट (Lords) उच्चाधिकारी अंग्रेज रूपी सर्पों पर तूने गरुड़ के समान आक्रमण कर उन्हें नष्ट कर दिया ॥ ३ ॥

हे डूँगरसिंह, जिस प्रकार आकाश से टूटा हुआ नक्षत्र वेग से आता है, उसी प्रकार तू शत्रु सेना पर तीव्रगति से आक्रमण करने लगा। हे वीर, तू प्रलय-काल में यमराज के समान शत्रु सेना को नष्ट करने लगा अथवा रुद्र के कण्ठ में सर्प माला पर जिस प्रकार गरुड़जी आक्रमण करते हैं उसी प्रकार तूने शत्रु सैन्य पर आक्रमण किया ॥ ४ ॥

हे डूँगरसिंह के शेखावत भाई, तूने अंग्रेजों के मुख्य मुख्य योद्धाओं को खोज कर यत्र तत्र कर दिया। छावणी (सेना का विश्राम-स्थल) में स्थित अंग्रेजों की सर्प रूपी सेना के चारों ओर गरुड़ के समान घेरा डाल दिया ॥ ५ ॥

हे शेखावत, तू सहस्त्रों शत्रु योद्धाओं पर तलवार चलाने लगा, जिससे रक्त की नदियाँ बहने लगीं। सहस्त्रों अंग्रेजी लाटों (Lords) (उच्चअधिकारी) के शरीरों के टुकड़े टुकड़े कर डाले। यह देख कर सहस्त्रों अप्सराओं का समूह आकाश-मार्ग से रण-भूमि में वीरों का वरण करने हेतु आउपस्थित हुआ ॥ ६ ॥

हे वीर, आगरा दुर्ग के समीप-स्थित उद्यान में तूने वीर गीतों का उच्चारण करवा अफीम का पान कर दुर्ग की दीवार की ओर घोड़ों की रासें उठाईं। तूने अंग्रेज योद्धाओं को नष्ट कर आगरा के दुर्ग पर लगी हुई अंग्रेज-पताका को तलवार से उड़ा दिया। जिस से अन्य प्रान्तों में तेरी वीरता का प्रभाव फैल गया ॥ ७ ॥

१११. राव बहादुर बख्तसिंह चहुआन, बेदला [१]

गीत (वड़ा साणोर)

चसम अंगारे धोम लारे नचे चोसटी,
रिमा दल् बगारे परा रीजे।
याव घल् नगारे वीर किलके घणा,
दुधारे चोल् रंग उमंग दीजे ॥१॥

खेल आराण रे न मावे खापड़ां,
फेल दिखराण रे फिरंग पाले।
राण रे सहायक सेल समहर रहे,
सेल खुर साण रे सुविध साले ॥२॥

मारका भीच रजवाट चसम मछर,
सतर भर फजर पड़ दहल् सारे।
उवर पतसाह खुमांण सुख अगाड़ी,
धजर केहर तणो मुकर धारे ॥३॥

जलाला चाढ़ जुधवेर भांजण जवर,
यल् आला लियण विरद अराता।

टिप्पणी:— राव बहादुर बख्तसिंह, सी० आई० ई० बेदला के राव केसरीसिंह का पुत्र था। प्रथम भारतीय स्वातन्त्र्य युद्ध सन् १८५७ ई० में उसने अंग्रेजों की प्राण रक्षा करने में महाराणा की तरफ से सहयोग दिया था। उस समय के मेवाड़ के सरदारों में यह राज भक्त, क्रिया शील और चतुर व्यक्ति समझा जाता था। महाराणा स्वरूपसिंह, शम्भूसिंह, सज्जन सिंह का यह विश्वास पात्र रहा और दो बार रिजेन्सी कौन्सिल का सदस्य भी रहा था।

हेजमा तोड़ चहुँवाण भाला हथां,
बिसाला तपो जुग क्रोड़ बगता ॥४॥
(रचयिता:- रामलाल आढ़ा)

भावार्थ:-हे बख्तसिंह, जिस समय तेरे नेत्रों में क्रोधाग्नि प्रज्वलित होती है, उस समय चौंसठ योगनियाँ प्रसन्न होकर, नृत्य करने लग जाती हैं। ज्योंही नगारे का घोष होता है त्योंही बावन वीर, प्रसन्नता से किलकारियाँ करते हुए, रण-भूमि में उपस्थित होजाते हैं और तू, उस समय अपने दो धार वाले भाले का प्रहार कर रक्त रंजित कर देता है ॥ १ ॥

हे वीर, जिस समय अंग्रेजों और दक्षिणियों के ऊपर तू युद्ध में आक्रमण करता है, उस समय तेरे शरीर में शौर्य समा नहीं पाता। जिस समय तू महाराणा की सहायतार्थ रण-भूमि में भाले को लेकर उपस्थित होता है तो बादशाह के मन में वह भाला बड़ा खटकता है ॥ २ ॥

हे शत्रुओं को धराशायी करने वाले वीर तेरे नेत्रों में प्रतिक्षण क्षत्रियोचित शौर्य समाया रहता है। जिससे इस पृथ्वी पर तेरे शौर्य का प्रभाव, जहाँ-जहाँ सूर्य की किरणों का प्रकाश फैलता है वहाँ तक व्याप्त रहता है। हे केशरसिंह के पुत्र, तू सिसोदिया की सेना के अग्र भाग में तथा बादशाह के सन्मुख. हाथ में सदा भाला लिये रहता है ॥ ३ ॥

हे बख्तसिंह, तू प्रबल से प्रबल सेना को रण कौशल से परास्त कर यशको प्राप्त करता है। हे वीर अश्वारोही, शत्रुओं पर भालों को तोड़ने वाले, दीर्घायु रह ॥ ४ ॥

११२. रावत हिम्मतसिंह शक्तावत, पीपलिया ?

गीत (सुपंख)

मड़ेसनाहां मड़ालां भांण उगां हे मलांका साला,
तसां बीजूं जलांका मलांका बीज नेस।

मूंछां दे वलाका मदां आया नाग सीधा माथै,
जाया गोकला का तू खजाया वाघ जेम ॥१॥

वेंड़ाकां सामहां सत्रां ताके अछेहरी वागां,
गेला जीत गेहरी खगाटां रमंतेस।
चौड़े घाड़ै साजै गजां गनीमा तेहरी चोट,
हाकां वागां त्रूथां केहरी हमंतेस ॥२॥

अजेरां जेरणा गाढ हणुमान आपाणरा,
वाड खेरे केवाण रा रमा धू वजाक।
ऋटै क्रोध मार हट्टां पनागां डाणां रा माज,
कंठीर डांखिया जगा राण रा कजाक ॥३॥

प्रवाड़ा अछूता खाटे भारथां अफेर पीठ,
ढेर रीठ खागां यलां अरिदां दाबूत।
आहंसीक सीसोद त्रूथा सेर थारै आगे,
मोगा फील फेर मदां न आवे साबूत ॥४॥
(रचयिता –अज्ञात)

भावार्थः–सूर्य उदय होते ही यौद्धा कवच पहन कर हाथ में तल-वार व भाले लिये हुए बिजली के सदृश चमके। हे गोकुल सिंह के पुत्र, खिजाये हुए सिंह के समान मूछों के वल लगाता हुआ मरहठों के हाथी रूपी सूबेदारों के ऊपर तूने सिंह के समान आक्रमण किया ॥ १ ॥

टिप्पणीः– शक्तावत हिम्मतसिंह पीपलिया के रावत गोकुलदास का पुत्र था। मेवाड़ के महाराणा स्वरूपसिंह का बड़ा कृपा पात्र था। इस की जागीर मन्दसोर के इलाके से मिली हुली थी, इस कारण मन्दसोर के सूबेदार से इसका झगड़ा होता रहता था, उसका इस गीत में वर्णन है।

अश्वारोही शत्रुओं के सामने अचानक घोड़ों की बाग उठा कर युद्ध करने के लिये तूने तलवारों में 'राम' (रचना) शुरू किया। हे हिम्मतसिंह, वीर हुंकार करते हुए प्रत्यक्ष रूप से शत्रुओं के सजे हुए हाथियों पर सिंह के समान तूने वार किया ॥ २ ॥

वीर हनुमान के समान साहस धारण कर अविजित शत्रुओं के सिर पर तलवार चला, उन्हें पराजित कर तूने अपनी तलवार तेज हीन (भोटी) कर दी। (अधिक वार करने से धार का भोंटा होना स्वाभाविक है) महाराणा के विशाल सिंह रूपी हे योद्धा! रणांगण में क्रुद्ध होकर हाथी रूपी मरहठों के गर्व को तूने चूर कर दिया ॥ ३ ॥

युद्ध में पीठ न दिखा, तलवारों की झड़ी लगा, शत्रुओं की भूमि अपने अधिकार में कर (तूने) अनोखा गौरव प्राप्त किया। हे सिशो- दिया! शत्रु-सेना के हाथी रूपी सूबेदार तेरे सिंह रूपी साहस के सामने कभी मस्ती पर नहीं आवेंगे ॥ ४ ॥

११३. रावत रणजीतसिंह चुण्डावत, देवगढ़

गीत (सुपंख)

लीधां आसतीक रेणसिंग ऊचारे वडा रो लाडो,
ऊनारो भड़ालां नाम चाढ़ो कुलां अंग।
गोरां रे अजंटी बोल सांभले वीराण गाढो,
खंगै ऊभो मेदपाट आडो जेत खंभ ॥१॥

चगे नथी पावां वीरताई ऊफणी रे चखां,
वातां हुई गणी रे अमीडा बोलै बोल।
आवतां फरंगी समै जासती वणी रे एला,
रहे तेण वेला चूंडो धणी रे हरोल ॥२॥

माथे गत्रां खांपां वाचै गवांचै जिहान माथैं,
दसुं दसा सोभाग छवायो वीरदाण।
जीहान जाणी जोस छतै नाहरेस जायो,
अजंठी ऊठायो आयो आदे ही आयाण ॥३॥

गाजे धूंसा राणारा फरंगी लगा दीये गेले,
ओसाणा साधियो टला हमला मेवाड़।
अड़ चूडा गरारो हींदवां छात आगाधियां,
आपरे गलै ही मला वाधियां मेवाड़ ॥४॥

(रचयिता:- कमजी दधिवाड़िया)

भावार्थः- हे रावत रणजीतसिंह! मेवाड़ देश के कार्य-निरीक्षण हेतु अंग्रेजों की ओर से प्रतिनिधि (Resident) नियुक्त होने सम्बन्धी

टिप्पणी:- १. २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब महाराणा स्वरूपसिंह का स्वर्गारोहण हुआ और चौदह वर्ष की आयु में शंभूसिंह गद्दी पर बैठे, तब, शासन संचालन के लिये रीजेन्सी कौन्सिल की स्थापना की गई और राज्य का सारा काम पोलिटिकल एजेन्ट (राजनैतिक प्रतिनिधि) ने अपने हाथ में ले लिया और नीमच की छावणी से अपना ऑफिस उदयपुर ले आया। उसने मेवाड़ की शासन-परम्परा 'आण' आदि को हटाने के आदेश जारी कर दिये तब मेवाड़ की समस्त प्रजा इसके विरुद्ध होगई और विरोध स्वरूप उदयपुर में आठ दिन तक हड़ताल रही। पोलिटिकल-एजेन्ट ने प्रजा के साथ जोर और ज्यादती करने का इरादा किया। तब रीजेन्सी कौन्सिल के सदस्य देवगढ के रावत रणजीतसिंह ने उक्त आदेश का सख्त विरोध किया। इस बात का वर्णन तत्कालीन प्रत्यक्ष दर्शी चारण-कवि कमजी दधिवाड़िया ने इस गीत में किया है।

कमजी दधिवाड़िया 'वीर विनोद' के रचयिता महा महोपाध्याय कविराजा श्यामलदासजी के पिता और उस समय के प्रतिष्ठित नागरिक थे।

समाचार तूने सुने और सुनते ही साहस के साथ मेवाड़ के लिये खड्ग पकड़ कर युद्ध-भूमि में विजय स्तंभ की भांति अडिग आ खड़ा हुआ तथा अपने वीरों को कहने लगा। वीरता दिखाते हुए संसार में अपनी कीर्ति अमर करने के लिये क्षत्रिय-धर्म का पालन करो ॥ १ ॥

दृढ़ पैरों पर खड़े होकर तूने अपने विशाल नेत्रों में शौर्य भर ओजस्वी शब्द बोलने प्रारंभ किये। अंग्रेजों के द्वारा मेवाड़ भूमि पर जब अधिक विद्रोह किये जाने लगे, उसी समय हे चुण्डा, तू अपने स्वामी की सेना के अग्रभाग में (हरावल में) स्थित हुआ ॥ २ ॥

हे रावत, नाहरसिंह के पुत्र ! तू शत्रुओं पर तलवारों का प्रहार करने हेतु तत्पर हुआ। तेरे इस शौर्य का यश पृथ्वी की दसों दिशाओं में व्याप्त हो गया। इस प्रकार क्षत्रिय-धर्म का कर्त्तव्य संसार को बता दिया तथा अंग्रेजों के द्वारा प्रतिनिधि (Resident) नियुक्त करने की योजना नष्ट करदी और अपने स्थान पर आ गया। ॥ ३ ॥

हे रणजीतसिंह ! महाराणा की ओर से अंग्रेजों को भालों के प्रहार से परास्त कर बड़ी सावधानी से उनको भगा दिया जिससे चुण्डा-वंशजों का हिन्दुपति महाराणा ने आदर किया और मेवाड़ राज्य के शासन का कार्य तुझे दिया। जो बड़ा सराहनीय रहा ॥ ४ ॥

११४. रावत जोधसिंह चहुआन, कोठारिया

दोहा

जोध भलां ही जनमियो, सत्रुआं (रै) उर साल ॥
रावत सरणौ राखियौ, कमंधां तिलक कुशाल ॥ १ ॥

भावार्थ:- जोधसिंह ! तेरा जन्म भी भला ही हुआ है। तू शत्रुओं के हृदय में खटकता रहता है। हे रावत ! राठोड़ों के कुल-तिलक कुशालसिंह को तूने ही शरण दी ॥

खग ऊँचे खड़िया सरब, भुज रजवड़िया भार ॥
जड़िया रावत जोध रै। सम घड़िया सरदार ॥ २ ॥

भावार्थः-क्षत्रिय कुल के गौरव को रखने वाले समस्त क्षत्रिय तलवार उठाये हुए थे और हे जोधसिंह ! जो तेरी ही बराबरी के सरदार थे वे इकट्ठे होकर आये ॥

गीत (बड़ा साणोर)

खगां भाट समगाट लोह लाट भाजण खलां ।
तीख खत्रवाट वर वाट तोरा ।
जणातो नहीं रजवाट वट जोधड़ा ।
गणांता जमी नर शीत गोरा ॥ १ ॥

डाकियां धसल सर वेल डग डोलड़ा ।
पीथहर चोलड़ा अमर पीधा ॥
ढाबतां अज तो बागा सुजस ढोलड़ा ।
कोड़ जुग गोलड़ा अमर कीधा ॥ २ ॥

मोखमा सुजन फरगांण लोपे हुकम ।
कहै हिंदवाण शाबास काला ॥

टिप्पणीः- यह रावत मोहकमसिंह का पुत्र बीसवीं शताब्दी के सरदारों में वीर एवं साहसी पुरुष था। वि० सं० १९१२ के लगभग उदयपुर के राणाओं की ओर से नाथद्वारा पर सेना भेजी; उस समय नाथद्वारा वालों ने नगर-द्वार बंद करवा दिये। तब अपूर्व साहसी जोधसिंह ने लात मारकर किवाड तोड गिराये लेकिन वह लंगड़ा हो गया।

सन् १८५७ में अंग्रेजों के विरोधी आउवे ठाकुर कुशलसिंह को अपने यहाँ रख अपने शौर्य का परिचय दिया। वि० सं० १९२६ में इसकी मृत्यु हुई।

जाणता जिसा अहनाण आया नजर ।
उदै भाण नण चहुवाण वाला ॥ ३ ॥

पड़ै मचकूर लंधन खबर पाड़ियां ।
जोध खग झाड़ियां धको जमेरो ॥
राव विन फिरंग झेलो कवण गाड़ियां ।
भमै नव नाड़ियां वीच भमरो ॥ ४ ॥

(रचयिता:-कमजी दधिवाड़िया)

भावार्थ:- लोहे के समान मजबूत दिल वाले वीर शत्रुओं का विनाश करने के लिये तूने युद्ध में तेजी से तलवार चलाई। हे वीर ! क्षत्रिय कुल के गौरव को रखने में तेरा कुल पहले से ही आगे है। हे जोधसिंह ! यदि तू शत्रुओं को क्षत्रिय कुल का गौरव (शौर्य) नहीं बताता तो भारत की यह भूमि अंग्रेजों को निवीर्य दिखाई देती ॥

उन आतंक कारी अंग्रेज वीरों की डांट डपट से सभी क्षत्रियों के पैर डिगने लग गये। किंतु हे पृथ्वीसिंह के पौत्र ! तूने कुशाल-सिंह को रख कर प्रति पक्षियों से सामना करने को चार गुनी अफीम पान की जिससे तेरे यश के नक्कारे बजने लगे ॥

हे मोहकम सिंह के पुत्र ! काल पुरुष के समान दिखाई देने वाले तूने अंग्रेजों के आदेश की अवहेलना की और उनसे मुकाबला करने का विचार किया जिससे सभी हिन्दू तेरी सराहना करने लगे। तेरे वंशज उदय भाण की पूर्व प्रसिद्ध वीरता का चिन्ह तूने दिखा दिया और सब संसार ने देखा ॥

हे जोधसिंह ! तेरी तलवार का सामना यमराज के धक्के के समान है। तेरी युद्ध वीरता सारे लंधन में फैल गई। हे रावत ! तेरे बिना अंग्रेजों से लड़ने को कौन तैयार होता ? उन अंग्रेजों के युद्ध आतंक का सामना कौन करने वाला है ? उनसे युद्ध में मुकाबला करने वालों के प्राण पहले से ही नौ नाड़ियों के बीच चक्कर खाने लगते हैं।

११५. रावत जोधसिंह चहुआन, कोठारिया

गीत (वड़ा साणोर)

पड़े अमावड़ द्रोह छत्रधर फरंग पालटे।
आंट धर जोध भुज गयण अड़िया॥
मोध अंगरेज हिंदवाण आया सरब।
जोध सिर सेस रे कदम जड़िया॥ १॥

पड़े विकट थके चांपा सुदि पुल पाया।
भड़ां थट छेक अड़वास लूभो॥
तोल खग टेक नहँ छंडे मोहकम तणां।
एक लौ ठोर भुज लड़ण ऊभो॥ २॥

जाणता जिसा सामाव रहिया जबर।
अड़ीयल करे खग दाव आछा॥
राव बिज पाल रा भार भुज राखियां।
पाँव समहर खिचा न दिया पाछा॥ ३॥

सुणे बाखाण गढ़ दिली अर सतारा।
दाट जित तितारा खलां दीधा॥
राव चहुवाण जोधा अडग सतारा।
कथन कं लकता रा मेट कीधा॥ ४॥

(रचयिताः- मोतीराम, आशिया)

भावार्थः- दिल्ली के शासन कर्ता अंग्रेज और हिन्दू नरेशों के बीच में विद्रोह हो उठा, जिससे अंग्रेज लड़ने को तैयार हुए और सभी नरेश आवेश में आकर युद्ध करने को एकत्रित हुए। हे जोधसिंह !

उस समय तू क्रुध हो भुजा उठाता हुआ शेषनाग के सिर पर अडिग पैरों से खड़ा रहा।

ऐसी विषम स्थिति में चांपावत राठौड़ चला गया और मोहकमसिंह का पुत्र तू अपने वीरों सहित सावधान हो हठ को नहीं छोड़ता हुआ भुज ठोककर शत्रुओं से भिड़ने को अकेला ही खड़ा हुआ।

हे कुशल खड्ग प्रहारी वीर! तेरी जैसी वीर प्रकृति जानते थे वैसा ही साहस दिखाया। हे रावत! तूने अपने पूर्वज विजयपाल के विरुदों को भुजों पर उठाये हुए तैंने युद्ध से पैर पीछे नहीं हटाये।

हे रावत चाहुआन जोधसिंह! दृढ़विचारी तैंने अपने पौरुष से कलकत्ता के (अंग्रेजों द्वारा दिये) आदेशों को ठुकरा दिया उसका यश दिल्ली सितारा तक फैल गया॥

११६. रावत जोधसिंह चुण्डावत (दूसरा), सलूम्बर १

गीत (वड़ा साणोर)

समत सही उगणीस वरस अगतीसै,
लख सरद मास आसोज लागाँ।
तणां सा रूप शिव नाम उग्र तांण रौ,
भांण हिंदवांण रौ मुगट सागौं॥ १॥

हट करे फिरंग जिण वार दीधौं हुकम,
करो मत फैल अण फैल काजा।
अब लिखूँ हुकम लंडन तणों आवणौ,
रीत नद थावसी तिको राजा॥ २॥

टिप्पणी:— यह सलूम्बर के रावत केशरीसिंह की मृत्यु होने पर बम्बोरे से गोद आकर सलूम्बर का रावत हुआ। महाराणा शम्भूसिंह का देहान्त होनेपर महाराणा सज्जनसिंह के समय विद्यमान था।

जदै कर मसल अंगरेज आया जवर,
दाटवा मंडारां दैर दुवो।
धरा मो हिंदवाण लाज राखण धरम,
अठी रतनेस भुज टांग ऊभौ ॥ ३ ॥

हूँ थपू भूप मुलक म्हारे हुकम,
बराबर न पूछू कवण बीजे।
पड़ी क्यूं मलारी तूझ रख पखैरी,
(थारी) लखैरी कोड़ियां ऊगी लीजे ॥ ४ ॥

तस धरे मूंछ रतनेस बोलै तमख,
हुआ चिद लेख रहै कीध हाथां।
थैल साहर हमें छावणी पधारां,
वधारां फैल किम सहज वातां ॥ ५ ॥

तवां परताप सगराम नापा तणो,
सझै परमाण अवसाण साजैं।
तणा केहर अनम किलो चीतोड़ रो,
(जीनै) ऊजलौ दिखायो भलो आजैं ॥ ६ ॥

माण रख राण जेठाण हिंदू मुगट,
कथन जग जाण सैवास कहसी।
तिको कसना वतां छात जोधा नपत,
रसासिर वात अखियात रहसी ॥ ७ ॥

(रचयिता:- सूर्यमल आशिया)

भावार्थ:- संवत् १६३१ के आश्विन मास में शरद ऋतु के आरंभ में महाराणा स्वरूपसिंह का सुपुत्र (नरेश) हिन्दू कुल सूर्य शंभूसिंह, जो मुकुट मणि था भंग हो गया (मृत्यु हो गई) ॥ १ ॥

उसी समय ब्रिटिश अधिकारी ने हठ पूर्वक आदेश दिया कि राज्याधिकारी के लिये कोई-गड़बड़ न करे। मैं इस संबंध में लंधन लिखा पढ़ी करता हूं। वहाँ से जो आदेश आयेगा तदनुसार राज्याधिकारी (शासक) बना दिया जायगा ॥ २ ॥

कोष को अपने अधिकार में करने के लिये परामर्श कर ब्रिटिश कर्मचारी आये। वहाँ पर हिंदू धर्म और मेवाड़ की लज्जा का रक्षक रावत बाहू ठोक कर खड़ा रहा ॥ ३ ॥

यह देश मेरा है और मेरे ही आदेश से राजा स्थापित होगा। मैं इस विषय में किसी से कुछ नहीं पूछूँगा। इस विषय में तुम्हें सलाह और पक्षपात करने की क्या पड़ी है ? तुम तो जो (रकम अहद नामें में) तय कर दी गई है वह लेलेना ॥ ४ ॥

उस समय मूछों पर हाथ रखता हुआ क्रुद्ध रावत कहने लगा। मैं जो अपने हाथ से करूँगा वह विधाना के लेख के समान है। आप अब अपनी छावनी (नगर बाहिर) जाइये। साधारण बात के लिये फैल फितूर क्यों बढ़ा रहे हैं ? ॥ ५ ।

कवि कहता है-राणा सांगा प्रताप और बापा के समान समय के अनुकूल सावधानी बरत कर केसरीसिंह के अनर्मापुत्र ने चित्तौड़ दुर्ग को आज उज्जवल कर दिखाया ॥ ६ ॥

हे राणा के पाटवी हिंदू मुकुट ! तूने जो (मेवाड़ के) गौरव की रक्षा की उस कथन को जान कर सारा संसार वाह वाह कहेगा, हे किसानावतों के छत्र नरेश जोधसिंह ! तेरी यह कीर्ति पृथ्वी पर अक्षुण्ण बनी रहेगी ॥ ७ ॥

११७. राज मानसिंह झाला, गोगुन्दा १

गीत (बड़ा साणोर)

जबर पाथ उनमान रा वीर सलहां जड़ैं,
सगत हर तान रा लियैं साथैं।
हुवे सामान रा दलां भारत हचरा,
मान रा खलां आथांण माथैं ॥१॥

कलह फण फेरियां चढ़ै चाकै कमरा,
झड़ैं समसेरियां थाट झंका।
काढ मन गेरियां तुँहिज रधा करैं,
वैरियां लियरा आमेर वंका ॥२॥

भार गज टलां फौजां भखंग भोयणां,
जुध अड़ग ओपणां रूपैं जाझा।
क्रोध भर अतर भलै अगन कोयणां,
कँवर घर दोयणां लियरा काजा ॥३॥

कलक भैरू सगत पियरा काल रा,
दलेसां साल रा ताप देणा।
अँग उत्र भाल रा नजर आवैं इसा,
लाल रा सुतन गढ़ खलां लेणा ॥४॥

(रचयिता:- रामलाल आढ़ा)

टिप्पणी:-१-यह राज लालसिंह का पुत्र था। इस गीत में उसके साहस और वीरता का वर्णन है। इस का समय वि० सं० की १९ शताब्दी का पहला चरण है।

भावार्थ.- हे वीर मानसिंह, अर्जुन के समान हे वीर तू जिस समय अपनी सेना सहित बख्तर (लोहे की जंजीरों का बना हुआ वीर वेष) धारण कर शत्रुओं के स्थानों पर आक्रमण करता है। उस समय शंकर एवं योगिनियाँ आदि युद्ध भूमि में उपस्थित होजाते हैं ॥ १ ॥

रण भूमि में उपस्थित सेना के भार से शेषनाग अपने फणों को हिलाने लगता है। इतनी असंख्य सेना पर तेरे अतिरिक्त ऐसा कौन साहसी है, जो तलवार चला कर उस का नाश कर सके ? शत्रुओं के अभिमान को चूर्ण करता हुआ, तू उनके दुर्गम दुर्ग पर प्रभुत्व स्थापित करता है ॥ २ ॥

युद्ध स्थल में हाथियों एवं सेना के भार से पृथ्वी कम्पित होने लगती है और शेषनाग श्लथ हो जाता है किन्तु फिर भी समर भूमि में अडिग चरण रह कर तू शत्रुओं की सेनाओं का नाश करता है। हे राज कुमार, उस समय शत्रुओं से दुर्ग लेने के हेतु तेरे नेत्रों में क्रोध की की ज्वाला प्रज्वलित दिखाई देती है ॥ ३ ॥

हे लालसिंह के पुत्र, युद्ध भूमि में रण चण्डी और भैरव-रक्तपान करने हेतु उन्मत्त होकर इधर उधर भागते हैं। शत्रुओं के दुर्गों पर आधिपत्य स्थापित करने हेतु अन्य शत्रु-राजाओं को अपना पराक्रम दिखाकर, तू दुर्गों पर अधिकार करता है। इस प्रकार के साहस से तू एक सौभाग्यशाली राजा प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

११८. राजराणा अजयसिंह झाला, गोगुंदा

दोहा

जुध देखण अपछर जुड़ी, खड़ी खड़ी पेखंत।
अजा मूंछ भूहां अड़ी, कड़ी जरद तड़कंत ॥ १ ॥

भावार्थः- युद्ध देखने अप्सराएँ एकत्रित हुईं और खड़ी २ (युद्ध-कौशल) देखने लगीं। (उन्होंने देखा कि वीर) अजयसिंह की मूछें

भौंहों से लग रही थीं और (जोश के कारण शरीर फूला न समाता था, अतः) की जिरह कड़ियाँ टूट रही थीं ॥ १ ॥

आप कुसल चाहौ अखए, अरु धण गैं अहवात ।
हेक अजा गजगाह रै । रहो लूंब दिन-रात ॥ २ ॥

भावार्थः- (सुभटों की पत्नियाँ कहती हैं कि हे पति देव ! यदि आप अपनी कुशलता चाहते हैं और स्त्रियों का (हमारा) सौभाग्य सुरक्षित रखना है तो एक (मात्र वीर) अजयसिंह के हाथी की (गज) भूल के दिन रात लटके रहिये अर्थात् उसकी शरण में रहिये, ताकि आपका जीवन. और हमारा सौभाग्य-चूड़ कुशल बना रहे ॥ २ ॥

गीत (बड़ा सारणोर)

अखए-सुता पति हुंत कहै अथ आसान रा ।
सवागण दान रा दयण सागै ॥
आखवां मठठ तज वहीजो आन रा ।
अणी नृप सान रा नगा आगै ॥ १ ॥

जीवणो चहै धव तनै मत भागड़े ।
चखासी खागड़े काल चालो ॥
साथ तज भलां पत हलीजे सागड़े ।
पागड़े लाग अहिवात पालो ॥ २ ॥

पाण खग अजा रै साम्हने पसैला ।
तो नसैला पतंग पड़ दीप न्हालो ॥
धणी मृगनैणियां छांह पग धसैला-
(तो) वसैला थांह गज दांत वालो ॥ ३ ॥

चुरस जग जीवणौ रखो चित चाह री।
(तो) पड़तलां-नाह री आस कीजो॥
त्रिया भड़ सवागण रखो तद ताहरी।
(तो) लूंब गजगाह री शरण लीजो॥ ४॥

कलह बिच सुणो थव तजै मत कढोला।
(तो) लडोला अमर सोभाग लाहै॥
चीत चत भूल नै थकै जो चढोला।
(तो) मढोला पीव पाखाण माहै॥ ५॥

(रचयिता- रामलाल आशिया)

भावार्थः- राज कुमारियाँ अपने पतियों से सावधानी के वचन कह रही हैं। (वे) कहती हैं कि-इस मानसिंह के पुत्र (अजयसिंह) के आगे सारा अभिमान त्याग कर चलना, यह साक्षात् सौभाग्य (जीवन) दान देने वाला है।

हे पति देव! जब तक जीवित रहना चाहते हो तब तक (इससे) कभी झगड़ा मोल मत लेना वरना काले सर्प को खिलाने का स्वाद चखना (परिणाम भुगतना) पड़ेगा। (अत एव) घमंड त्याग कर हे पति! सीधे रास्ते रास्ते चले चलना और अजयसिंह के पागड़े लग कर (शरण ले कर) सौभाग्य (जीवन) का पोषण करना।

अगर अजयसिंह के सम्मुख हाथ में तलवार ले कर गये तो दीपक से भिड़कर पतंग नष्ट होता है उसी प्रकार अपने को नष्ट होते देखोगे, (लेकिन) यदि भगनयनियों के पति (आप उस की छाया से पैर देते हुए चले यानि जैसे आकृति के पीछे छाया चलती है उसी प्रकार उसके अनुगामी रहे तो (हमारी) भुजाओं में सौभाग्य चिन्ह हस्ती दंतों का चूड़ा बना रहेगा।

संसार में जीने की (तुम्हारे) दिल में चाह है, शौक है, तो भाला पति (अजयसिंह) की आशा रखना। हे सागन्तों! अपनी

पत्नियों का सौभाग्य-जीवन-चाहते हो तो उस (अजयसिंह) की गज-भूल की लूंब (छोर) पकड़े रहना- (शरण लेना, आश्रित रहना) ॥

(अजयसिंह के) संघर्ष में हे पति ! अपना बल छोड़ कर निकल जाओगे तो अमर सौभाग्य का लाभ लूटोगे किंतु अगर कहीं भूल कर भी मन में विचार किये बिना आगे होकर निकल गये तो फिर हे पति ! पत्थरों के स्मारक चित्र की भाँति मढ़ दिये जाओगे-नष्ट कर दिये जाओगे और तुम्हारे चित्र पत्थरों में खुदे मिलेंगे ।

११६. शक्तावत माधोसिंह, विजयपुर

गीत (बड़ा साणोर)

मरदघाट गुजराट लोह लाट वेढ़ी मणा,
खलां समराथ खग झाट खाधा ।
आठ क्रम साठ चव साठ घूमे उठे,
मेर गिर चाढ़ लोह लाट माधा ॥१॥

जांगियां ठोर सिंधू गवे जांगड़ा,
लड़ण रण खांगड़ा वीर हलके ।
मेर तण जठे पीधा अमल भांगड़ा,
जो मरद रांगड़ा पणो झलके ॥२॥

छोह छक रातंक थटा छागतां,
गुमर वगड़ावतां रूप गाढ़े ।
धमोड़ा तड़ा अवरी घड़ा वाढ़तां,
चमू सगतावतां नूर चाढ़े ॥ ३ ॥

टिप्पणी:-१-यह चित्तौड़ के समीपवर्ती विजयपुर के ठाकुर भेरूसिंह शक्तावत का पुत्र था । इस गीत में उसके गुणों की प्रशंसा की गई है ।

पटायत लाखरां ज्यूँ ही थहै वजेपुर,
उदैपुर भाकरां गुमर आगो ।
कंठीरल मधा थारे जसा ठाकरां,
तीस खट साखरा मूंछ तांगो ॥ ४ ॥

(रचयिता:-अज्ञात)

भावार्थ:- हे वीर माधवसिंह, काल के समान कठोर और लोह स्तंभ के समान अडिग रहने वाले, तूं ने शत्रुओं को रण-भूमि में तलवार के प्रहार से नष्ट कर दिया। हे लोह स्तंभ के समान उन्नत और मेरु पर्वत के समान अडिग योद्धा, तेरे युद्ध-काल में बावन वीर और चौंसठ योगिगियाँ, रणांगण में सभी विचरने लगते हैं ॥१॥

हे बांके वीर, तूं नगारों का विनाद करवाता हुआ और नगारचियों द्वारा सिंधु राग के साथ हर्षित होता हुआ, रण भूमि में प्रविष्ट होता है। भेरूसिंह के वीर पुत्र, भंग और अफीम का पान करने वाले, तेरे में क्षात्रत्व स्वयं ही झलक आता है ॥२॥

हे माधव सिंह, तेरे क्रोध से भरे हुए लाल नेत्रों की छटा में बगड़ावतों के गौरव की झलक दिखाई देती है। हे वीर, कुमारी कन्या के समान प्रति पक्षियों की सेना के भालों से घाव लगाकर, तूं ने अपने कुल का गौरव बढ़ा दिया ॥३॥

हे माधवसिंह, उदयपुर के उन्नत पर्वतों का गौरव रखकर लाखों रुपयों की आयवाली विजयपुर की जागीरी प्राप्त की। हे सिंह के समान पराक्रमी वीर ठाकुर छत्तीस राजवंशो में तेरे समान ही वीर अपनी मूंछों पर हाथ रख सकते हैं, अन्य नहीं ॥४॥

१२० ठाकुर गोपालसिंह, खरवा

गीत (सु पंख)

राजै अनम्मी रोस रौ अंगां बडाला झड़ला रीसै,
करक्खै छड़ालां आचां उतोलै कोधाल ।

थाकां सुणे टोपी वाला धड़ाला हिया में धूजै,
कड़ाला सस्त्रां मारी केहरी कोपाल ॥ १ ॥

चालो वीर चालो सारो सुजाटां तुहाल छाजै,
कलंधेस चालो हाको अरिन्दां संकाल ।
महा जोस वालौ वीर फरंगी दे ताल माथै,
लेखै माधौ सिंघ वालौ डीकरो लंकाल ॥ २ ॥

अंग्रेजी साम्हल जुधां वरोला ऊठवै अंगां,
अढंगा थापवै रोला भोम रे आपाण ।
वरदां उजालौ सूरौ वामी बंध एण वारां,
पेखो भूरया फील दोलौ वावरे प्रमाण ॥ ३ ॥

रिमांखेसे लागौ दीखे इन्द्र ज्यूं जंभ पै रूठो,
आहंसी भाराथां ऊठो हणू ज्यूं ओपाल ।

टिप्पणी:– १. २० वी शताब्दि में अजमेर के समीपवर्ती खरवा ठिकाने का ठाकुर राठोड़ गोपालसिंह स्वतन्त्रता प्रेमी और वीर सरदार था। अंग्रेजों के अत्याचारों से दुःखी होकर देश के कतिपय देश-भक्तों ने परतन्त्रता की जंजीरों को तोड़ फेंकने के लिये क्रान्ति आरंभ की थी तब राजस्थान के वीर भी अंग्रेजों के क्रोध की चिन्ता न कर क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हुए थे। कहा जाता है कि दिल्ली के तत्कालीन वाइसराय लार्ड हार्डिंज पर सन् १९१२ में जुलूस के समय चांदनी चोक से 'बम' फेंका गया था, उस 'बम्' फेंकने वाले दल मे ठाकुर गोपालसिंह भी सम्मिलित था। फलतः इनको टाटगढ़ मे संदेह वश बन्द कर दिया गया; जहाँ से ये भाग निकले। किशनगढ़ मे फिर गिरफ्तार किये गये और जेल में भेज कर यातनाएँ दी गई तथा ठिकाने से अधिकार च्युत कर दिये गये। थोड़े समय पूर्व ही इनका देहावसान हुआ है। इस गीत में उन्हीं की प्रशंसा है।

छूटा छाण लाटां मदां पाण हूँ भूरंस छूटा,
गोरां गजां माथै रूठो सांवलो गोपाल ॥ ४ ॥

(रचयिता:-महडू गुलाबसिंह)

भावार्थ:- कभी नहीं झुकने वाले हे जोशीले यौद्धा, तू विशाल काय सुभटों से प्रसन्न रहने वाला है। हे कवच धारी सशस्त्र वीर ! सिंह के समान तेरा क्रोध देख कर टोपी धारी अंग्रेज तेरे युद्ध के आतंक का विचार कर कांपते रहते हैं ॥ १ ॥

हे यौद्धा ! ऐसे युद्धों की छेड़ छाड़ तेरी भुजाओं से शोभित है और तेरी वीरता के आतंक से शत्रुओं के हृदय में भय छाया रहता है। हे माधवसिंह के पुत्र ! तू हाथी रूपी अंग्रेजों पर क्रुद्ध-सिंह की भांति आक्रमण करता हुआ दिखाई देता है ॥ २ ॥

हे राष्ट्रवर ! अपने वीरत्व से कुल को उज्जवल करने के लिये भीम की तरह साहस और अनूठे ढंग से युद्ध आरंभ करता है। जिस से प्रति-स्पर्धी अविजित यौद्धाओं के हृदय में भी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो जाती है। हे यौद्धा ! गज-सदृश अंग्रेजों पर तू सिंह की तरह आक्रमण करता है ॥ ३ ॥

जंभ राक्षस रूपी शत्रुओं पर तू इन्द्र के समान और हनुमान की तरह रुष्ट हुआ दिखाई देता है। हे गोपालसिंह, मदान्ध गज के समान अंग्रेज लाट पर तू रुष्ट सिंह की भांति सोत्साह आक्रमण करता है ॥ ४ ॥

१२१. पत्ता चुण्डावत आमेट

गीत (छोटा साणोर)

तिल तिल जुध हुओ खगां मुँह तूटो,
त्रुण न सकै दहूँ कगां चूंप ॥

रावत कमल काज सिव रचियौ,
सहसा अरजुन तणौ सरूप ॥ १ ॥

चिग चिग हुओ खाग धारां चढ़,
चरियो जाय न कीत चर ॥
कैल पुरा वाला सिर कारण,
कीना संभू हजार कर ॥ २ ॥

रज-रज हुओ जणां झरियौ रज,
मिलवा सुगत जाणियो सेव ॥
समहर अ ुगट लिपण दस सहसै,
दस सौ कररा वधाया देव ॥ ३ ॥

सह परताप वीण टुकड़ा सिर,
गुकरां गू ंथी अजब सची ॥
रुण्डमाल उर ऊपर रुद्रचे,
फूलमाल अद्भुत फवी ॥ ४ ॥

(रचयिता -अज्ञात)

भावार्थ:- हे रावत ! शत्रुओं द्वारा युद्ध में तलवार से तेरा शरीर तिल तिल होकर धराशाई हुआ जिसको शंकर दोनों हाथों से एकत्रित नहीं कर सका इसलिये तेरे इस मस्तक के लिये शंकर ने सहस्रबाहु अजु ॅन का स्वरूप धारण किया ॥

खड्ग प्रहार से तेरा मस्तक छिन्न भिन्न हो गया, जिसका कोई यश वर्णन नहीं कर सकता। हे शीशोदिया ! तेरे मस्तक कण-को एकत्रित करने शंभू ने अपने हजार हाथ बनाये हैं ॥

हे पत्ता ! तू मोक्ष प्राप्ति के रहस्य को जान कर रजकण के समान युद्ध भूमि में विलीन हो गया। हे सिशोदिया, संग्राम भूमि से तेरे मस्तक-कण चुनने के लिये शंकर ने अपनी कर वृद्धि कर हजार हाथ बनाये ॥

हे जगतसिंह के पुत्र ! तेरे मस्तक के टुकड़ों को एकत्रित कर शंकर ने अपने हाथों से माला बना कर धारण की जो मुण्डमाला में अजीब प्रकार से शोभा देने लगी।

१२२ करनीदान साडरा, भीमखंड

गीत (छोटा साणोर)

गढ पत सूँ चूक होवतां साडरा—
भूपतियाँ सह भाली ॥
जिण सिरियां रोपी करना जल,
मंगल सर ग्रतमाली ॥ १ ॥
उगत भली आई देवावत,
रवि मंडल भेदण समराथ ॥
पूर्गा भलो साथियां पहली,
हाथियां सम्मुख बाजियां हाथ ॥ २ ॥
धणिया तणो ग्रव मरण सुधारण—
रण-दल बीच महारण रूक ॥
रिम हणिया आसणियो चारण—
चारण हरस आयो चूक ॥ ३ ॥
समहर दगे गुलाबसीह रे,
धन सांवत भली सुधारी ॥

खँड खँड चायौ कियो भीम खँड,
करना जल वाहि कटारी ॥ ४ ॥
(रचयिता-अज्ञात)

भावार्थः- हे गाडण गोत्रीय चारण ! जिस समय गढ़ाधीश पर आक्रमण हुआ तब अन्य भूमिपति देखते ही रह गये, ऐसे विकट समय में तूने हाथी के सिर पर कटारी का वार किया ॥

हे देवा के पुत्र ! तू कौशल से अपने साथियों से पहिले ही युद्ध भूमि में शस्त्र प्रहार कर सूर्य मंडल को पार कर स्वर्ग पहुँच गया ॥

तूने अपने स्वामी के हेतु देहपात को पुण्य समझ युद्ध स्थल में शत्रुओं एवं उनके हाथियों को विनष्ट कर दिया और अप्सरा वरण के आये अवसर को हाथ से नहीं जाने दिया, अर्थात लड़कर वीर गति प्राप्ति की ॥

जब गुलाबसिंह पर धोखे से आक्रमण हुआ तब तूने सम्हल कर अपने युद्ध कौशल से बिगड़ती बात को सुधार ली जिससे देश विदेश में तेरा गाँव भीम खंड प्रसिद्धि पा गया अर्थात् तूने अपनी जन्म भूमि को प्रसिद्ध कर दिया ॥

१२३ राव धाय भाई नगराज, गुजर
गीत (वड़ा साणोर)

सिलह भीड़ियें भड़ां कसियां भड़ज साबता ।
गूठला रोल त्रांबगलां गाज ॥
खाग उनागियां खिवे माथे खलां,
राण रा दलां अगवाण नगराज ॥ १ ॥

कंगलां सुभट जड़िया तुरां के जमां,
कड़ां दध पार कीरत कहाई ।

दूजड़ आचार रा भार धरिया दोये-
भड़ण हरवल हुए धाय भाई ॥ २ ॥

जंगमां पखर जड़िया सुपह जूसणा,
धरण जुध वार वड़ कुआरी वंद ॥
खग झड़ां ओझड़ा वाहि दाहण खलां,
होय हरवल दलां सुतन हरियंद ॥ ३ ॥

अभ नमो अमर भालां भमर उजागर,
वडम रथ सुजस धर खँचण वामी ॥
भड़ां पांणी अणी हिन्दुवां भांण रे ।
वगे दीवाण रे भुजां वामी ॥ ४ ॥

(रचयिता-अज्ञात)

भावार्थः- हे वीर नगराज ! बख्तर धारण कर घोड़ों पर पाखर कसते हुए भीषण रव से नक्कारों के शब्द करने लगते, उस समय तू राणा की सेना के अग्रभाग में रह कर शत्रुओं की सेना पर तलवार चमकाता हुआ युद्ध भूमि में प्रविष्ट होता है ॥ १ ॥

हे धाय भाई ! शूर वीर बख्तरों से सुसज्जित हो पाखर सज्जित (लोह के चार जामा) वाली सेना के अग्रभाग में जा तू शत्रुओं को परास्त करता है और दान वीर युद्ध वीर होने से तेरा यश समुद्र पार फैल गया है ॥ २ ॥

टिप्पणी:- यह महाराणा संग्रामसिंह (द्वितीय) का धाय भाई था और बड़ा विश्वास पात्र था। उस समय यह मुसाहिब आला था। उक्त महाराणा के राज्य काल में सैनिक तथा राजनैतिक सेवाओं से बहुत कुछ सहयोग दिया था जिसका इतिहास में बहुत वर्णन है।

जिस समय अश्वारोही योद्धा युद्ध भुजाओं से सज्जित होकर रण स्थल में प्रविष्ट होते हैं उस समय हे हरिचंद पुत्र ! तू (दुलही स्वरूप) सेना को (चँवरी रूपी) युद्धस्थल में वरण करने को दुलहा होकर अग्रभाग में चलता है और उस समय तू शत्रुओं पर वार कर उन्हें धराशाई कर देता है ॥

हे दूसरे अमरराज जैसे वीर ! तू भालों का वार करने में अच्छा वीर दिखाई देता है । तू हिन्दू सूर्य महाराणा के सैनिक योद्धा के समान साहस रखता हुआ राणा के अच्छे कार्यों के यश स्वरूपी रथ के बांई तरफ वह (चल) कर उस रथ को खींचने वाला है ॥

१२४. आनंदसिंह सोलंकी

गीत (छोटा साणौर)

राणा री सीच धरा री राखौ, सछर संपूरत निभै सणो ॥
चढिया नहीं कमंध मय चालक, घाटौ दुघटौ हुऔ घणो ॥ १ ॥

तीन महीना रहिया ताके, लड़ण बीड़ो किणी नहँ लियो ॥
झड़की नाल देख जोधपुरा, कुड़की साम्ही कूंच कियो ॥ २ ॥

बांका वचन कहे बीकावत, नहँ बीजो ज्यूं ही नमियो ॥
कमंधां घणा मिले नव कोटां, आणँदसिंग न आगमियो ॥ ३ ॥

दीठो दुघट वीर गुरु दूजो, हेकां जही न गणियो हेल ॥
मेल कियौ नहँ चढिया मारू, आया नहीं कीधा ऊमेल ॥ ४ ॥

(रचियता:- अज्ञात)

भावार्थ: राजा की भूमि की रक्षार्थ हे सोलंकी ! तुझ निर्भय बहादुर और क्रुद्ध को राठौड़ों ने तैयार देखा तो वे उक्त भूमाग को लेने के लिये विकट पहाड़ी रास्ते से आने की हिम्मत न कर सके ॥

राठौड़ लगातार तीन माह तक यह दशा देखते रहे किंतु तुमसे लड़ने का बीड़ा किसी ने नहीं उठाया। संकीर्ण पहाड़ी मार्ग (नाल) के ऊपर तेरा मजबूत बंदोबस्त देख जोधपुर नरेश ने वापस कूंच कर दिया ॥

हे बीका के पुत्र ! तूने वक्र वचन सुना शत्रुओं को नीचे उतार दिये, अन्य कायर क्षत्रियों की भांति शत्रुओं के सामने सिर नहीं झुकाया। हे आनंदसिंह ! मारवाड़ के सभी राठौड़ तुझे परास्त करने को आये किंतु उनसे तू पराजित नहीं हुआ ॥

हे वीरों के गुरु ! (घाटे) पहाड़ी तंग रास्ते पर तेरा बंदोबस्त देख कर राठौड़ों ने संगठन किया किन्तु वे घाटा चढ़ने में सफल न हो सके और तुमसे आकर युद्ध न कर सके ॥

१२५. मोटा मिनखां गे मेल

गीत

आवै घर करै एक पग ऊभा,
खातर खलल पड्यां रहै खीज ॥
मंको करां नटां न सरम सूं—
चित्त चहै वा लेलै चीज ॥ १ ॥

कटै ही मिलां पिछाणै कोनी।
सदन गयां न बूझै सार ॥
करां सलाम, दखे करड़ा पड़—
काम पड्यां कुछ करे न कार ॥ २ ॥

देपां पत्र जवाब न देवै—
हां, भर भूलै काम हुवै न ॥

कदे उठ सतकार करे नहँ ।
जोड़ां कर, तो थकै जुवै न ॥ ३ ॥

सांची झूठी सुणां अर सहवां ।
पड़ै समरथन करणौ पूर ॥
जे ओड़ो दे देय जरा सो ।
जोस जणावे लड़े जरूर ॥ ४ ॥

बहुतां में बैठां बतलावां ।
मुँह बोलतां सरम मरंत ॥
काम भुलांण बाण ज्यां खासा ।
तेड़ावै घर हूंत तुरंत ॥ ५ ॥

दां सरवस आसान न दिल में ।
दौड़ थकां तोहि ध्यान न धरे ॥
हिय सुध सेवा करां हेत सूं–
करै अंदाज, गरज सूं करे ॥ ६ ॥

राजी हुयां काम में रगड़ै ।
नराजियां करे नुकसाण ॥
छोटकियां ! मोटोड़ां छोडो ।
मिलो सरीखां, चाहो माण ॥ ७ ॥

आं सूं मेल कियां, दुख उपजै–
रंच न लाभें सुख रो रेस ॥

सुणै 'चंडु' मोटा मिनखां रै।

(माथां) अलूणा घू करणां आदेस ॥ ८ ॥

(रचयिता:- मांडू चंडी दान, हीलोड़ी मारवाड़)

भावार्थ:- (बड़े आदमी) जब अपने घर आते हैं तो सब एक पैर पर खड़े रह जाते हैं; अर्थात् आतिथ्य के लिये निरंतर दौड़ धूप मची रहती है। जहाँ थोड़ी सी कमी-त्रुटि-हुई कि नाराज हो जाते हैं। न तो उन्हें किसी प्रकार का संकोच होता है न लज्जा। उनके मन को जो चीज पसंद आ जाती है वह वस्तु ले ही लेते हैं ॥

(अगर) कहीं मिलते हैं तो वे (हमें) पहचान नहीं पाते और उनके घर चले जायँ तो कोई सार संभाल-आतिथ्य सत्कार की बात नहीं पूछते। यदि अभिवादन करते हैं तो कठोर हो (गर्व से फूल) कर देखते हैं। जब कुछ काम पड़ता है तो किसी प्रकार की सहायता नहीं करते ॥

(हम) पत्र दें तो (वे) उसका जवाब तक नहीं देते। कुछ कहा सुनी करें तो पहले हां, कर देते हैं लेकिन उनसे काम नहीं हो पाता। कभी खड़े होकर सम्मान नहीं करते (यदि हम) हाथ जोड़ते हैं तो सामने तक नहीं देखते ॥

(उनके द्वारा कही हुई) सच्ची झूठी सब सुनते हैं और सहन करते हैं तथा पूरी तरह से (अनिच्छा होते हुए भी) समर्थन करना पड़ता है। अनुचित व्यवहार करने पर उन्हें अगर थोड़ा टोक दें, उपालंभ दें तो जोश में आ जाते हैं और लड़ने को अवश्य तय्यार हो जाते हैं ॥

कहीं समूह में बैठे हुए (उन्हें) बतला दिया जाय तो मुँह से बोलते हुए लज्जा से मरे जाते हैं। कार्य के लिये कहने की जिनकी खामी आदतसी है और (जब जरूरत होती है तो) तुरन्त घर से बुलवा लेते हैं ॥

(यदि इनके लिये) सर्वस्व न्यौछावर कर दें तो भी मन में कृतज्ञता नहीं मानते, दौड़ दौड़ कर (सेवा करते) मरते हैं तो भी ध्यान में नहीं रखते। शुद्ध हृदय से प्रेम पूर्वक सेवा करते हैं तो (ये) अनुमान लगाते हैं कि किसी गरज से ऐसा करते हैं ॥

(ये) प्रसन्न होते हैं तो (रात-दिन) काम में रगड़ (मार) ते हैं और नाराज होते हैं तो हानि पहुँचाते हैं. हे छोटो ! यदि सम्मान चाहते हो तो बड़ों को छोड़ बराबरी वालों से हिलो मिलो। इन (बड़ों) से दुःख ही उत्पन्न होता है; रंच मात्र सुख लाभ मिलता नहीं। चंडीदान कहता है कि हे भाइयो ! बड़े पुरुषों को दूर से ही नमस्कार करना चाहिये ॥
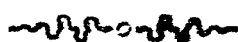
अचिरज एक देखहु संसारा। सुनहां खेदै कुंजर असवारा॥
ऐसा एक अचंभा देखा। जंबक करै केहरि सूं लेखा॥
कहै कबीर रांम भजि भाई। दास अधम गति कबहूं न जाई॥१४४॥

अर्थ—हे हरि, [तेरे] जन (सेवक) से जगत् लड़ता है, किन्तु यह कैसा है कि जैसे फुनगा (फतिंगा) गरुड़ को खाता (खाने को दौड़ता) हो। संसार में एक आश्चर्य देखो, कि श्वान हाथी की सवारी करने वाले को खेदता (खदेड़ता) है! ऐसा एक अचंभा (आश्चर्य) मैंने देखा कि जंबुक (शृगाल) केसरी से लेखा कर रहा है! कबीर कहता है, हे भाई, राम का भजन कर, [अन्यथा संसार का] दास होने की अधम गति कभी न जाएगी।

संसार के सामान्य जन फुनिगा, श्वान तथा जंबूक हैं, हरिजन गरुड़, हाथी-सवार और केसरी हैं।

हे हरि जन थैं चूक परी।
जे कछू आहि तुम्हारी हरी॥टेक॥

मोर तोर जब लग मैं कीन्हां। तब लग त्रास बहुत दुख दीन्हा॥
सिध साधिक कहै हम सिधि पाई। रांम नांम बिन सबै गंवाई॥
जे बैरागी आस पियासी। तिनकी माया कदे न नासी॥
कहै कबीर मैं दास तुम्हारा। माया खंडन करहु हमारा॥१४५॥

अर्थ—हे हरि, [तुम्हारे] इस जन (सेवक) से चूक पड़ (हो) गई है, किन्तु जो (जैसा) कुछ भी वह है, वह तुम्हारा ही है। जब तक मैंने 'मेरा'-'तेरा' किया, तब तक [भव-] त्रास ने बहुत दुःख दिया। सिद्ध और साधक कहते हैं, "हमने सिद्धि प्राप्त कर ली है।" किन्तु राम के नाम (प्रेम) के बिना उन्होंने सभी-कुछ गँवा दिया। जो विरागी है, वे आशाओं के प्यासे हैं, उनकी माया कभी भी नष्ट नहीं हुई। कबीर कहता है, मैं तुम्हारा दास हूं, मेरी माया का खंडन (विनाश) करो।

सब दुनीं सयांनीं मैं बौरा।
हंम बिगरे बिगरौ जिनि औरा॥टेक॥

मैं नहीं बौरा रांम कीयो बौरा। सतगुर जारि गयौ भ्रम मोरा॥
विद्या न पढ़ूं वाद नहीं जांनूं। हरि गुंन कथत सुनत बौरांनूं॥
कांम क्रोध दोऊ भये बिकारा। आपहिं आप जरैं संसारा॥
मीठा कहा जाहि जो भावै। दास कबीर रांम गुन गावै॥१४६॥*

---

* यहाँ पर स० में निम्नलिखित पद और है जो वि० में नहीं है—

अब मैं रांम सकल सिधि पाई।
आंन कहूं तौ रांम दुहाई॥टेक॥

इहि चिति चाखि सबै रस दीठा। राम नांम सा और न मीठा॥
औरैं रसि ह्वै है कफ गाता। हरि रस अधिक अधिक सुखदाता॥
दूजा वणिजन हीं कछू बाषर। रांम नांम दोऊ तत आपर॥
कहै कबीर जे हरि रस भोगी। ताकूं मिल्या निरंजन जोगी॥१४६अ॥

अर्थ—सब दुनिया सयानी (सज्ञान) है, मैं ही बावला (वातूल—वातग्रस्त) हूं, किन्तु मेरे बिगड़ने से, और (अपर) लोगो, तुम न बिगड़ो मैं [भी] बावला नहीं था, मुझे तो राम ने बावला कर दिया, और [वह] सद्गुरु मेरा भ्रम जला गया। मैं न कोई विद्या पढ़ता हूं और न वाद जानता हूं, हरिगुण कहते-सुनते मैं बावला हो गया। काम और क्रोध--इन दो विकारों में हो (पड़) कर संसार आप ही आप जल रहा है। 'मीठा (मधुर) क्या है ?' [इस प्रश्न का उत्तर यह है कि] 'जिसे जो भाए' [उसके लिए वही मीठा (मधुर) है]; दास कबीर इसीलिए राम के गुण गाता है [कि वही उसे भाता है]।

पाठान्तर--पं० बिलावलु २। टेक के अतिरिक्त पद की प्रथम दो अर्द्धालियां ही दोनों में समान हैं; शेष भिन्न-भिन्न हैं। पं० में ये शेष अर्द्धालियां हैं—

मैं बिगरे अपनी मति खोई। मेरे भरमि भूलउ मत कोई ॥
से बउरा जो आपु पिछानै। आपु पिछानै त एकै जानै ॥
अबहि न माता सु कबहु न माता। कहि कबीर रामै रंगि राता ॥

ऊपर उद्धृत प्रथम अर्द्धाली अन्यत्र भी पं० गउडी ३ में आती है, और वहां पर वह जितनी संगत है, यहां पर नहीं है। ऐसा लगता है कि पं० परपरा में अंतिम अंश के त्रुटित हो जाने पर इन पंक्तियों से अभाव की पूर्ति कर ली गई।

रे मन जाहु जहां तोहि भावै।
अब न कोई तेरै अंकुस लावै ॥टेक॥
जहां जहां जाइ तहां तहां रांमां। हरि पद चीनि कियौ बिश्रांमां
(बिस्रांमां) ॥
तन रंजित तब देखियत दोई। प्रगट्यौ ग्यांन जहां तहां सोई ॥
लीन निरंतर वपु बिसराया। कहै कबीर सुख सागर पाया ॥१४७॥

अर्थ—"रे मन, जहां तुझे भाए तू जा, अब तुझ पर कोई अंकुश न लगाएगा।" किन्तु वह जहां-जहां भी जाता है वहां-वहां राम हैं, इसलिए हरि के चरणों को चुन कर वह [उनमें] विश्राम करने लगा है। जब तक तनु [मोह से] रंजित (रंगा हुआ) है, तब तक दो (द्वन्द्व) दिखाई पड़ते हैं, जहां (जभी) ज्ञान प्रकट हुआ, तभी [एक मात्र] वही है (रह गया)। [उसमें] लीन हो कर [अपना] शरीर विस्मृत कर दिया, तब कबीर ने सुख-सागर [राम] को प्राप्त किया।

बहुरि हम काहे कौं आवहिंगे।
बिछुरे पंचतत की रचना, तब हम रांमहि पावहिंगे ॥टेक॥
पृथी का गुन पांनी सोष्या, पांनी तेज मिलांवहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि, सहज समाधि लगांवहिंगे ॥
जैसैं बहु कंचन के भूषन, एकहि गालि तवांवहिंगे।
ऐसैं हम लोक बेद कैं बिछुरे, सुंनिहि मांहि समांवहिंगे ॥

(२) राग रामकली

जगत गुर अनहद कींगरी बाजै।
तहां 'दीरघ'[1] नाद ल्यौ लागै ॥टेक॥

'त्री अस्थांन अंतर रिपिछाला, गगन मंडल सींगीं बाजै'[2]।
'तहुंआं एक दुकांन रच्यो है, निराकार व्रत साजै'[3]॥
गगन हीं भाठी सींगीं करि चूंगी, कनक कलस एक पावा।
तहुंवा चुवै अंमृत रस नीझर, रस ही मैं रस चुवावा॥
अब तौ एक अनूप बात भई, पवन पियाला साजा।
तीनि भवन मैं एकै जोगी, कहौ कहां बसै राजा॥
'बिन र जांनि प्रणऊं प्रसोतम'[4], कहि कबीर रंगि राता।
यहु दुनियां कांइ भ्रमि भूलांनीं, मैं रांम रसांइन माता॥१॥

अर्थ—जहां पर [अनाहत चक्र मे] जगद्गुरु की अनाहत किंगरी (किन्नरी वीणा) बजती है, वहां पर उस दीर्घ नाद से लय लग जाती है। वहां से तीन स्थानो (पड़ावों—चक्रो) के अंतर पर [सहस्रार में ?] एक ऋष्य (नील गाय) का चर्म [फैला हुआ] है, जहां पर गगन-मंडल (शून्य) में शृंग (सींग का वाद्य-विशेष) बज रहा है। वहां पर एक दुकान (अरबी 'दुखान'—भपका) रचा हुआ है, [जिसके द्वारा इस प्रकार] निराकार का व्रत साजा हुआ है। गगन की उसकी भट्टी है, सिंगी (शृंग) की उसकी चुंगी है, और एक कनक-कलश वहां पर प्राप्त है। वहां पर अमृत-रस का निर्झर चूता (झड़ता) रहता है, वह [इस] रस मे रस टपकाता रहता है। अब एक और अनुपम बात हुई, कि पवन (प्राणों) का प्याला सज गया है। तीनों भुवनों में वह एक ही योगी है, बताओ वह [तीनों भुवनों का] राजा कहां पर निवास करता है ? ऐ पुरुषोत्तम, मैं बिना जाने ही तुम्हें प्रणाम करता हूं, और मैं कबीर कहता हूं, मैं तुम्हारे (अनुराग) में रक्त हूं। यह दुनिया क्यों भ्रम में भूली हुई है ? मै तो राम-रसायन से मत्त हूं।

राम-रस-मदिरा के रूपक के लिए दे० ऊपर गौड़ी ७१–७४ तथा 'गोरख-बानी' पद २८।

पाठान्तर—पं० सिरी २। १. पं० में यह 'दिसटि' है। किंगरी का नाद 'दीर्घ' इस अर्थ में हो सकता है कि वह जल्दी मिटने वाला न हो, अथवा जिसकी गूंज देर तक रहती हो, 'दृष्टि नाद' स्पष्ट नही है।

२-३. राज० के चरण ३-४. पं० मे नही हैं। इनके स्थान पर पं० मे हैं :

अचरज एक सुनहु रे पंडीआ अब किछु कहन न जाई।
सुरि नर गण गध्रब जिनि मोहे त्रिभुवण मेखली लाई॥

राज० संदर्भ-ग्रथित लगता है, जैसा पं० में नहीं लगता है। राज०

की क्लिष्टता और पं० की सुगमता भी प्रकट है। मूल पाठ इसलिए राज० का लगता है, पं० का परवर्ती लगता है।

४. पं० में यह है : जैसे गिआन प्रगटिआ पुरुखोतम। परवर्ती चरण के संदर्भ में प० पाठ ही संगत लगता है, राज० नहीं। ऐसी स्थिति को प्राप्त करने पर भी यदि ज्ञान का अभाव रहा, जैसा वह राज० पाठ में है, तब 'राम-रसायन' की पद में वर्णित कष्ट-साध्य प्रणाली किस अर्थ की रही ?

ऐसा ग्यांन विचारि लै, लै लाइ लै ध्यांनां।
सुंनि मंडल मैं घर किया, जैसें रहै सिचांनां ॥टेक॥
उलटि पवन कहां राखिये, कोई मरम विचारै।
सांधै तीर पताल कू, फिरि गगनहि मारै ॥
कंसा नाद बजाइले, धुंनि निमसिले कंसा।
कंसा फूटा पंडिता, धुंनि कहां निवासा ॥
प्यंड परे जीव कहां रहै, कोई मरम लखावै।
जीवत जिस घरि जाईये, ऊंधै मुखि नहीं आवै ॥
सतगुर मिलै त पाईये, ऐसी अकथ कहांनीं।
कहै कबीर संसा गया, मिले सारंग प्रांनी ॥२॥

अर्थ—तू इस प्रकार का ज्ञान विचार ले और ध्यान की लय लगा ले, जिस प्रकार शून्य मंडल (अकाश) में घर करके श्येन (बाज़ पक्षी) रहता है। पवन (प्राणों) को [विपरीत-करणी मुद्रा के द्वारा] उलट कर कहा रक्खा जाए, कोई इस मर्म को विचारे। पहले [पवन—प्राणों का] तीर पाताल (मूलाधार चक्र) को लक्ष्य करके संधाने और फिर उसे [उलट कर] गगन (सहस्रार) में मारे।

कांसे (घंटे) का नाद बजाया गया और कांसे (घंटे) की ध्वनि निमसने (समाप्त होने) पर कांसा (घंटा) फूट गया। ऐ पंडितो, [अब कांसे की] उस ध्वनि का कहां पर निवास हुआ ?

पिंड पड़ने (शरीर-पात) के अनन्तर जीव कहाँ रहता है, कोई भी इसका मर्म दिखाए, [क्योंकि] जीवितावस्था में जिस घर में जाया जाता है (जीव जाता और रहता है), उस घर (शरीर) में तो वह औंधे मुख से (लौट कर) नहीं आता है।

सद्गुरु मिलता है तब ऐसी अकथ कहानी मिलती है। कबीर कहता है कि तब संशय गया (चला जाता है), और शार्ङ्गपाणि (राम) मिले (मिल जाते हैं)।

कांसा (घंटा) शरीर है, उसकी ध्वनि जीव है।

पाठान्तर—पं० बिलावल ११। राज० के चरण ५-६ ही किंचित् पाठ-भेद के साथ पं० में मिलते हैं, शेष पद जो राज० में आठ चरणों का तथा

पं० में छः चरणों का है, एक-दूसरे से भिन्न हैं। दोनों के विषय अवश्य मिलते-जुलते हैं। पं० के ये भिन्न चरण निम्नलिखित हैं—

जनम मरन का भ्रमु गइआ गोबिंद लिव लागी।
जीवत सुंनि समानिआ गुर साखी जागी॥
त्रिकुटी संधि मैं पेखिआ घट हू घट जागी।
ऐसी बुधि समाचरी घट माहि तिआगी॥
आप आपते जानिआ तेज तेजु समाना।
कहु कबीर अब जानिआ गोबिद मनु माना॥

दोनों में समान रूप से मिलने वाले ऊपर उल्लिखित दो चरणों में प्रतीकों और अप्रस्तुतों के माध्यम से कथन करने की जो शैली मिलती है, वह राज० के ही शेष चरणों में भी मिलती है, पं० के इन चरणों में नहीं, इसलिए राज० अधिक मान्य प्रतीत होता है।

है कोई संत सहज सुख उपजै, जाकौं जप तप देउं दलाली।
एक बूंद भरि 'देइ रांम रस'[१], ज्यूं भरि देइ कलाली॥टेक॥
काया कलाली लाहनि करि हूं, गुरू सबद गुड़ कीन्हां।
काम क्रोध मोह मद मछर, काटि काटि कंस दीन्हां॥
भवन चतुरदस भाठी पुरई, ब्रह्म अगनि परजारी।
'मूंदे मदन'[२] सहज धुनि उपजी, सुखमन पोतनहारी॥
नीझर झरै अंमीं रस निकसै, 'तिहि मदि रावल छांका'[३]।
'कहै कबीर यहु बास विकट अति, ग्यांन गुरू ले बांका'[४]॥३॥

अर्थ—क्या कोई संत है [जिसके संपर्क में] सहज सुख उत्पन्न हो, जिसको मैं जप-तप दलाली में दे सकूं, और जो एक बूंद राम के रस का भर कर दे सके, जैसे कलाली (कल्यपाली) [मदिरा] भर कर देती है? काया को उस कलाली का 'लाहन' (वह धान्य या पदार्थ जिसकी ख़मीर उठा कर मदिरा बनाई जाती है) कर गुरु के शब्द (संदेश) का मैंने गुड़ किया, फिर काम, क्रोध, मोह, मद और मात्सर्य को काट-काटकर मैंने कस (मदिरा में तीखापन लाने के लिए डाला गया पदार्थ—यथा बबूल अथवा बेर के वृक्ष की छाल) के रूप में दिया। चौदह भुवनों की भट्टी तैयार की और ब्रह्म की अग्नि उसमें प्रज्वलित की। मदन (काम और मोम) से उसे मुद्रित किया तब उसमें एक सहज (अनाहत) ध्वनि उत्पन्न हुई और सुषुम्णा पोता (भाप को रस के रूप मे परिवर्तित करने के लिए भपके की नली पर लपेटा हुआ गीला कपड़ा) लगाने वाली हुई। [इस प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप] निर्झर झड़ने लगा और अमृत-रस [बन कर] निकलने लगा, उसी के मद से [मैं] रावल (योगी) छक गया (अमल मे हो गया)। कबीर कहता है कि इस मदिरा [सीधु] की वासना अत्यधिक विकट (तीव्र) है, जिसको कोई बांका ज्ञान-गुरु (ज्ञान-गौरव-सम्पन्न साधु) ही ले सकता है।

इसी प्रकार 'रावल' के मद से छकने की बात गोरखनाथ ने भी कही है : चेतनि रावल यह भरि छाक्या (गोरख-बानी, पद २८)।

पाठान्तर—प० रामकली १। १. पं० में यह है 'एक बूंद भरि तनु मनु देवउ'। किन्तु एक बूंद 'राम रस' की ही संगत है, 'तनु-मन की एक बूंद दो' अथवा 'एक बूंद से तनु-मनु भर दो' कहना उतना सगत नहीं है।

२. पं० में यह है : 'मुद्रा मदक'। 'मदक' का अर्थ स्पष्ट नही है। 'मदन' मोम है, और वह मुद्रित करने के काम में आती भी रही है। 'मदक' 'मदन' की पाठ-विकृति है।

३. पं० मे इसके स्थान पर है : 'इहि रस मनूआ रातो रे'। राज० के 'राउल (योगी)' की संदर्भ-सापेक्ष्यता प्रकट है, पं० का पाठ 'राउल' की क्लिष्टता के कारण बाद मे आया हुआ लगता है।

४. पं० मे यह है : कहि कबीर गगनै मद छूठे रहै महा रसु साचो रे। राज० की संगति प्रकट है। 'छूठे' और 'साचे' की तुलना असमीचीन है, 'छूठे की तुलना मे 'भरे' और 'साचे' की तुलना 'झूठे' से होती है, इसलिए पं० संदिग्ध लगता है।

५. पं० में निम्नलिखित चरण और है जो राज० मे नही हैं—

तीरथ बरत नेम सुचि संजम रवि ससि गहनै देउ (उं) रे।
सुरति पिआल सुधारसु अंम्रितु एक महारसु पेउ रे॥

'रवि ससि' यदि सूर्य तथा चन्द्र नाड़ियां हैं, तो इनको गहने में देने की बात जँचती नहीं है, क्योंकि इन्हीं की सहायता से समाधि होती है, 'सुधारस' 'अंम्रितु' और 'महारसु' भी समानार्थी हैं इसलिए ये चरण संदिग्ध लगते हैं।

अकथ कहांणी प्रेम की, कछू कही न जाई।
गूंगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई ॥टेक॥
भोमि बिनां अरु बीज बिन, तरवर एक भाई।
अनंत फल प्रकासिया, गुर दीया बताई॥
मन थिर बैसि बिचारिया, रांमहि ल्यौ लाई।
झूठी अनभै बिस्तरी, सब थोथी बाई॥
कहै कबीर सकति कछु नांही, गुर भया सहाई।
आंवण जांणी मिटि गई, मन मनहि समाई॥४॥

अर्थ—प्रेम की कहानी अकथ्य है, वह कुछ कही नहीं जाती है : वह गूंगे की शक्कर है [जिसे खा कर] गूंगा बैठा-बैठा मुसकराया करता है। हे भाई, भूमि के बिना और बीज के बिना [उत्पन्न] एक तरुवर है, [फिर भी] वह अनंत (आत्मानुभूति के) फल प्रकाशित किए हुए है, और उसे गुरु ने बता दिया है। स्थिर मन से बैठ कर मैंने विचार किया, और राम की लय लगाई, तो झूठी अनुभूतियां बिखर (फैल) गई, जैसे वायु [के झोंके] से समस्त थोथा (खोखला) [धान्य] बिखर जाता है। कबीर कहता है [इसमें] मेरी

कोई शक्ति नहीं थी, गुरु ने मेरी सहायता की। मेरा आवागमन मिट गया और मेरा मन मन (ब्रह्म-मानस) मे समा गया।
वर्णित तरुवर सहस्रार है।

संतौ सो अनभै पद गहिये।
कला अतीत आदि निधि निरमल, ताकूं सदा बिचारत रहिये ।।टेक।।
सो काजी जाकौं काल न व्यापै, सो पंडित पद बूझै।
सो ब्रह्मा जो ब्रह्म बिचारै, सो जोगी जग सूझै ।।
उदै न अस्त सूर नहीं ससिहर, ताकौ भाव भजन करि लीजै।
काया थैं कछू दूरि बिचारै, तास गुरू मन धीजै ।।
जार्‌यो जरै न काट्‌यौ सूकै, उतपति परलै न आवै।
निराकार अखंड मंडल मैं, पांचौं तत्त समावै ।।
लोचन अछित सबै अंधियारा, बिन लोचन जग सूझै।
पड़दा खोलि मिलै हरि ताकौं, जो या अरथहि बूझै ।।
आदि अनंत उभै पख निरमल, द्रिष्टि न देख्या जाई।
ज्वाला उठी अकास प्रजल्यौ, सीतल अधिक समाई ।।
एक निगंध बासनां प्रगट, जग थैं रहै अकेला।
प्रांन पुरिस काया थैं बिछुरै, राखि लेहु गुर चेला ।।
भागा भ्रम भया मन अस्थिर, निद्रा नेह नसांनां।
घट की जोति जगत प्रकासा, माया सोक बुझांनां ।।
बंकनालि जे संमि कर राखै, तौ आवागंवन न होई।
कहै कबीर धुनि लहरि प्रगटी, सहजि मिलैगा सोई ।।५।।

अर्थ—हे संतों, अनुभूति का पद पकड़िए। जो कला-अतीत (अकल), आदि तथा निर्मल निधि है, उसको सदा विचारते रहिए। क़ाजी वह है जिसे काल नही व्यापता है, पंडित वह है जो [आत्म] पद को बूझता (जानता) है; ब्रह्मा (ब्राह्मण) वह है जो ब्रह्म का विचार करता है और योगी वह है जिसे जगत् सूझता है (जगत् की वास्तविकता जिसको प्रत्यक्ष रहती है)। जिसका न उदय है और न अस्त है, जो न सूर्य है और न शशधर (चन्द्रमा) है, उसका भाव-भजन कर लीजिए; जो काया से कुछ दूर (परे) का विचार करता है, [मेरा] मन उसी गुरु का विश्वास करता है। जो न जलाने से जलता है और न काटने से शुष्क होता है और जो न उत्पत्ति और प्रलय [की सीमाओ] मे आता है उस निराकार अखंड-मण्डल में पंचतत्त्व [भी अंत में] समाते हैं [शरीर के] लोचनों के अछत (होते हुए) भी सब अंधकार है, और बिना इन लोचनों के जगत् सूझता है; हरि परदा खोल (हटा) कर उसको मिलते हैं जो इस अर्थ (गूढ़ार्थ) को समझ लेता है। वह [हरि] आदि तथा अंत दोनों पक्षों में निर्मल है [उसे माया तथा त्रिगुण के विकार किसी स्थिति में भी आवृत नही करते हैं] और वह [शरीर की] दृष्टि से देखा नहीं जाता है; जब ज्वाला

उठती है और आकाश [उससे] प्रज्वलित होने लगता है, [उस समय] उसमे और भी अधिक शीतलता समा जाती है। जो एकमात्र निर्गन्ध है किन्तु जिसकी वासना [सुगन्धित पदार्थों मे] प्रकट रूप से मिलती है, जो जगत् से अलग रहता है, जो काया से बिछुटे (मुक्त) हुए प्राणों का पुरुष है; उसी को, ए गुरुओ (गुरुजनो) और चेलो, [हृदय मे] रख लो। भ्रम भाग गया, मन स्थिर हो गया, [अज्ञान जनित] निद्रा और स्नेह विनष्ट हो गए, घट की ज्योति से जगत् प्रकाशित हो गया और माया की शोकाग्नि बुझ गई। [मेरुदण्ड स्थित] बंकनाल को यदि कोई सम (सीधा) कर रखे तो आवागमन (जन्म-मरण) न हो। कबीर कहता है कि अब [अनाहत] ध्वनि-लहरी प्रकट हो गई है, इसलिए [ज्ञात होता है कि] वह [परम पुरुष] सहज ही मिलेगा।

जाइ पूछौ गोविंद पढ़िया पंडित, तेरा कौंन गुरू कौंन चेला।
अपणैं रूप कूं आपहि जांणैं, आपैं रहै अकेला ॥टेक॥
बांझ का पूत बाप बिना जाया, बिन पांऊं तरवरि चढ़िया।
अस बिन पाखर गज बिन गुड़िया, बिन खांडै संग्राम जुड़िया ॥
बीज बिन अंकुर पेड़ बिन तरवर, बिन साखा तरवरि फलिया।
रूप बिन नारी पुहप बिन परिमल, बिन नीरैं सरवर भरिया ॥
देव बिन देहुरा पत्र बिन पूजा, बिन पंखा भवरा बिलंबिया।
सूरा होइ सु परम पद पावै, कीट पतंग होइ सब जरिया ॥
दीपक बिन जोति जोति बिन दीपक, हद बिन अनाहद सबद बागा।
चेतनां होइ सु चेति लीज्यौ, कबीर हरि कै अंग लागा ॥६॥

अर्थ—[धर्मग्रन्थों को] पढ़े हुए पंडित से जा कर पूछो कि गोविन्द कौन है, और तुम्हारा कौन गुरु है और कौन चेला है, कौन अपने रूप को आप ही जानता है, और कौन आप अकेला रहता है; कौन वंध्या का पुत्र है, बिना पिता के उत्पन्न है, और बिना पैरों के बड़े तरुओं पर चढ़ता है, बिना पाखरे हुए अश्व और बिना गुड़ित (पाखरों से सज्जित) गज पर चढ़ कर बिना खड्ग के संग्राम में जुटता है। जो बीज के बिना अंकुर है, पेड़ (पेंड़ी) के बिना तरुवर है, जो ऐसा तरुवर है कि बिना शाखाओं के फलता है, जो अ-रूप नारी है, परिमल-रहित पुष्प है, बिना जल के भरा हुआ सरोवर है, जो बिना देहुरे (देवकुल—देवालय) के देव है, जो बिना पत्र के पूजा है, जो बिना पंखों के [कमल पर] बिलमने (रुकने, ठहरने) वाला भ्रमर है; जो शूर होता है वही इस परम पद को पाता है, कीट-पतंगादि जो होते है, वे सभी जल जाते हैं [और इस पद को नही पाते हैं]। वह [स्थूल] दीपक के बिना भी ज्योति-स्वरूप है, और वह ऐसा दीपक है जिसमें [दीपक वाली स्थूल] ज्योति नहीं है; वह असीम अनाहत शब्द है, जो चलता (<वल्गु—गमन करना) है। जिनमें चेतना हो वह [इस पद के अर्थ को] चेत ले, कबीर [तो] हरि के अंग मे लग गया (लीन हो गया) है।

शशक उसे शर से मार रहा है। कबीर कहता है। मैं उसे गुरु करूँगा जो इस पद को विचार लेगा।

यह भी उलटवासी का पद है। इसमें भी, यथा पूर्ववर्ती पद मे, आत्मा और शरीर का संघर्ष अंकित किया गया है। कुछ तो युक्तियां भी उसी की हैं आत्मा क्रमश: मूषक, चींटी, मुर्गे, ज्वाला (आग), बछड़े, नवल (नकुल), और शशक के अप्रस्तुतों द्वारा किया गया है और शरीर क्रमश: हस्ती, सर्पिणी, पर्वत, मिनकी (बिल्ली), पानी, गुरुगी, शार्दूल, तथा भिल्ल के अप्रस्तुतों द्वारा। बछड़े का दूध देना आत्मा का अमृततत्त्व प्रदान करना है।

अवधू जागत नींद न कीजै।
काल न खाइ कलप नहीं व्यापै, देही जुह्रा न छीजै ॥टेक॥
उलटी गंग संमुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै।
नव ग्रिह मारि रोगिया बैठै, जल मैं व्यंब प्रकासै॥
डाल गह्यां थैं मूल न सूझै, मूल गह्यां फल पावा।
बंबई उलटि श्रप (सर्प्प) कौं लागी, धरणि महारस खावा॥
बैठि गुफा मैं सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै।
उलटै धनकि पारधी मार्‌यौ, यहु अचिरज कोई बूझै॥
औंधा घड़ा न जल मैं डुबै, सूधा सूभर भरिया।
जाकौ यहु जग घिण करि चालै, ता प्रसादि निस्तरिया॥
अंबर बरसै धरती भीजै, यहु जांणैं सब कोई।
धरती बरसै अंबर भीजै बूझै बिरला कोई॥
गांवणहारा कदे न गावै, अणबोल्या नित गावै।
नटवर पेषि पेषनां पेषै, अनहद बेन बजावै॥
कहणीं रहणीं निज तत जांणै, यहु सब अकथ कहाणी।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यहु पुरिसां की बांणीं॥
बाझ पियालै अंमृत सोख्या, नदी नीर भरि राख्या।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, धरणि महारस चाख्या ॥१०॥

अर्थ—ऐ अवधूतो, जागते हुए निद्रा न करो, जिससे तुम्हे काल न खा सके, कल्प (संकल्प-विकल्प) व्याप्त न हो, और तुम्हारा शरीर जरा से नष्ट न हो; उलट कर बही हुई गंगा समुद्र को सोख ले (वह समुद्र का जल भी अपने उद्गम की ओर बहा ले जाए), शशधर (चद्रमा) सूर्य को ग्रस ले, रोगी [अपने विरोधी] नवग्रहों को मार बैठे, जल में [तेजपूर्ण] बिंब प्रकाशित हो, डाल पकड़ मे आने से मूल न सूझे, किन्तु मूल के पकड़ मे आने से फल मिल जाए, बांबी (वल्मीक+इका) उलट कर सर्प को लग जाए (ढक ले), धरणी महारस (समुद्र) को खा जाए, गुहा मे बैठकर किसी को सब जगत् दिखाई पडे और बाहर कुछ भी न सूझे, धनुष ही उलट कर पापर्द्धिक (बधिक) को मारदे, यह आश्चर्य [बिरला ही] कोई बूझ सकता है। औंधा (उलटा हुआ) घड़ा

जल में न बूड़े (ब्रुड्—डूबना) है, मूधा (शुद्ध—सीधा) घड़ा [डुवाने पर] भरपूर रूप में भर जाए जिस [ऊबट-पथ] को यह जगत् घृणा [-पूर्वक छोड़] कर चलता है; उसी की कृपा से वह पार लगे। आकाश बरसता है, और धरती भीगती है, यह सभी कोई जानता है, किन्तु धरणी बरसती हो और आकाश भीगता हो, इस [तथ्य] को कोई विरला ही बूझता (समझता) है। जो गाने वाला है, वह तो कभी गाता हो, और जो अनबोला (मूक) है वह नित्य गाता हो, श्रेष्ठ नट को प्रेक्षण (अभिनय) देखता हो और वह अनाहत-वेणु को बजाता है। कथनी (कथनीय) और रहनी (आचरण) का निजु (ठीक-ठीक) तत्त्व कोई भले ही जान ले, यह सब अकथ्य कहानी है : धरती उलट कर आकाश को ही ग्रास बना ले, यह [आत्म-द्रष्ट] पुरुषों की वाणी है। पियाले (पीने वाले) के बिना ही अमृत सोख लिया गया हो, नीर को नदी ने भर रखा हो, कबीर कहते हैं, वे योगी विरले होंगे [जिनकी] धरणी ने महारस (समुद्र) को चखा (खाया) हो।

यह पद भी उलटवासी का है। विभिन्न अप्रस्तुतों के प्रस्तुत इस प्रकार हैं : गंगा : कुंडलिनी; समुद्र : मूलाधार चक्र; शशधर : चंद्रनाड़ी; सूर्य : सूर्यनाडी; रोगी : जीव; नवग्रह : भौतिक जगत (शरीर); तेजपूर्ण बिंब : कुंडलिनी; जल : मूलाधार चक्र; मूल : सहस्रार; डाल : मेरुदण्ड; फल : अमृतत्त्व; बांबी : सहस्रार; सर्प : कुंडलिनी; धरणी : कुंडलिनी; महारस : मूलाधार चक्र; गुहा : सहस्रार; बाहर : बहिर्जगत; धनुष : जीव; पारधी : शरीर; औंधा घडा : सहस्रार; सीधा घडा : मूलाधार चक्र; घृणा का पात्र : औघट पथ; निरन्तार : आत्म साक्षात्कार; धरती : कुंडलिनी; अंबर : सहस्रार; अनबोला : जीव; गानेवाला : शरीर; प्रेक्षण : जीव; नट : शरीर; वेणु : अनाहत नाद; धरती : कुंडलिनी; आकाश : सहस्रार; अशरीरी पियाला : जीव; अमृत : आत्मानुभूति; नदी : कुंडलिनी; नीर : मूलाधार चक्र; धरणी : कुंडलिनी; महारस : मूलाधार चक्र।

राम गुन बेल्ड़ी रे, अवधू गोरषनाथि जांणीं।
नां तिस रूप न छाया जाकै, बिरध (धि) करै बिन पांणीं ॥टेक॥
बेल्ड़ियां द्वै अणीं पहूंती, गगन पहूंती सैली।
सहज बेलि जब फूलण लागी, डाली कूपल मेल्ही॥
मन कुंजर जाइ बाड़ी बिलंब्या, सतगुरि बाही बेली।
पंच सखी मिलि पवन पयंप्या, बाड़ी पांणीं मेल्ही॥
काटत बेली कूपल मेल्ही, सींचतड़ां कुमिलांणीं।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, सहज निरंतर जांणीं॥११॥

अर्थ—राम के 'गुणों की बेल्ली' को अवधूत गोरखनाथ ने जाना, उसका जिसका न [कोई] रूप है, न जिसकी छाया है, और जो बिना पानी के ही वृद्धि करती है। उस बेल्ली से दो अनियां हुई, जो स्वच्छन्दतापूर्वक आकाश तक जा पहुँचीं। यह 'सहज की बेल्ली' जब फूलने लगी, तब इसने डलियां

और कोपलें मुक्त कीं (निकालीं)। मन-कुंजर जाकर जव [इस वेली की] वाटिका में ठहरा, तव सद्गुरु (ईश्वर) ने इस वेली को चला (हटा) दिया। पंच सखियों (पंचतत्वों) ने मिल कर पवनों (प्राणों) से कहा, तो वाटिका ने पानी मुक्त किया (निकाला)। काटते (शारीरिकता से अलग करते) समय इस वेली ने कोंपलें मुक्त कीं (निकाली) किन्तु जव ये सींची गई (शारीरिकता से सिक्त की गईं) तव ये कुम्हला गईं। कवीर कहता है कि ऐसा विरला ही योगी होगा जो इस 'सहज की वेली' को निरंतर जानता रहे।

'गोरख-वानी' में भी यह पद है, और इस प्रकार है—

तत वेली लो तत वेली लो अवधू गोरखनाथ जांणीं।
डाल न मूल पहुप नहीं छाया विरधि करै विन पांणीं॥
काया कुंजर तेरी वाडी अवधू सतगुर वेलि रुपांणीं।
पुरिष पांणती करै घणियांणीं नीकैं वालि घरि आंणीं॥
मूल एद्वा जेद्वा ससिहर अवधू पांन एद्वा जेद्वा भांणं।
फल एद्वा जेद्वा पूनिम चंदा जोउ जोउ जांण सुजांणं॥
वेलड़ियां दौं लागी अवधू गगन पहूंती झाला।
जिम जिम वेली दाझवा लागी तव मेल्है कूंपल डाला॥
काटत वेली कूंपल मेल्ही सींचतड़ां कुमलाये।
मछिंद्र पसादैं जती गोरख वोल्या नित्त नवेलड़ी थाये॥

(गोरख-बानी, पद १७)

दोनों के मिलते-जुलते चरण हैं: गोरख चरण १, कवीर चरण १; गो० २ : क० २, गो० ३ : क० ५; गो० ७ : क० ३; गो० ८ : क० ४; गो० ९ : क० ७; गो० १० : क० ८। गोरखनाथ में जो 'तत (तत्त्व) वेली' है वह कवीर में 'राम गुन वेलड़ी' (चरण १) तथा 'सहज वेली' (चरण ४) हो गई है; गोरखनाथ के पद के चरण ४, ५ तथा ६ कवीर के पद में नहीं हैं और कवीर के पद का चरण ६ गोरखनाथ के पद में नहीं है। 'गोरख-बानी' की विभिन्न प्रतियों में पाठ एक-सा है, और वह पूर्ण रूप से संगत है।

कवीर की वेली के दो अनियां सूर्य तथा चंद्र नाड़ियां हैं, गगन ब्रह्मरंध्र है, कूंपल मेल्हना लहलहाना है, इसलिए विरोधाभास युक्त 'गोरख-बानी' के चरण ८ का पाठ अधिक संगत लगता है। पंच सखियां पंच पवन (पंच प्राण) हैं, इस वेली को काटना कर्म-कुठार से इसे नष्ट करने का प्रयास करना तथा इसे सींचना विषयों से इसे सिक्त करना है।

रांम राइ अबिगत बिगति न जानं।
कहि किम तोहि रूप बखांनं ॥टेक॥

प्रथमें गगन कि पुहमि प्रथमि प्रभू, प्रथमें पवन कि पांणीं।
प्रथमें चंद क (कि) सूर प्रथमि प्रभु, प्रथमें कौंन बिनांणीं॥

प्रथमें प्रांन कि प्यंड प्रथमि प्रभू, प्रथमें रकत कि रेतं।
प्रथमें पुरिप कि नारि प्रथमि प्रभू, प्रथमें वीज कि खेतं॥
प्रथमें दिवस कि रैंणि प्रथमि प्रभू, प्रथमें पाप कि पुन्यं।
कहै कवीर जहां वसहु निरंजन, तहां कुछू आहि कि सुन्यं॥१२॥

अर्थ—हे रामराय, [तुम्हारे] अव्यक्त रूप की व्यक्ति (विवृत्ति) मैं नहीं जानता हूं, तब कहो किस प्रकार तुम्हारा रूप वर्णन करूं ? हे प्रभु, पहले गगन था कि पृथ्वी पहले थी, पहले पवन था कि पानी था ? हे प्रभु पहले चंद्र था कि सूर्य था, हे विज्ञानी, पहले कौन था ? हे प्रभु, पहले प्राण था कि पिंड (शरीर) था, पहले रक्त (नारी-रज) था कि रेतस् (पुरुष-वीर्य) था ? हे प्रभु, पहले पुरुष था कि नारी थी, पहले बीज था कि खेत था ? हे प्रभु, पहले दिवस था कि रात्रि थी, पहले पाप था कि पुण्य था ? कबीर कहता है, हे निरंजन (निर्लिप्त ब्रह्म), जहाँ तुम निवास करते हो, वहाँ कुछ है भी या शून्य है ?

अवधू सो जोगी गुर मेरा।
जो या पद को करै नवेरा॥टेक॥
तरवर एक पेड़ विन ठाढ़ा, विन फूलां फल लागा।
साखा पत्र कछू नहीं वाकैं, अष्ट गगन मुखि वागा॥
पैर विन निरति करां विन वाजै, जिभ्या हींणां गावै।
गावणहारे कै रूप न रेषा, सतगुर होइ लखावै॥
पंखी का खोज मींन का मारग, कहै कवीर विचारी।
अपरंपार पार परसोतम, वा मूरति की वलिहारी॥१३॥

अर्थ—हे अवधूत, वह मेरा गुरु होगा, जो इस पद [के अर्थ] का निपटारा कर देगा। एक तरुवर है जो पेड़ (पिंड : तने) के बिना ही खड़ा है, उसमें बिना फूलों के [आए] ही फल लगे हुए हैं; शाखाएं और पत्र कुछ भी उसमें नहीं है, फिर भी अष्ट आकाश के मुख में वह वागता (<वल्ग् — गमन करना) रहता है। पैरों के बिना ही वह नृत्य करता है, और करों के बिना ही वादन करता है, जिह्वा के बिना ही वह गाता है। इस गाने वाले का न रूप है और न उसकी रेखा है; जो सद्गुरु हो, वही इसको दिखा सकता है। वह पक्षी का खोज (छोड़ा हुआ चिह्न) और मीन का [जल में चला हुआ] मार्ग है (इन दोनों की भांति वह भी अलक्षित है), कबीर ऐसा विचार कर कहता है। अपार के भी पार (परे) जो पुरुषोत्तम है, उस मूर्ति की मैं बलिहारी हूं।

ऊपर के राम० ६ तथा ७ की परंपरा में यह पद भी है। इसमें भी पुरुष (आत्मा) की पहेली प्रस्तुत की गई है। प्रहेलिका की कुंजी पद के अंतिम चरण में आया हुआ 'पुरुषोत्तम' शब्द है, जिस प्रकार उपर्युक्त में 'गोविन्द' और 'गोपाल' हैं। इसकी कुछ उक्तियां भी उपर्युक्त पदों में आई हुई हैं।

अब मैं जांणिबी रे, केवल राइ की कहांणीं।
मंझा जोति रांम प्रकासै, गुर गमि बांणीं ॥टेक॥
'तरवर एक अनंत मूरति, सुरता लेहु पिछांणीं'[1]।
'साखा पेड़ फूल फल नांहीं, ताकी अंमृत वांणीं'[2] ॥
पुहप वास भवरा एक राता, बारा ले उर धरिया।
सोलह मंझैं पवन झकोलै, आकासे फल फलिया ॥
सहज समाधि बिरष यहु सींच्या, धरती जल हर सोष्या।
कहै कबीर तास मैं चेला, जिनि यहु तरवर पेष्यां ॥१४॥

अर्थ—अब मुझे केवल राजा [राम] की कहानी जाननी है। हमारे [तनु के] मध्य में राम ज्योति का प्रकाश करते हैं, ऐसी गुरु की जानी हुई वाणी है। एक तरुवर है जिसमें, अंनत की मूर्ति है, सुरति से वह पहिचानी जा सकती है, उसमें शाखाएं, पेड़ (तना), फूल, फलादि नहीं है और उसकी अमृत की वानि (वर्णिका) है। वहा पर पुष्प (कमल) की सुवास पर रक्त (अनुरक्त) एक भ्रमर है, जो उस द्वादश [दल के कमल] को हृदय पर धारण करता है। षोडस [दल के कमल] के मध्य पवन झकोले देता है, और आकाश में फल फलता है। सहज समाधि का यह वृक्ष सींचा गया, तो धरती के जलाशय मूलाधार ने इसे सोख लिया। कबीर कहता है कि उसका मैं चेला हूंगा जिसने यह तरुवर देखा हो।

यह तरुवर मेरुदण्ड का है, द्वादश दल तथा षोडस दल कमल क्रमशः अनाहत और विशुद्ध अथवा आज्ञा चक्र है। (दे० गोरख-वाणी—अष्टचक्र)।

पाठान्तर—राम० ६। १-२. पं० में ये हैं—

तरुवर एक अनंत डार साखा पुहप पत्र रस भरीआ।
इह अंम्रित की वाड़ी है रे तिनि हरि पूरैं करीआ ॥

पं० में 'डार' तथा 'साखा' की पुनरुक्ति है, जो कि कदाचित् 'मूरति' की संगति के अस्पष्ट होने के कारण उसके स्थान पर बाद में आने वाले 'वाडी' के संदर्भ में 'डार' शब्द रखने के कारण हुई है।

राज० पाठ के 'ताकी अंमृत वाणी' का अर्थ है उसकी अमृत की बानि (वर्णिका) है; पं० में वही विकृत होकर 'इह अंम्रित की वाड़ी है' हो गया है।

राजा रांम कवन रंगैं।
जैसै परिमल पुहप संगैं ॥टेक॥
पंचतत ले कीन्ह बंधानं। चौरासी लष जीव समांनं ॥
बेगर बेगर राषिले भाव। तामैं कीन्ह आपकौ ठांव ॥
जैसैं पावक भंजन का बसेख। घट उनमांन कीया परवेस ॥
कह्या चाहूं कछू कह्या न जाइ। जल जीव ह्वै जल नहीं बिगराइ ॥
सकल आतमां बरतैं जे। छल बल कौं सब चीन्हि वसे ॥

चीन्हियत चीन्हियत ता चीन्हि लसे। तिहि चीन्हिअल(त)धूं का करके॥
आपा पर सब एक समान। तब हम पाया पद निरबांण॥
कहै कबीर मनि भया संतोष। मिले भगवंत गया दुख दोष॥१५॥

अर्थ—राजा राम किस रंग से (कैसे) (व्याप्त) हैं? जैसे परिमल पुष्प के साथ [होता है]। पंच तत्त्वों को लेकर उन्होंने [देहों का] बंधान किया और फिर चौरासी लाख जीव [उन देहों में] समाए। उनमें उन्होंने भिन्न-भिन्न भाव रक्खे, और उनमें उन्होंने अपना स्थान रक्खा। जिस प्रकार अग्नि में भाजन का वैशिष्ट्य होता है (भाजन के अनुरूप उसकी अग्नि आकार ग्रहण करती है), उन्होंने भी विभिन्न घटों के अनुसार उनमें प्रवेश किया। इसे मैं कहना चाहता हूं किन्तु मुझसे कहा नहीं जाता है, [यह उसी प्रकार हुआ जैसे] जल के जीव होते हैं और उनसे जल पृथक् नहीं होता है। वे समस्त आत्माएं जो बरतती हैं (वर्तमान) हैं, सभी [विभिन्न देहों के] छल-बल को पहिचान कर उनमें निवास करती हैं। पहिचानने-पहिचानते उस (ब्रह्म) को पहिचान कर वे लस (शोभा पा) सकती हैं, किन्तु वे क्या करके (किस लिए) उस (ब्रह्म) को पहिचानेंगी? जब आतम और पर (परमातम) सब एक समान हो गए (भेद-बुद्धि न रही), तब मैंने निर्वाण पद पाया। कबीर कहता है कि तब मन में संतोष हुआ, तब भगवान मिले और मेरे दुःख-दोष गए।

अंतर गति अनि अनि बांणीं।
गगन गुपत मधुकर मधु पीवत, सुगति सेस सिव जांणीं॥टेक॥
त्रिगुण त्रिविधि तलपत तिमरातन, तंती तंत मिलाणीं।
भागे भरंम भोइन भये भारी, बिधि बिरंचि सुखि जांणीं॥
बरन पवन अबरंन बिधि पावक, अनल अमर मरै पांणीं।
रबि ससि सुभग रहे भरि सब घटि, सबद सुन्य थित्य(ति) मांनी॥
संकट सकति सकल सुख खोये, उदिध मथित सब हारे।
कहै कबीर अगम पुर पटण, प्रगटि पुरातन जारे॥१६॥

अर्थ—अन्तर्गति [बाह्य गति से] अन्य ही अन्य (भिन्न ही) वर्णिका की होती है। गगन (शून्य—ब्रह्मरंध्र) में गुप्त रूप से मधुकर (चैतन्य) मधु पान करता [हुआ ऐसी सुगति को प्राप्त होता] है, जो सुगति शेष तथा शिव को ही ज्ञात है। जब तंत्री तंत्र में मिल गई, त्रिगुण (सत, रज, तम) त्रिविध तिमिरत्व (त्रिताप—आधिदैहिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक) तड़फड़ाने लगे, और वे भ्रम चले गए जो भारी भोयन (भोगी : ग्राम-शासक, जमींदार) बने हुए थे तथा विधि-विरञ्चि का सुख जान रहे थे। [पंच तत्त्व में से] वर्ण [के गुण का तत्त्व] (भू-तत्त्व) वायु [तत्त्व] के साथ अवर्ण विधि का हो गया, पावक तथा अनल (नभ?) [तत्त्व] अंबर (आकाश) जैसा हो गया और पानीय [तत्त्व] मर गया। सुभग रवि-शशि (सूर्य तथा चंद्र नाड़ी) समस्त घट (शरीर) में (प्रकाशित हो) रहे और [अनाहत] शब्द ने शून्य (ब्रह्मरंध्र) में

स्थिति मानी (स्थित हो गया)। संकटों ने बलात् [अगमः] समस्त सुख खो दिया, जैसे उदधि-मंथन करते हुए वे हार (थक) गए हों। कबीर कहता है, अगमपुर पट्टन ने प्रकट होकर पुराने [पुर पट्टन] को जला दिया।

तंत्री काया तत्त्व है, तंत्र जीव तत्त्व है। अगमपुर पट्टन आनंद-लोक है। इसी को कुछ संतों ने 'बेगमपुर' कहा है। पुरातन पुर-पट्टन शरीर का सुख-जगत् है।

लाधा है कछू लाधा है, ताकी पारिख को न लहै।
अबरन एक अकल अविनासी, घटि घटि आप रहै ॥टेक॥
तोल न मोल माप कछू नाहीं, गिणंती ग्यांन न होई।
नां सो भारी नां सो हलवा, ताकी पारिष लप न कोई ॥
जामैं हम सोई हम हीं मैं, नीर मिलें जल एक हूवा।
यूं जांणें तौ कोई न मरिहै, बिन जांणें थें बहुत मूवा ॥
दास कबीर प्रेम रस पाया, पीवणहार न पांऊं।
विधनां वचन पिछांणत नांहीं, कहु क्या काढ़ि दिखांऊं ॥१७॥

अर्थ—मैंने कुछ लब्ध किया (पाया) है, किन्तु उसकी परख कोई प्राणी लाभ नही कर पा रहा है। जो अवर्ण है, एक है, अकल (अखंडित) है और अविनाशी है, वह घट-घट मे स्वयं रह रहा है। उसका न तोल है, न मूल्य है, न कुछ (कोई) माप है, न उसकी गिनती का ज्ञान हो सकता है, न वह भारी है, और न वह हलका (लघुक) है, उसकी परख [के तत्त्व] कोई नहीं देख सकता है। जिसमें (उसमें) हम है और वही हममें है, जैसे [दो] नीरों के मिलने पर जल एक ही हो गया हो। यदि इस प्रकार कोई [उसको] जान लेगा, तो वह न मरेगा, [उसको] विना जाने ही बहुतेरे मृत हुए है। दास कबीर ने प्रेम-रस प्राप्त कर लिया है, किन्तु इसे पीने वाला मैं नही पा रहा हूं। विधि के वाक्य जब तुम नही पहिचानते हो, तो कहो, [उन्हें] मैं क्या (कौन-सा-प्रमाण) निकालकर दिखाऊँ ?

हरि हिरदै रे अनत कत चाहौ।
भूलै भ्रम दुनीं कत बाहौ ॥टेक॥
जग परबोधि होत नर खाली, करते उदर उपाया।
आतम रांम न चीन्हैं संतौ, क्यूं रमिलै रांम राया ॥
लागैं प्यास नीर सो पीवैं, बिन लागैं नहीं पीवै।
खोजैं तत्त मिलै अविनासी, बिन खोजैं नहीं जीवै ॥
कहै कबीर कठिन यहु करनी, जैसी खंडे धारा।
उलटी चाल मिलै ब्रह्म कौं, सो सतगुरू हमारा ॥१८॥

अर्थ—हरि तो हृदय मे है, उन्हें तुम अन्यत्र कहां देखते हो ? भ्रम में भूले हुए तुम दुनिया में क्यों बाह (वह) रहे हो ? जगत् का प्रबोध कर जब नर (अवास्तविक संत) अवकाश पाते है, वे उदर [-भरण] का उपाय करते हैं। हे संतो, वे आत्माराम को नही पहिचानते हैं; तब क्यों [कर] वे राम राय मे

रमेंगे ? जिसे प्यास लगती है वही जल पीता है, और बिना [प्यास] लगे [कोई] नहीं पीता है। कोई उस [परम] तत्त्व को खोजता है, तभी वह अविनाशी मिलता है, और बिना खोजे वह नहीं जीता है। कबीर कहता है, [प्रेमी भक्त की] यह करनी कठिन है, जैसे खड्ग की धार होती है। जो उलटी चाल कर (मूलाधार चक्र से पवन को ऊपर के चक्रों में ले जाकर) ब्रह्म को (से) मिलता, है वह मेरा सद्गुरु है।

रे मन बैठि कितै जिनि जासी।
हिरदै सरोवर है अविनासी ॥टेक॥
काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी।
काया मधे कवलापती, काया मधे बैकुंठवासी ॥
उलटि पवन षटचक्र निवासी, तीरथराज गंगतट वासी।
गगन मंडल रवि ससि दोइ तारा। उलटी कूंची लागि किवारा ॥
कहै कबीर भई उजियारी, पंच मारि एक रह्यो निनारी ॥१९॥

अर्थ—रे मन, बैठ, तू कहीं भी न जा; अविनाशी तो हृदय-सरोवर में है। काया में ही कोटि तीर्थ हैं, काया ही में काशी है, काया ही में कमलापति और बैकुंठवासी (हरि) हैं। यदि तुम पवन (प्राणों) को [विपरीत करणी-मुद्रा के द्वारा] उलटे चला कर षट्चक्रों में निवासी हुए, तो फिर तीर्थराज में गंगा तट के निवासी [हो गए]। गगन-मंडल (शून्य : ब्रह्मरंध्र) में रवि तथा शशि—दो तारे (दो नाड़ियाँ) हैं, और इन [के कपाटों] की कुंजी उलट कर कपाटों में ही लगी हुई है। कबीर कहता है कि [इनका] प्रकाश हो गया तो [उसकी सहायता से] पंच [विकारों—काम, क्रोध, मद, मोह तथा मात्सर्य] को मार कर वहाँ पर एक (आत्मा) ही रह गया।

रांम बिन जन्म मरन भयौ भारी।
साधिक सिध सूर अरु सुरपति, भ्रमत भ्रमत गये हारी ॥टेक॥
ब्यंद भाव भ्रिग तत जंत्रक, सकल सुख सुखकारी।
श्रवत(स्रवत) सुन्य रवि ससि सिव सिव, पलक पुरिख पल नारी ॥
अंतर गगन होत अंतर धुनि, बिन सासनि है सोई।
घोरत सबद समंगल सब घट, ब्यंदत ब्यंदै कोई ॥
पांणीं पवन अवनि नभि पावक, तिन संगि सदा बसेरा।
कहै कबीर मन मन करि बेध्या, बहुरि न कीया फेरा ॥२०॥

अर्थ—राम [की भक्ति] के बिना [मनुष्य का] जन्म (जीवन) भारी मरण हो गया है। साधक, सिद्ध, सूर्य, और इंद्र [तक] सभी भटकते-भटकते हार (थक) गए। भाव को जानो, तदनंतर उस [भाव] के यंत्रक (नियंत्रक) भृंग (आत्म-तत्त्व ?) को जानो, तब समस्त सुख [वास्तविक रूप में] सुखकारी होते हैं। शून्य (ब्रह्मरंध्र) में रवि (सूर्य नाड़ी) और शशि (चंद्र नाड़ी) तथा शिव (सुषुम्ना) प्रवाहित होती रहती हैं, जिससे एक पल में पुरुष (पुरुषत्व) और

[दूसरे] पल में नारी (नारीत्व) [की अनुभूति होती रहती है]। गगन (शून्य : सहस्रार) में अन्तर्ध्वनि होती रहती है, जो बिना शासन (आघात) के (अनाहत) होती है। समस्त घट में समग्र (अखंड) शब्द घोरता (घुमड़ता) रहता है, जिसे कोई जानते-जानते जान पाता है। वहां पर पंच तत्त्वों—पानी, पवन, अवनी, नभ और पावक—का इनके साथ सदैव बसेरा (निवास) रहता है। कबीर कहता है, [अपने] मन को मैंने उस [परम] मन से जब से विद्ध किया है, तब से पुनः [जगत् में] फेरा नहीं किया है।

नर देही बहुरि न पाइये।
ताथैं हरषि हरषि गुंण गाइये ।।टेक।।

जे मन नहीं तजै विकारा। तौ क्यूं तिरिये भौ पारा ।।
जब मन छाड़ै कुटिलाई। तब आइ मिलै रांम राई ।।
ज्यूं जांमण त्यूं मरनां। पछितावा कछू न करनां ।।
जांनि मरै जे कोई। तौ बहुरि न मरनां होई ।।
गुरु बचनां मंझि समावै। तब रांम नांम ल्यौ लावै ।।
जब रांम नांम ल्यौ लागा। तब भ्रम गया भौ भागा ।।
ससिहर सूर मिलावा। तब अनहद बेन बजावा ।।
जब अनहद बाजा बाजै। तब सांई संगि बिराजै ।।
होह संत जनन के संगी। मन राचि रह्यौ हरि रंगी ।।
धरौ चरन कवल बिसवासा। ज्यूं होइ निरभै पद वासा ।।
यहु काचा खेल न होई। जन खरतर खेलै कोई ।।
जब खरतर खेल मचावा। तब गगन मंडल मठ छावा ।।
चित चंचल निहचल कीजै। तब रांम रसांइन पीजै ।।
जब रांम रसांइन पीया। तब काल मिटया जन जीया ।।
यूं दास कबीरा गावै। ताथैं मन कौं मन समझावै ।।
मन हीं मन समझाया। तब सतगुर मिलि सचु पाया ।।२१।।

अर्थ—मानव देह पुनः नही पाया जाता (मिलता) है, इससे हर्षित हो-होकर [राम का] गुण-गान कीजिए। यदि मन [पंच] विकारों (काम, क्रोध, मोह, मद तथा मात्सर्य) को नही छोडता है, तब किस प्रकार भव [-जल] को तिरा जा सकता है? जब मन कुटिलता छोड़ देता है, तब रामराय [स्वत.] आकर उसे मिल जाते हैं। जैसे जन्म लेना होता है, वैसे ही मरना भी होता है, इसलिए [मरने के लिए] पछतावा कुछ भी न करना चाहिए। यदि कोई जान कर (ज्ञानपूर्वक) मरता है, तो उसे पुनः मरना नहीं होता है। गुरु के वचनों में कोई समा जाए, तब वह राम-नाम में लय लगा सकता है। जब राम-नाम मे लय लग जाता है, तब भव का भ्रम भाग जाता है। जब शशधर (चंद्र नाड़ी) और सूर्य (सूर्य नाड़ी) को मिला

लिया, तब अनाहत वेणु बजाया। जब अनाहत वाद्य बजने लगा, तब [साधक] स्वामी के साथ शोभित हुआ। तुम संत जनों का संग करने वाले हो, और मन को हरि के रंग में राचे (अनुरक्त किए) रहो। [हरि के] चरण कमलों में विश्वास रक्खो, जिस प्रकार से निर्भय पद में निवास हो। यह [कोई] कच्चा खेल नहीं है, कोई जन (सेवक) ही इस प्रखरतर खेल को खेल सकता है। जब यह प्रखरतर खेल वह मचाता है, तब वह गगन मंडल (शून्य–ब्रह्मरंध्र) में यह मठ छा लेता है। जब चंचल चित्त को निश्चल किया जाता है, तब राम-रसायन पिया जाता है। और जब [जन ने] राम-रसायन का पान कर लिया, उसके जीव से काल [का भय] मिट गया। इस प्रकार [हरि का] दास कबीर गान करता है, और इसी से वह मन को मन के द्वारा समझाता है। जब मन को उसने मन के द्वारा समझाया, तब सद्गुरु से मिलकर उसने सच (सुख) पाया।

अवधू अग्नि जरै कै काठ।
पूछौं पंडित जोग संन्यासी, सतगुर चीन्हूं वाट ॥टेक॥
अग्नि पवन मैं पवन कवन मैं, सबद गगन के पवनां।
निराकार प्रभु आदि निरंजन, कत रवते (रवतै) भवनां॥
उतपति जोति कवन अंधियारा, घन बादल का बरिषा।
प्रगट्यो बीज धरनि अति अधिकै, पारब्रह्म नहीं देखा॥
मरनां मरै न मरि सकै, मरनां दूरि न नेरा।
द्वादस द्वादस सनमुख देखैं, आपैं आप अकेला॥
जे बांध्या ते छछंद मुकुता, बांधनहारा बांध्या।
बांध्या मुकता मुकता बांध्या, तिहि पारब्रह्म हरि लाधा॥
जे जाता ते कौंण पठाता, रहता ते किनि राख्या।
अंमृत समांनां विष मैं जांनां, विष मैं अमृत रस चाख्या॥
कहै कबीर विचार विचारी, तिल मैं मेर समांनां।
अनेक जनम का गुर गुर करता, सतगुर तब भेटानां॥२२॥

अर्थ—ऐ अवधूत, अग्नि जलती है, या काष्ठ जलता है? यह प्रश्न मैं पंडितों, योगियों और संन्यासियों से पूछता हूं और [उसके उत्तर के लिए] सद्गुरु की बाट पहचानता रहता हूं। अग्नि पवन में समाता है, तो पवन कौन (किस) में समाता? और शब्द गगन या पवन में [किस में समाता है]? निराकार प्रभु जो आदि निरंजन है, कहां किस भवन (मन्दिर) में रमण करते हुए होता है? जब ज्योति की उत्पत्ति हो गई, तब अंधेरा कौन (कहां) है? जब घने बादल हैं, तब वर्षा में क्या [संदेह] है? धरणी में अत्यधिक बीज प्रकट हुए [तुमने देखे] हैं, तब भी तुमने परब्रह्म को नहीं देखा है? जो [वास्तविक] मरण मरता है, वह नहीं मरता है, उसके लिए मरण न दूर होता है, न निकट। वह द्वादश ही द्वादश (अनाहत चक्र-मात्र) को सम्मुख

(संतरण के साधन) के लिए (रूप मे) मैं दे रहा हू। बबूल की डाल को वंशी के रूप में लूंगा, भले ही शृगाल मुझे भूक-भूक कर खाए (काटे)। आम के मौर मे चरहल (चट्ट फल—चटनी मात्र के काम का फल) करहल (कड-फल—घासो मे लगने वाला फल) [लगे] हैं, [इसलिए] मैं निबौरी को छील-छील कर खा रहा हूं। मेरे आंगन मे [अब] द्राक्षा और दाड़िम (अनार) है, कबीर [ऐसा] समझा कर कह रहा है।

यह पद भी 'उलटवासी' का है। वंशी अवधूत का गीतादि द्वारा दिया जाने वाला उपदेश है, और उसका गायें चराना अन्य लोगों को उपदेश करना है। ताल मूलाधार चक्र है और पर्वत-शिखर सहस्रार है। वन-तित्तर तथा हरिनी आदि वन के पशु-पक्षी मनोविकार है। मत्स्य मन है, शशक चित्त है, आकाश शून्य (सहस्रार) है। ऊंट लोभ है, जो दूसरों के वृक्षादि पर मुंह मारा करता है, हस्ती संतोष है। संतरण भव-नदी का होता है। बबूल की डाल दुःख है, उसका वंशी बनाना उमसे सुख मानना है, उनको अंगीकार कर सुखों के रूप में मानना है, शृगाल लोक या समाज है। आम संसार का सुख-वृक्ष है, उसमें लगने वाले चरहल-करहल अनुपयोगी और तुच्छ परिणाम हैं। निबौरी दु.ख-फल है। द्राक्षा और दाड़िम [वास्तविक] सुख-फल है।

कहा करौं कैसैं तिरौं, भौ जल अति भारी।
तुम्ह सरनागति 'केसवा'[1], रारि (खि) राखि मुरारी ॥टेक॥
घर तजि वन खंडि जाइये, खनि खइये कंदा।
बिषै विकार न छूटई, ऐसा मन गंदा ॥
'विष बिषिया की'[2] बासनां, तजौ तजी नहीं जाई।
अनेक जतंनि करि सुरझिहूं, फुनि फुनि उरझाई ॥
'जीव अछित'[3] जोबन गया, कछू कीया न नीका।
यहु हीरा निरमोलिका, कौड़ी पर बीका ॥
कहै कबीर सुनि केसवा, तूं सकल बियापी।
'तुम्ह समांनि दाता नहीं, हम से नहीं पापी'[4] ॥२६॥

अर्थ—क्या करूं, कैसे तिरूं, भव-जल अत्यधिक विपुल है; हे केशव, [इसलिए] मै तुम्हारी शरण मे आया हुआ हू, ऐ मुरारी [मेरी] रक्षा करो, रक्षा करो। घर छोड़ कर यदि वन खंड मे जाइए और कंद [-मूल] खन-खोद कर भक्षण कीजिए, तो भी विषयों के विकार नहीं छूटते है, मन इस प्रकार गदा (मलिन) है। विषयों की वासना के विष को मैं त्यागता हूं किन्तु वह त्यागा नही जाता है। अनेक यत्न कर मै सुरझता हूं किन्तु पुनः-पुनः उलझ जाता हूं। जीव रहते हुए यौवन चला गया किन्तु कुछ भी अच्छा [कार्य] न किया; यह निर्मूल्य हीरा (मानव जीवन) कौड़ियो (तुच्छ सुखों) पर बिक गया। कबीर कहता है, हे केशव, सुनो, तुम सर्वत्र व्याप्त हो; तुम्हारे समान दानी नही है, न मेरे समान [कोई] पापी है।

पाठान्तर—पं० बिनावन ३। १. पं० में यह है 'बीठल'—विष्णु जो हिन्दी प्रदेश में कम ही प्रचलित रहा है, कबीर ने अवश्य इनका प्रयोग अन्यत्र भी किया है (यथा राज० गौड़ी ४ तथा ५ में), इसलिए इस बात की संभावना यथेष्ट है कि 'बीठल' मूल में रहा हो और उसका अधिक परिचित पर्याय 'केशव' उसके स्थान पर बाद में रक्खा गया हो।

२. पं० में यह है 'बिदै बिदै की'। पं० में अनावश्यक पुनरुक्ति ज्ञात होती है, जो राज० में नहीं है।

३. पं० में यह है 'जरा जीवन'। जीवन तो जीवन अछते (रहते) जाता ही है, इसलिए राज० त्रुटिपूर्ण लगता है; 'जरा जीवन'—जीवन जल गया (नष्ट हो गया) में यह त्रुटि नहीं है। लगता है कि 'जरा' के इस अर्थ की दुरूहता के कारण राज० परंपरा में कभी उसके स्थान पर अन्य और सुगमतर पाठ कर लिया गया।

४. पं० में यह है : तुम समसरि नाही दइआलु मोहि समसरि पापी। पं० का 'समसरि' उसके पर्याय 'समान' की अपेक्षा कम परिचित रहा है। इसलिए ऐसा लगता है कि यहां भी एक क्लिष्ट शब्द के स्थान पर राज० में एक सुगमतर शब्द रख लिया गया।

बाबा करहु कृपा जन मारगि लावो, ज्यूं भौ बंधन खूटै।
'जुरा मरन दुख फेरि करन सुख'[1], जीव जनम थैं छूटै ॥टेक॥
सतगुर चरन लागि यूं बिनऊं, जीवनि कहां थैं पाई।
'जा कारनि हम उपजैं बिनसैं'[2], क्यूं न कहौ समझाई ॥
'आसा पास खंड (डि) नहीं पाड़ै, यूं मन सुंनि न लूटै'[3]।
'आपा पर आनंद न बूझै, बिन अनभै क्यूं छूटै'[4] ॥
कह्यां न उपजै उपज्यां ही जांणैं, भाव अभाव बिहूंनां।
उदै अस्त जहां मति बुधि नांहीं, 'सहजि रांम ल्यौ लीनां'[5] ॥
ज्यू प्रतिब्यंबहि प्रतिब्यंब (?) समांनां, उदिक कुंभ बिगरांनां।
कहै कबीर जांनि भ्रम भागा, 'सींवहि जीव समांनां'[6] ॥२७॥

अर्थ—हे बाबा (पिता), कृपा करो, इस जन (सेवक) को मार्ग पर लगाओ, जिससे उसका भव-बंधन नष्ट हो, जरा-मरण के दुःख को फेर (लौटाल) दो, जिससे सुख करने के लिए जीव पुनर्जन्म से मुक्त हो। [तुम] सद्गुरु के चरणों में लग कर मैं इस प्रकार विनती करता हूं; [बताओ कि] जीवन कहां से पाया जाता (मिलता) है? जिस कारण हम उत्पन्न होते और विनष्ट होते हैं, उसे क्यों नहीं समझा कर कहते हो? मेरा मन आशा-पाश को खंडित कर फाड़ता भी नहीं है, इसलिए वह शून्य [का आनंद] नहीं लूट पाता है; आत्मा और पर (परमात्मा) के आनंद को वह नहीं जान पाता है, और बिना [उसके] अनुभव के वह [भव से] कैसे छूट सकता है? जो कथन से नहीं उत्पन्न होता है, उत्पन्न होने से ही जाना जाता है, जो भाव-अभाव से

विहीन है, उदय और अस्त की जहां (जिसके विषय में) मति-बुद्धि नहीं है, उस सहज में स्थित होकर मैं राम की लय में लीन हुआ। जिस प्रकार प्रति-बिम्ब (बिम्ब ?) में प्रतिबिम्ब समा गया हो, उदक (जल) में कुंभ विगलित हो गया हो, कबीर कहता है [उसी प्रकार] ज्ञान [के आगमन] से भ्रम भाग गया और शिव (आत्माराम) मे जीव समा गया।

पाठान्तर—पं० आसा १। १. पं० में यह है : 'जनम मरन दुख फेड करम सुख'। 'जनम' चरण में बाद में भी आता है, इसलिए पं० में अनावश्यक पुनरुक्ति है। प० का 'करम' भी संगत नही है, पाठ 'करन' ही होगा, यह प्रसंग से प्रकट है।

२. पं० में यह है : 'कवन काजि जगु उपजै बिनसै'। राज० का 'हम उपजैं बिनसैं' उतना संगत नही लगता है जितना पं० का 'जग उपजै बिनसै', क्योंकि हम मरते है, विनष्ट नही होते हैं, विनष्ट जगत् होता है।

३. पं० मे इसके स्थान पर है : 'माइआ फास बंध नही फारै अरु मन सुनि न लूकै'। 'पाडै' तथा 'फारै' में भेद भाषा-मात्र का है। 'आसा' और 'माइआ' भी समान रूप मे संगत हैं, किन्तु राज० के 'खंडित करके फाड़ने' में एक प्रकार से पुनरुक्ति है, जो पं० मे नही है। राज० का शून्य का 'लूटना' निरर्थक लगता है, शून्य में लूक् : लुक्क् : विलीन होना ही सार्थक है।

४. पं० में यह है : 'आपा पदु निरवाणु न चीन्हिआ इन बिधि अभिउ न चूके'। दोनों संगत लगते हैं।

५. पं० मे यह है : 'सदा सहजि लिव लीणा'। दोनो संगत लगते हैं।

६. पं० मे इसके स्थान पर है : 'तउ मनु सुंनि समाना'। दोनों पाठ संगत है, किन्तु 'सीवहि' के क्लिष्ट होने के कारण अन्य पाठ उसके स्थान पर आया हुआ प्रतीत होता है।

संतौ धोखा कासूं कहिये।
गुंण मैं निरगुण निरगुण मैं गुण है, बाट छांड़ि क्यूं बहिये ॥टेक॥
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणां जाई।
नां तिस रूप बरन नहीं जाकै, घटि घटि रह्या समाई॥
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अंति न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिये, कहैं कबीर हरि सोई ॥२८॥

अर्थ—हे संतो, यह धोखा किससे कहा जाए ? गुण मे निर्गुण [समाया हुआ] है, और निर्गुण मे गुण [समाया हुआ] है (निर्गुण से ही त्रिगुण की उत्पत्ति हुई है और अंत मे वह उसी में लीन होता है), मार्ग छोड़ कर क्यों वहा (भटका) जाए ? अजर-अमर (परमात्मा) का कथन सब कोई करता है, किन्तु वह अलक्ष्य कहा नहीं जाता है। उसका कोई रूप नहीं है, जिसका [कोई] वर्ण नही है, वह घट-घट (प्रत्येक शरीर) में समा रहा है। पिंड तथा ब्रह्मांड [मे उसके होने] का कथन सब-कोई करता है, किन्तु उसका न आदि है

और न अंत। पिंड तथा ब्रह्मांड को छोड़ कर (उनसे परे होने का) कथन यदि [किसी के विषय मे] किया जाए, तो कबीर कहते हैं, हरि वही है।*

अजहूं न संक्या गई तुम्हारी।
नांहि निसंक मिले बनवारी ॥टेक॥
बहुत गरब गरबे संन्यासी। ब्रह्मचरिज छूटी नहीं पासी ॥
सुद्र मलेछ बसैं मन मांहीं। आतमरांम सु चीन्ह्यां नांहीं।
संक्या डांइणि बसै सरीरा। ता कारणि रांम रमैं कबीरा ॥२९॥

अर्थ—आज भी तुम्हारी शंका नहीं गई, क्योंकि तुम निश्शंक होकर बनवारी से नहीं मिले। बहुत गर्व से संन्यासी गर्वित हैं, ब्रह्मचारियों का [काम-] पाश नहीं छूटा है। शूद्र तथा म्लेच्छ उनके मन में निवास करते हैं (वे मन से शूद्र तथा म्लेच्छ हैं), [इसलिए] उन्होंने [भी] आत्माराम को नहीं पहिचाना है। शंका की डाकिनी मन में निवास करती रहती है, इसलिए कबीर राम में रमण करता है।

सब भूले हो पाषंडि रहे।
तेरा बिरला जन कोई राम कहै ॥टेक॥
होइ अरोगि बूंटी घसि लावै, गुर बिन कैसैं भ्रमत फिरै।
है हाजिर परतीति न आवै, सो कैसैं परताप धरै ॥
ज्यूं सुख त्यूं दुख द्रिढ़ मन राखै, एकादसी इकतार करै।
द्वादसी भ्रमैं लख चौरासी, ग्रभ बास आवै सदा मरै ॥
मैं तैं तजै तजै अपमारग, चारि बरन उपरांति चढ़ै।
ते नहीं डूबै पार तिरि लंघै, निरगुण श्रगुण (त्रगुण) संग करै ॥
होइ मगन रांम रंगि राचै, आवागवन मिटै धापै।
तिनह उछाह सोक नहीं व्यापै, कहै कबीर करता आपै ॥३०॥

अर्थ—सभी भूल कर (भ्रमित हो कर) पाषंड मे पड़े हुए हैं; [हे राम,] बिरला ही कोई तेरा जन (सेवक) 'राम' कहता है। रोग-हीन वह होता है, जो [उपयुक्त] बूटी (बिटपी) घिस कर लगाता है; गुरु के बिना कोई कैसे (क्यों) भटकता फिरता है? वह सर्वत्र विद्यमान है, किन्तु यदि उसकी प्रतीति

* यहां पर स० में निम्नलिखित पद और है जो बि० में नहीं है :

पषा पषी कै पेषणैं, सब जगत भुलांनां।
निरपष होइ हरि भजै, सो सोध सयांनां ॥टेक॥
ज्यूं पर सूं पर बंधिया, यूं बंधे सब लोई।
जाकै आतम द्रिष्टि है, साचा जन सोई ॥
एक एक जिनि जाणियां, तिनहीं सच पाया।
प्रेमी प्रीति ल्यौ लीन मन, ते बहुरि न आया ॥
पूरे की पूरी द्रिष्टि, पूरा करि देखै।
कहै कबीर कछू समुझि न परई, या कछू बात अलेखै ॥२८ अ॥

नही आती है, तो कैसे उसके प्रताप की तू धारणा कर सकता है ? जैसे सुख में वैसे दुःख में, तू मन को एक-सा दृढ़ रक्खे। [इसके विपरीत] एकादशी कोई (एकतार—अनवरत रूप से) करे किन्तु द्वादशी को चौरासी लाख [योनियों] मे भ्रमे (भटके), तो वह गर्भ-वास मे सदैव आता और मरता रहेगा। कोई 'मैं-तैं' त्याग दे, अपमार्ग त्याग दे, चातुर्वर्ण्य की उपरति (उपेक्षा) पर चढ़े (आरूढ़ हो), तो वह नही डूबता है, वह तैर कर [भव नदी को] पार लांघ जाता है और निर्गुण तथा सगुण ब्रह्म का संग करता है। जो [आनंद-] मग्न हो कर राम के रंग (स्नेह) में राचता है, उसका आवागमन (जन्म-मरण) का धापना (क्लेश) मिट जाता है। उसे उत्साह तथा शोक नही व्याप्त होते हैं, और कबीर कहता है, वह स्वतः कर्ता ईश्वर है।

तेरा जन एक आध है कोई।
कांम क्रोध अरु लोभ बिवर्जित, हरिपद चीन्हैं सोई ॥टेक॥
राजस तांमस सातिग तीन्यूं, ये सब तेरी माया।
चौथे पद कौ जे जन चीन्है, तिनहि परम पद पाया॥
असतुति निंद्या आसा छांड़ै, तजै मांन अभिमांनां।
लोहा कंचन समि करि देखै, ते मूरति भगवांनां॥
च्यंतै तौ माधौ च्यंतामणि, हरि पद रमैं उदासा।
तृष्णां अरु अभिमांन रहित है, कहै कबीर सो दासा ॥३१॥

अर्थ—[हे राम,] तेरा जन (दास) एक-आध कोई ही [होता] है। काम-क्रोध और लोभ से बिवर्जित (रहित) हरिपद को वही पहिचानता है। रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण—जो तीन [गुण] हैं—ये सब तेरी माया [के] है, जो जन चौथे पद* (निस्त्रैगुण्य की स्थिति) को पहिचानते हैं, वे ही परम पद पाते हैं। स्तुति, निंदा, आशा तथा मान-अभिमान को जो छोड देते है, और जो लौह तथा कंचन को समान देखते हैं, वे [वस्तुतः] भगवान की मूर्ति हैं। जो चिंता करता है तो चिंतामणि माधव को, और [संसार से] उदासीन होकर रमण करता है तो हरिपद में, जो तृष्णा और अभिमान से रहित है, कबीर कहता है, वही [वस्तुतः] तुम्हारा दास है।

पाठान्तर—पं० केदारा १। राज० के चरण ७-८. पं० में नहीं हैं, और पं० के निम्नलिखित चरण राज० मे नहीं हैं—

तीरथ बरत नेम सुचि संजम सदा रहै निहकामा।
त्रिसना अरु माइआ भ्रमु चूका चितवत आतमरामा॥
जिह मदिर दीपकु परगासिआ अंधकारु तह नासा।
निरभउ पूरि रहे भ्रमु भागा कहि कबीर जन दासा॥

* 'चौथे पद' का अर्थ 'सायुज्य' भी लिया जा सकता है, किन्तु फिर परम पद पाने में शेष कुछ नही रह जाता है।

दोनों के इस पाठांतर का कारण क्या है, स्पष्ट नहीं है । किन्तु पं० की 'तीरथ व्रत नियम सुचि संयम' की चर्चा पद के शेषांश से मेल नहीं खाती है, जिसमें द्वन्द्वातीत और त्रिगुणातीत रहते हुए आत्म-दर्शन का उपदेश किया गया है । राज० में ऐसी कोई त्रुटि नहीं है, इसलिए वह मूल के अधिक निकट लगता है।

हरि नांमैं दिन जाइ रे जाकौ ।
सोई दिन लेखै लाइ रे ताकौ ।।टेक।।
हरि नांमैं जन जागै । ताकै गोव्यंद साथी आगै ।।
दीपक एक अभंगा । तामैं सुर नर पड़ैं पतंगा ।।
ऊंच नींच समसरिया । ताथैं जन कबीर निसतरिया ।।३२।।

अर्थ—जिसका जो दिन हरि-नाम [के स्मरण] में जाता है, उसका वही दिन लेखे मे लगाओ (उसके उसी दिन की गणना करो) । जो [हरि का] जन हरि-नाम [के स्मरण] में जागता है, गोविन्द उसके साथी के रूप में उसके (समक्ष) रहते हैं । एक अभंग (नष्ट न होने वाला) दीपक है, सुर-नर सभी उसमें पतिंगे (पतंग) बन कर पड़ते हैं । कबीर ने ऊंच-नीच [के भेद] को [दूर कर दोनों को] समसरि (समान) कर दिया, इसलिए [हरि का] जन कबीर [भव-सागर से] निस्तार पा गया ।

पद मे कहा गया 'अभंग दीपक' माया का है—

माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि इवै पड़ंत । (१.२०)

जब थैं आतम तत विचारा ।
तब निरबैर भया सबहिन थैं, कांम क्रोध गहि डारा ।।टेक।।
व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै, को पंडित को जोगी ।
रांणां रंक कवन सूं कहिये, कवन बैद को रोगी ।।
इनमैं आप आप सबहिन मैं, आप आपसूं खेलै ।
नांनां भांति घड़े सब भांडे, रूप धरे धरि मेलै ।।
सोचि विचारि सबै जग देख्या, निरगुण कोई न बतावै ।
कहै कबीर गुंणीं अरु पंडित, मिलि लीला जस गावै ।।३३।।

अर्थ—जब से मैंने आत्म-तत्त्व का विचार किया, तब [से] मैं सभी से निर्वैर हो गया, और मैंने काम-क्रोध को पकड़ कर निकाल दिया । [संसार में] व्याप्त होने वाला ब्रह्म सभी में एक ही है, फिर कौन पंडित है और कौन जोगी है ? राणा या रंक किस से (को) कहा जाए, और वैद्य कौन है तथा रोगी कौन है ? इनमें आत्मा है, और [वह] आत्मा सभी में है, वह आत्मा आत्मा (परमात्मा) से खेलता है, नाना प्रकार के समस्त भांड जो गढ़े जाते हैं, उनमें वह रूप [भिन्न-भिन्न] रख (धारण) कर उन्हें रख देता है । मैंने सोच-विचार कर समस्त जगत् को देखा, निर्गुण [ब्रह्म] को कोई नहीं बताता है । कबीर कहता है, गुणी और पंडित सभी मिल कर [सगुण की] लीला का यश गाते हैं ।

तूं माया रघुनाथ की, खेलण चढ़ी अहेड़ै।
चतुर छिकारे चुणि चुणि मारे, कोई न छोड़या वोलै ॥टेक॥
मुनिजन पीर डिगंबर मारे, जतन करंता जोगी।
जंगल महि के जंगम मारे, तूं र फिरै बलिवंती॥
बेद पढ़ंतां ब्राह्मण मारा, सेवा करतां स्वामीं।
अरथ करंता मिसर पछाड़्या, तूं र फिरै मैमंती॥
साषित कै तूं हरता करता, हरि भगतन कै चेरी।
दास कबीर रांम कै सरनैं, ज्यूं लागी त्यूं तोरी॥३४॥

अर्थ—तू रघुनाथ (राम) की माया आखेट खेलने चढ़ी, तो तूने चतुर चिकारों (मृगों) को चुन-चुन कर मारा और किसी को आड़ में [भी] न छोड़ा। तू ने मुनियों, पीरों और दिगंबरों को मारा है, और यत्न (योग) करते योगियों को मारा है। तू ने जंगल में के जंगमों को मारा है और तू बलवती फिर रही है। वेद पढते हुए ब्राह्मणों को तूने मारा है, और सेवा करते (कराते) हुए स्वामियों को। [शास्त्रों का] अर्थ करते हुए मिश्रों (पंडितों) को तूने पीछे कर दिया है, और तू मदमत्त फिरती है! शाक्तों के यहां तू हर्त्ता-कर्त्ता है, और हरि-भक्तों के यहां तू चेरी (चेटिका—सेविका) है। [किन्तु] मैं दास कबीर राम की शरण मे हूं, जैसे ही तू मुझ से लगा, वैसे ही मैंने तुझे तोड़ा।

चतुर चिकारे ज्ञानी जन है।

जग सूं प्रीति न कीजिये, समझि मन मेरा।
स्वाद हेत लपटाइए, को निकसै सूरा ॥टेक॥
एक कनक अरु कामनीं, जग मैं दोइ फंदा।
इनपै जो न बंधावई, ताका मैं बंदा॥
देह धरें इन मैं बास, कहु कैसैं छूटै।
सीव भये ते ऊबरे, जीव ते लूटे॥
एक एक सूं मिलि रह्या, तिनहीं सचु पाया।
प्रेम मगन लै लीन मन, सो बहुरि न आया॥
कहै कबीर निहचल भया, निरभै पद पाया।
संसा ता दिन का गया, सतगुरि समझाया॥३५॥*

* यहां पर स० में निम्नलिखित पद और है जो वि० में नही है :

रांम मोहि सतगुर मिलै अनेक कलानिधि, परम तत सुखदाई।
कांम अग्नि तन जरत रही है, हरि रसि छिरकि बुझाई ॥टेक॥
दरस परस तैं दुरमति नासी, दीन रटनि ल्यौ आई।
पाषंड भरंम कपाट खोलि कै, अनभै कथा सुनाई॥
यहु संसार गंभीर अधिक जल, को गहि लावै तीरा।
नाव जिहाज खेवइया साधू, उतरे दास कबीरा ॥३५अ॥

अर्थ—हे मेरे मन, तू समझ ले, जगत् से प्रीति नहीं की जानी चाहिए। यदि स्वाद के लिए उसमें लिपटा जाए, तो कौन शूर उससे निकल सकता है? एक कनक और दूसरा कामिनी. जगत् में ये दो फंदे हैं; जो इनसे अपने को न बंधाए, उसका मैं बंदा (दास) हूं। देह धारण करने पर यदि इनमें निवास हो तो कहो कैसे छूटा जा सकता है? जो शिव (आनंद-स्वरूप) हुए, वे ही इनसे उबरे (बचे) हैं, और जो भी जीव कोटि में रहे, उनको इन्होंने लूटा है। [जिनका] एक (आत्मा) एक (परमात्मा) से मिल रहा, उन्होंने ही सच (सुख) पाया है, और जो प्रेम-मग्न हुआ है और जिसने तनु को [परमात्मा में] लय-लीन कर दिया है, वही पुन: [इस जगत् में] नहीं आया है। कबीर कहता है कि वह निश्चल हो गया है और उसने निर्भय पद प्राप्त कर लिया है। उस (पहले के) दिन का उसका संशय [तब से] चला गया है जब से उसे सद्गुरु ने समझा दिया है।

दिन दहुं चहुं कैं कारणैं, जैसैं सैंबल फूले।
झूठी सूं प्रीति लगाइ करि, साचे कूं भूले ॥टेक॥
जो रस गा सो परहर्‌या, विड़राता प्यारे।
आसति कहूं न देखिहौ, विन नांउं तुम्हारे ॥
साची सगाई रांम की, सुनि आतम मेरे।
नरकि पड़ें नर वापड़े, गाहक जम तेरे ॥
हंस उड़्या चित चालिया, सगपन कछू नांहीं।
माटीं सूं माटी मेलि करि, पीछैं अनखांहीं ॥
कहै कबीर जग अंधला, कोई जन सारा।
जिनि हरि मरम न जांणिया, तिनि कीया पसारा ॥३६॥

अर्थ—चार ही दिनों के लिए जैसे सेंवल (शाल्मली) फूलता है, [हम भी] झूठी [माया] से प्रीति लगा कर सच्चे [स्वामी] को भूल गए! जो [जागतिक] रस गया, उसको, ऐ प्यारे, मैंने विड़राता (फैलता) छोड़ दिया; तुम्हारे नाम के अतिरिक्त अब आसक्ति से कहीं न देखूँगा। ऐ मेरे आत्मा, सुन, सच्ची सगाई (स्वकीयता) राम की है। [जिनसे तू सगाई मानता है], वे बेचारे नर तो नर्क में पड़ते हैं, और [तदनंतर] तेरे ग्राहक यम [रह जाते] हैं। जैसे ही हंस (जीव) उड़ा, मनुष्यों का चित्त तुमसे हटा, और कुछ भी सगाई (स्वकीयता) नहीं है; मिट्टी से [तेरी] मिट्टी मिला कर पीछे वे तुझ से अनख (रोष) करते हैं। कबीर कहता है कि संसार अंधा है, कोई [हरि-] जन ही सारा (दृष्टि-दोष से मुक्त) है। जिन्होंने हरि का मर्म नहीं जाना है, उन्होंने ही [सांसारिक संबंधों का] पसारा (प्रसार) किया है।

माधौ मैं ऐसा अपराधी।
'तेरी भगति हेत नहीं साधी'[1] ॥टेक॥
कारनि कवन आइ जग जनम्यां, जनमि कवन 'सचु'[2] पाया।
भौ जल तिरण चरण च्यंतामणि, ता चित 'घड़ी'[3] न लाया ॥

पर निंद्या पर धन पर दारा, पर अपवादें सूरा।
ताथैं आवागमन होइ फुनि फुनि, ता पर संग न चूरा॥
कांम क्रोध माया मद मछर, ए 'संतति'[४] हंम मांहीं।
दया ध्रम ग्यांन गुर सेवा, ए प्रभू सुपिनैं नांहीं॥
तुम्ह कृपाल दयाल दमोदर, भगत वछल भौ हारी।
कहै कबीर 'धीर मति'[५] राखहु, 'सासति करहु'[६] हमारी॥३७॥

अर्थ—ऐ माधव, मैं ऐसा अपराधी हूं कि तेरी हेतु-भक्ति (प्रेमा भक्ति) मैने नहीं साधी। किस कारण (क्यों) मैंने जगत् में आकर जन्म लिया और जन्म लेकर भी कौन सा सच (सुख) पाया, यदि मैंने भव-जल से तिरने के लिए [तुम्हारे] जो चरण-चिन्तामणि है, उन में चित्त को घड़ी भर भी न लगाया? पर-निंदा पर-धन, पर-दारा और पर-अपवाद में मैं शूर हूं! इससे [संसार में] अवागमन पुन-पुनः होता है, तिस पर भी मैंने [इनका] संग न तोड़ा (छोड़ा)। काम, क्रोध, माया, मद, मत्सर ये हम में सतत (सदैव) [रहते] है; दया धर्म, ज्ञान, गुरु-सेवा, ऐ प्रभु, ये स्वप्न में भी हममें नहीं [रहते] है। [हे प्रभु,] तुम कृपालु और दयालु दामोदर हो, भक्त-वत्सल और भव-हारी हो। कबीर कहता है, [मेरी] मति को धीर रक्खो, और मेरी शास्ति करो (मुझे सुधारो)।

पाठान्तर—पं० रामकली ८। १. पं० में यह है: 'जिनि प्रभु जीउ पिंडु था दीआ तिसकी भाउ भगति नही साधी'। पं० अधिक पूर्ण है किन्तु उसके 'जीउ पिंडु था दीआ' का 'था' असंभव है। राज० का 'भगति हेत': हेत भक्ति —प्रेमा भक्ति है और पं० का 'भाउ भगति' भी वही है।

२. पं० में यह 'फल' है। ऐसा ज्ञात होता है कि 'सचु'—सुख मूल क्लिष्ट पाठ था, जिसके स्थान पर कभी पं० परंपरा में सरलतर पाठ 'फल' रक्खा गया।

३. पं० में यह 'निमख' है जो प्रयोग में कम आता है, और क्लिष्ट भी है। एक निमेष (पल) भी चरणों में चित्त को न लगाया, जितना संगत है, एक घड़ी नही लगाया उतना संगत भी नहीं है, यह स्पष्ट है। 'घड़ी' अतः उसके स्थान पर एक सरल पर्याय के रूप में बाद में रक्खा गया लगता है।

४. पं० में 'संतति' के स्थान पर 'संपै' है। 'संतति': सतत की संगति प्रकट है; संपै<संपत्ति उतना संगत नही लगता है, क्योंकि उसका कोई प्रसंग नहीं है।

५-६. 'धीर मति' के स्थान पर पं० में 'भीर जन' है और 'सासति करहु हमारी' के स्थान पर 'सेवा करउ (उं) तुम्हारी' है। 'धीर मति' तथा 'भीर जन' दोनों अपने-अपने अर्थो में संगत है। किन्तु राज० का 'सासति (-सुधार) करहु हमारी' पं० के 'सेवा करउ तुम्हारी' की तुलना में अधिक संदर्भ-सापेक्ष्य और क्लिष्ट है, इसलिए पं० का पाठ उसके सरल स्थानापन्न के रूप में रक्खा गया लगता है।

रांम राइ कासनि करौं पुकारा।
ऐसे तुम्ह साहिव जाननिहारा ॥टेक॥
इंद्री सवल निवल मैं माधौ, वहुत करैं वरियाई।
लै धरि जांहि तहां दुख पइये, वुधि वल कछू न वसाई॥
मैं वपरौ का अलप मूंढ़ मति, कहा भयौ जे लूटे।
मुनिजन जती सिध अरु साधिक, तेऊ न यापैं छूटे॥
जोगी जती तपी संन्यासी, अह निसि खोजैं काया।
मैं मेरी करि वहुत विगूते, विषै वाघि जग खाया॥
ऐक त छांड़ि जांहि घर घरनी, तिन भी वहुत उपाया।
कहै कवीर कछू समझि न परई, विषम तुम्हारी माया॥३८॥

अर्थ—हे रामराय, मैं किससे पुकार करूं जवकि तुम ऐसे जानने वाले स्वामी हो। हे माधव, इद्रियाँ सवल हैं, और मैं निर्वल हूं, वे वहुत वरियाई (वलिष्ठता) करती हैं। जहां वे पकड़ कर मुझे ले जाती हैं, वहां दुःख पाया जाता (मिलता) है, और वुद्धि-वल का वश उनसे कुछ भी नही चलता है। मैं वेचारा [उनके समक्ष] क्या हूं, जो अल्प (तनिक-सा) और मूढ़-मति हूं? क्या हुआ (कौन-सा आश्चर्य) यदि उन्होंने मुझे लूट लिया, जवकि मुनिजन, यती, सिद्ध और साधक जो [हुए] है, वे भी इनसे न छूट सके? योगी, यती, तपी तथा संन्यासी जो दिन-रात काया को खोजते रहते है, वे भी 'मैं' 'मेरी' कर वहुत विगुप्त (वर्वाद) हुए और जगत् में विषय-व्याघ्र द्वारा खाए गए। एक (कुछ) गृह और गृहणी को छोड़ कर चले जाते है, किन्तु उन्होंने भी वहुत-सा [विषय] उत्पादित किया है। कवीर कहता है, कुछ समझ नही पड़ता है, [क्योंकि] तुम्हारी माया विषम है।

माधौ चले चलै (?) वुनांवन माहा।
'जग जीतें'[1] जाइ जुलाहा ॥टेक॥
नव गज दस गज 'गज उगनीसा'[2], पुरिया एक तनाई।
सात सूत दे 'गंड'[3] वहतरि, पाट लगी अधिकाई॥
तुलह न तोली 'गजह न मापी'[4], पहजन सेर अढ़ाई।
'अढ़ाई मैं जे पाव घटै तो, करकस करै वजहाई'[5]॥
'दिन की वैठि खसम सूं कीजै, अरज (अरथ) लगी तहां ही'[6]।
'भागी पुरिया घर ही छाड़ी'[7], चले जुलाह रिसाई॥
छोछी नली कांमि नहीं आवै, 'लपटि'[8] रही उरझाई।
'छांड़ि पसारो रांम कहि वौरे'[9], कहै कवीर समझाई॥३९॥

अर्थ—हे माधव जव माया* मुझसे [वस्त्र] वुनाने को चली [और इस

* 'माया' के मानवीकरण के कारण उसके नाम की 'या' की ध्वनि 'हा' में परिवर्तित हो गई है। पं० में संवोधन का 'ओ' भी उसमें जुड़ गया है।

प्रकार उसने मुझे जीविका के धन्धे में लगाया,] तो मुझ जुलाहे को जगत् जीतता जा रहा था। मैंने नौ गज [पुनः] दस गज [और इस प्रकार] उन्नीस गज की एक पुरिया (पुटी : साड़ी) तनाई। सात सूतों के वहत्तर गंडे मैंने दिए, पाटा भी उसमें वहुतायत से लगा। [तैयार होने पर उस पुटी को] तौल में मैंने नहीं तोला, गजों में नहीं मापा, किन्तु पहजन (पवज्जण : प्रपदन—स्वीकार करने या मानने को) वह ढाई सेर की थी, [क्योंकि] ढाई सेर में वह पाव भर भी कम होती तो वह कर्कशा (माया) वजहाई (वज्राघात) करती। दिन की विष्टि (जीविका) उसने स्वामी (जीव) के साथ की, किन्तु वहां वह अरथ (अरत : उच्चाटयुक्त) ही लगी हुई थी। फिर वह उस पुटी को घर पर ही छोड़ कर भाग निकली और जुलाहा क्रुद्ध होकर [उसकी खोज में] चल पड़ा। अब उसकी नली छूछी (खाली) थी और काम नही आ रही थी, वह लिपट कर उलझ रही थी। कबीर समझा कर कहता है, यह पसारा (धन्धा) छोड़ कर तू, ऐ वावले, 'राम' कह (राम का स्मरण कर)।

नौ गज नव द्वार है। दस गज पांच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रवण, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका)+पाँच कर्मेन्द्रियां (हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ) हैं। 'उन्नीस' नव द्वार+दशेन्द्रियां है। सात सूत शरीर की सप्त धातुएँ हैं। वहत्तर गंडा (७२×५=३६०) शरीर की नाड़ियां हैं। ताने की जो मँजाई की जाती है उसे 'पाटा' कहते है, अतः वहुतायत से पाटा लगाने का आशय कार्य के साथ विशेष परिश्रम करना है।

कबीर ने अनेक पदों में अपने धंधे में समय नष्ट न कर हरि-भक्ति करने का संकल्प व्यक्त किया है, क्योंकि किसी भी धंधे में लगने पर मनुष्य उसी के फेर में पड़ा रह जाता है और जिस कार्य के लिए वह मानव-जीवन प्राप्त कर संसार में आता है, वह वहुत कुछ ज्यों का त्यों पड़ा रह जाता है।

पाठान्तर—पं० गउड़ी-५४। १. पं० में वह है 'घर छोड़िअै'। राज० के 'जगत् जुलाहे को जीते जा रहा था' में जो ध्वनि है, 'घर छोड़अै जाइ जुलाहा' में उससे उलटी ध्वनि ली जा सकती है। अपेक्षित ध्वनि राज० की है, किन्तु उस ध्वनि को पकड़ना कठिन था, लगता है कि इसीलिए 'घर छोड़िअै' पाठ उसके स्थान पर आ गया।

२. राज० का गज 'उगनीसा' पूर्ववर्ती 'नव गज' तथा 'दस गज' के योग से होता है, पं० के 'गज इकीसा' की संगति स्पष्ट नही है।

३. राज० का 'गंड' : गंडा सार्थक है। पं० का 'खड' वस्त्र के प्रसंग मे सार्थक नही लगता है।

४. पं० में यह है 'गजी न मिनीअै'। राज० का 'गजह न मापी' भी वही है, किन्तु पं० के गजी<गजि—गज के द्वारा तथा मिन्—माप् में भाषा का प्राचीनतर रूप सुरक्षित है, इसलिए वह मूल का लगता है।

५. पं० मे यह है : 'जौ करि पाचनु वेगि न पावै अगरु करै घरहाई'। राज० पाठ की सार्थकता प्रकट है, पं० की वैसी स्पष्ट नहीं है, उसके 'पाचनु' और 'घरहाई' के आशय स्पष्ट नहीं हैं और वे 'पहजन' और 'बजहाई' की विकृतियां प्रतीत होते हैं। 'वेगि न पावै' की संगति भी संदिग्ध है।

६. पं० में यह है : 'दिन की वैठ खसम की वरकम इह वेला कत आई'। राज० की संगति स्पष्ट है। पं० की संगति स्पष्ट नहीं है।

७. पं० मे यह है : 'छूटे कुंदे भीगै पुरीआ'। इसकी संगति भी स्पष्ट नही है, राज० की स्पष्ट है।

८. पं० मे यह है : 'नतर'—नही तो। इसकी संगति भी स्पष्ट नहीं है, राज० की स्पष्ट है।

९. पं० में यह है : 'छोडि पसारु ईहा रहु वपुरी'—धंधे का पसारा छोड़ कर तू बेचारी यहां रह। पं० के 'वपुरी' की संगति संदिग्ध लगती है, राज० की स्पष्ट है।

बाजै जंत्र बजावै गुंनीं।
राम नांम बिन भूली दुनी ॥टेक॥
रजगुन सतगुन तमगुन तीन। पंच तत्त ले साज्या वीन॥
तीनि लोक पूरा पेखनां। नांच नचावै एकै जनां॥
कहै कबीर संसा करि दूरि। त्रिभवन नाथ रह्या भरपूरि ॥४०॥

अर्थ—एक वाद्य-यंत्र बजता है और गुणी उसको बजाता है; राम नाम के बिना [उसके संगीत में] दुनिया भूली हुई है। रजोगुण, सतोगुण, तमोगुण—त्रिगुण तथा पंचतत्वों को लेकर वह वीणा साजी हुई है। पूरा तीन लोक [कठपुतली का] प्रेक्षण (खेल) है, और उसको एक ही जन (सूत्रधार) नचा रहा है। कबीर कहता है, संशय दूर करो, त्रिभुवननाथ [इस समस्त प्रेक्षण में] भरित-पूरित (व्याप्त) हो रहा है।

यह वाद्य-यंत्र शरीर है, उसको बजाने वाला गुणी ईश्वर है। प्रेक्षण संसार है, उसको संचालित करने वाला ईश्वर है।

जंत्री जंत्र अनूपम बाजै।
ताका सबद गगन मैं गाजै ॥टेक॥
सुर की नालि सुरति का तूंबा, सतगुरि साज बनाया।
सुर नर गण गंध्रप ब्रह्मादिक, गुर बिन तिनहूं न पाया॥
जिभ्या तांति नासिका करही, माया का मैंण लगाया।
गमां बतीस मोरणां पांचौं, नीका साज बनाया॥
जंत्री जंत्र तजै नहीं बाजै, तब बाजै जब बावै।
कहै कबीर सोई जन साचा, जंत्री सूं प्रीति लगावै ॥४१॥

अर्थ—यंत्री (वादक) का अनुपम यंत्र बजता है और उसका शब्द आकाश में [भी] गर्जना (गूंजता) है। स्वरों की नली और सुरति के

तूंबे को लेकर [इस यंत्र की] सज्जा सद्‌गुरु ने की है। सुर, नर, गण, गन्धर्व, ब्रह्मादि जो है, उस गुरु के विना [इस यंत्र को] उन्होंने भी नहीं पाया है। इसमें जिह्वा की तांत, नासिका की करही (यंत्र का अंग-विशेष) और माया की मोम लगाई हुई है। इसमें वत्तीस ग्राम तथा पांचों मोरणां (मूर्च्छनाएं) है, इस प्रकार एक अच्छा साज वनाया हुआ है। जब यंत्री (वादक) यंत्र को छोड़ देता है, यह नही वजता है; यह तभी वजता है, जब यंत्री (वादक) इसे बजाता है। कबीर कहता है, [इसलिए] वही जन सच्चा है जो यंत्र से प्रीति न लगा कर यंत्री (वादक) से प्रीति लगाता है।

यंत्री आत्मा है, और यंत्र प्राणी का शरीर है। स्वर नासिका से लिया जाने वाला श्वास है, जो इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों के वल के अनुसार वदलता रहता है। सुरति स्मृति (ईश्वर-स्मरण) है। वत्तीस ग्राम पुरुष के वत्तीस शुभ लक्षण हैं—यथा: कुंवर बत्तीसौ लक्खन राता। (पद्मावत १६३·५)

कुंअर वत्तीसौ लक्खना सहस करां जस भान। (वही २७३·८)

पंच मूर्च्छनाएँ पंचतन्मात्राएं है।

अवधू नादैं ब्यंद गगन गाजै, सबद अनाहद बोलै।
अंतरि गति नहीं देखै नेड़ा, ढूंढत बन बन डोलै ॥टेक॥
सालिगरांम तजौं, सिव पूजौं, सिर ब्रह्मा का काटौं।
सायर फोड़ि नीर मुकलाऊं, कूवा सिला दे पाटूं ॥
चंद सूर दोइ तूंबा करिहूं, चित चेतनि की डांडी।
सुषमन तंती बाजण लागी, इहि बिधि त्रिशनां (त्रिस्नां) खांडी ॥
परम तत्त आधारी मेरे, सिव नगरी घर मेरा।
कालहि खंडूं मीच बिहंडूं, बहुरि न करिहूं फेरा ॥
जपूं न जाप हतूं (हुनूं?) नहीं गूगल, पुस्तक लेइ न पढ़ाऊं।
कहै कबीर परम पद पाया, नहीं आऊं नहीं जाऊं ॥४२॥

अर्थ—अवधूत, नाद को जान, गगन (शून्य—ब्रह्मरंध्र) गर्जन कर रहा है और अनाहत शब्द बोल (हो) रहा है। तू निकट की अन्तर्गति (अपने भीतर की गति) को नही देखता है, और ढूढ़ता हुआ वन-वन डोल रहा है। मैं शालिग्राम को त्याग रहा हूं, और शिव को पूज रहा हूं, ब्रह्मा का सिर काट रहा हूं। मैं सागर को छोड़ कर उसके जल को मुक्त कर रहा हूं, और कुएं को शिला देकर पाट रहा हूं। चंद्र और सूर्य [नाड़ियो] के मैं दो तूवे करूंगा और चेतन चित्त की डंडी करूंगा। सुषुम्णां की तंत्री [अव] बजने लगी है, और मैंने तृष्णा खंडित कर दी है। परम तत्त्व की मेरे पास अधारी है, शिव की नगरी में मेरा घर है। मै काल को खंडित (टुकड़े-टुकड़े) कर रहा हूं और मृत्यु को विखंडित (सूक्ष्म टुकड़ों में खंडित) कर रहा हूं, क्योंकि मैं पुनः इस संसार का फेरा (चक्कर) नहीं कर रहा हूं। न मैं किसी मंत्र का जप करता हूं, न गूगल हुनता (अग्नि में डालता) हूं, और न कोई पुस्तक लेकर पढ़ाता

हूं। कबीर कहता है, मैंने परम पद प्राप्त कर लिया है, अब मैं [संसार मे] न आ रहा हूं, न [उससे] जा रहा हूं।

शालिग्राम प्रतीकोपासना है, शिव आनंद तत्त्व है, ब्रह्मा पुस्तक-ज्ञान है, सागर मूलाधार चक्र है, कूप ब्रह्मरंध्र है, जिसमे झरने वाले अमृत को संचित करने के लिए उसे मुद्रित किया जाता है।

बाबा पेड़ छाड़ि सब डाली लागे, मूढ़े जंत्र अभागे।
सोइ सोइ सब रैणि विहांणी, भोर भयो तब जागे ॥टेक॥
देवलि जांऊं तौ देवी देखूं, तीरथि जांऊं त पांणी।
ओछी बुधि अगोचर बांणी, नहीं परम गति जांणीं ॥
साध पुकारैं समझत नांही, आंन जन्म के सूते।
बांधे ज्यूं अरहट की टीडरिया, आवत जात बिगूते ॥
गुर बिन इहि जगि कौंन भरोसा, काकै संगि ह्वै रहिये।
गनिका कै घरि बेटा जाया, पिता नांउं किस कहिये ॥
कहै कबीर यहु चित्र बिरोध्या, बूझौ अंमृत बांणी।
खोजत खोजत सतगुर पाया, रहि गई आवण जांणीं ॥४३॥

अर्थ—ऐ पिता, सब पेड़ को छोड़ कर उसकी डालों से लगे है और ये अभागे [यंत्री को छोड कर] यंत्र पर मुग्ध हैं। सो-सोकर सब रजनी उन्होंने विहाई (समाप्त कर दी) और जब प्रभात हुआ तब वे जागे! किसी देवल (देवकुल—देवालय) में जाता हूं, तो देवी को देखता हूं और किसी तीर्थ मे जाता हूं, तो पानी को देखता हूं; ओछी (तुच्छ) बुद्धि और न पहुच पाने वाली वाणी से उन्होंने परमगति को नही जाना। साधु पुकारते है, किन्तु वे समझते नही हैं, क्योंकि अन्य (पूर्व के) जन्मो के सोये हुए हैं, रहट (अरघट्ट) की टीडरी (घटिका ?) के समान [ससार मे] आते-जाते अपने को उन्होंने विगुत (बर्बाद) किया है। गुरु के बिना इस जगत् मे कौन-सा भरोसा है, जिसके संग होकर रहा जा सकता है ? गणिका के घर यदि पुत्र उत्पन्न हुआ, तो उसके पिता के नाम पर किसे कहा जाए ? कबीर कहता है, इस चित्र (संसार) का विरोध (अवरोध) कर अमृत-वाणी समझी जानी चाहिए। खोजते-खोजते मैंने सद्गुरु को प्राप्त कर लिया तो मेरा आवागमन समाप्त हो गया।

भूली मालिनी है, गोब्यंद जागतौ जगदेव।
'तूं करै किसकी सेव'[1] ॥टेक॥
भूली मालणि पाती तोड़ै, पाती पाती जी[...]
जा मूरति कौं पाती तोड़ै, सो मूरति नर[...]
टांचणहारै [...] टांचिया, दै छाती ऊपरि [...]
जे तूं मूरति 'सकल'[2] है, तौ घड़णहारे [...]

'लाडू लावण लापसी'[३], पूजा चढ़ै अपार।
'पूजि पुजारा ले गया'[४], दे मूरति कै मुहि छार॥
पाती ब्रह्मा पुहपे विश्न (विस्न), फूल फल महादेव।
तीनि देवौं एक मूरति, करै किसकी सेव॥
'एक न भूला दोइ न भूला, भूला सब संसार'[५]।
'एक न भूला दास कबीरा, जाकै रांम अधार'[६] ॥४४॥

अर्थ—ऐ मालिनी, तू भूली है; गोविन्द तो जागता हुआ जगद्देव है, [तब] तू किसकी सेवा करती है ? ऐ मालिनी, तू भूली (भ्रमित) हुई पत्तियां तोड़ती है, क्योंकि पत्ती-पत्ती में जीव है, जबकि जिस मूर्त्ति के लिए तू पत्ती तोड़ती है, वह निर्जीव है। [मूर्त्ति को] गढ़ने वाले ने उसकी छाती पर पांव रख कर उसे गढ़ा; यदि तेरी मूर्त्ति सकल (अखंड-ईश्वर) है, तो वह उस गढ़ने वाले को खा जाए। लड्डू, लावन (घृत), लपसी आदि अपार पूजा चढ़ती है। पूजा कर उसे पुजारी ले गया (जाता है), और मूर्त्ति के मुख में छार (राख) हुई (होती है)। पत्ती मे ब्रह्मा, पुष्प मे विष्णु और फूलों-फलों में महादेव हैं, और इन त्रिदेवों की एक (मूल] मूर्त्ति [ईश्वर] है, तब तू किसकी सेवा करती है ? एक नहीं भ्रमित है, दो भी नहीं भ्रमित , समस्त संसार भ्रमित है। एकमात्र दास कबीर नहीं भूला (भ्रमित) है जिसके आधार राम हैं।

पद के चरण ९ तथा १० 'गोरख-बानी' (पद ३८) में भी हैं और इस प्रकार है—

पत्रे ब्रह्मा कली विसनो फल मद्धे रुद्रम् देवा।
तीनि देव का छेद किया तुम्हे करहु कौन की सेवा॥

पाठान्तर—पं० आसा १४। १. पं० में 'तूं करै किसकी सेव' नहीं है। वाक्य का कथन इस शब्दावली के अभाव में अपूर्ण रह जाता है, अतः पं० में यह शब्दावली छूटी हुई है।

२. पं० में यह है : साची। संगत दोनों पाठ हैं किन्तु 'साची' 'सकल' की क्लिष्टता के कारण बाद में आया हुआ लगता है।

३. पं० मे यह है 'भातु पहिति लापसी' है। दोनों पाठ संगत हैं, किन्तु पं० का पाठ कदाचित् 'लावन' की क्लिष्टता के कारण आया है।

४. पं० में यह है : 'भोगनहारे भोगिया'। दोनों पाठ संगत हैं।

५-६. पं० में ये है :

मालिनी भूली जग भुलाना हम भुलाने नाहि।
कहु कबीर हम राम राखे क्रिपा करि हरि राइ॥

[पं]० के 'राम' तथा 'हरि राइ' में पुनरुक्ति प्रतीत होती है, अन्यथा दोनों पाठ [संग]त हैं।

सेइ मन समझि संम्रथ सरनागता, जाकी आदि अंति मधि कोइ न पावै।
कोटि कारिज सरैं देह गुंण सब जरैं, नैंक जो नांउं पतिव्रत आवै ॥टेक॥
आकार की ओट आकार नहीं ऊबरै, सिव बिरचि अरु बिस्न तांई।
जास का सेवग तास कौ पाइहै, इष्ट कौं छाड़ि आगे न जांहीं ॥
गुणमई मूरति सेइ सब भेष मिली, त्रिगुण निज रूप विश्रांम (बिस्राम) नांहीं।
अनेक जुग बंदिगी बिबिध प्रकार की, अंति गुण का गुणहीं समांहीं ॥
पांच तत तीनि गुण जुगति करि सांनियां, अष्ट बिन होत नहीं कम काया।
पाप पुन बीज अंकूर जांमैं मरै, उपजि बिनसै जेती थ्रब (स्त्रब्ब) माया ॥
क्रितम करता कहै परम पद क्यूं लहै, भूलि भ्रम मैं पड़्या लोक सारा।
कहै कबीर रांम रमिता भजै, कोई एक जन गए उतरि पारा ॥४५॥

अर्थ—हे मन, तू [अपने को] समर्थ की शरण में आगत समझ कर उसकी सेवा कर, जिसके आदि-अंत तथा मध्य को कोई नहीं पाता है। करोड़ो कार्य पूरे हो जाएं, देह के समस्त गुण (त्रिगुण) जल जाएँ, यदि तनिक भी उसका नाम और पतिव्रत (एक निष्ठता) [तुझ में] आ जाए। आकार (प्रतिमादि) की ओट (आश्रय) में आकार शरीर [भव से] नहीं उबर (बच) सकता है, [भले ही वह आकार] शिव, ब्रह्मा, विष्णु तक का हो। जो जिसका सेवक होगा, वह उसी को प्राप्त करेगा, इष्ट को [पीछे] छोड़ कर वह आगे नहीं जा सकता है। त्रिगुणमयी मूर्ति, (प्रतिमा) की सेवा करके ही सब वेष (जन्म) तुझे मिले हैं; जो निजु (ठीक-ठीक) निर्गुण का रूप है, उसमें तुझे विश्राम नहीं है। अनेक युगों तक विविध प्रकार की प्रणति [प्रतिमा की] कोई करे, किन्तु अन्त में वह त्रिगुण के गुणों ही में समाता है; पञ्च तत्त्व और त्रिगुण को युक्ति कर के साना (मिश्रित किया) गया है; इन आठों के बिना काया के कर्म नहीं होते हैं। पाप और पुण्य के बीज और अंकुर जन्म लेते और मरते हैं, और जितनी भी माया [की विभूति] है, वह उत्पन्न होकर नष्ट होती रहती है। जो कृत्रिम [प्रतिमादि] को कर्त्ता कहते हैं, वे परम पद क्यों (किस प्रकार) लाभ कर सकते हैं? भूल कर भ्रम में सारा लोक पड़ा हुआ है! कबीर कहता है कि राम को, जो [सब में] रमण कर रहा है, भजने से ही कोई-एक (बिरले) जन [संसार-सागर से] पार उतरे हैं।

रांम राइ तेरी गति जांणीं न जाई।
जो जस करिहै सो तस पइहै, राजा रांम नियाई ॥टेक॥
जैसी कहै करै जौ तैसी, तौ तिरत न लागै बार।
कहना कहि गया सुनता सुणि गया, करणी कठिन अपार ॥
सुरहीं तिण चरि अंमृत सरवै, लेर भवंगहि पाई।
अनेक जतन करि निग्र[ह] कीजै, बिषै बिकार न जाई ॥
संत करै असंत की संगति, तासूं कहा बसाई।
कहै कबीर ताके भ्रम छूटै, जे रहे रांम ल्यौ लाई ॥४६॥१६६॥

अर्थ—हे रामराय, तेरी गति जानी नहीं जाती है। हे राजा राम, तुम न्यायी हो, इसलिए जो जैसा करेगा, वह वैसा पाएगा। जो कोई जैसा कहता है, यदि वह वैसा करे भी, तो तिरते हुए वार (वेला) न लगे। कहता (वक्ता) कह जाता है, सुनता (श्रोता) सुन जाता है, किन्तु करणी (आचरण करना) अपार कठिन है। सुरभी (गाय) तृण (घास) चर कर अमृत (दुग्ध) बहाती है [इसलिए पूजी जाती है], जबकि भुजंग (सर्प) लेर (लेड् < लेष्ट—मिट्टी का डला—ढेला) ही पाता है (सभी उसको डला-ढेला मारते हैं)। अनेक यत्न करके निग्रह (निरोध, अवरोध) किया जाए, तो भी विषयों के विकार नही जाते हैं। संत यदि असंत की संगति करे, तो उससे क्या वश चल सकता है ? कबीर कहता है उसके ही भ्रम छूटते हैं, जो राम से लय लगा कर रहता है।*

(३) राग आसावरी

ऐसी रे अवधू की वांणीं।
ऊपरि कूवटा तलि भरि पांणीं ॥टेक॥
जब लग गगन जोति नहीं पलटै। अविनासी सूं चित नहीं चिहुटै ॥
जब लग भंवर गुफा नहीं जांनैं। तौ मेरा मन कैसैं मांनैं ॥
जब लग त्रिकुटी संधि न जांनैं। ससिहर कै घरि सूर न आंनैं ॥
जब लग नाभि कवल नहीं सोधै। तौ हीरै हीरा कैसैं बेधै ॥
सोलह कला संपूरण छाजा। अनहद कै घरि बाजैं बाजा ॥
सुषमन कै घरि भया अनंदा। उलटि कवल भेटे गोब्यंदा ॥
मन पवन जब परचा भइया। ज्यूं नाले रांखी रसमइया ॥
कहै कबीर घटि लेहु बिचारी। औघट घाट सींचि ले क्यारी ॥१॥

अर्थ—अवधूत की वाणी ऐसी [अटपटी] है : [वह कहता है,] "कुवटा (कुंआ) ऊपर है और पानी नीचे है ! जब तक गगन (सहस्रार) में ज्योति (चेतना) नहीं पलटती है, अविनाशी से चित्त नही चिपटता है। जब तक भंवर-गुहा का ज्ञान नही होता है, तब [तक] मेरा मन कैसे माने ? जब तक त्रिकुटी की संधि ज्ञात नही होती है, तब [तक] शशधर (चन्द्रनाड़ी) के घर सूर्य (सूर्य-नाड़ी) को नहीं लाया जा सकता है। जब तक नाभि-कमल (मणिपूर चक्र) का

---

* यहां पर स० में निम्नलिखित पद और है जो वि० में नहीं है :

कथणीं बदणीं सब जंजाल।
भाव भगति अरु रांम निराल ॥टेक॥
कथै बदै सुणै सब कोई। कथें न होई कीयें होई ॥
कूड़ी करणी रांम न पावै। साच टिकै निज रूप दिखावै ॥
घट मैं अग्नि घर जल अवास। चेति बुझाई कबीरादास ॥४६अ॥

शोध नहीं कर लिया जाता है, तब [तक] हीरे से हीरे को (आत्मा से आत्मा को) कैसे विद्ध किया जा सकता है ? जो सोलह कलाओं से संपूर्ण [होकर] शोभित है, ऐसे अनाहत [चक्र] के घर में बाजा बजता है। सुषुम्णा के घर में आनंद हुआ जब [सहस्रार के ?] कमल (चक्र) को उलट (औंधा) कर गोविन्द मिले। मन का पवन (कुंडलिनी) से जब परिचय हुआ, [तब ऐसा अनुभव हुआ] जैसे [उसके] नाल (साथ) में कोई रसमइआ (रसमत्ता) [रमणी] रक्खी हुई हो।" कबीर कहता है, घट में विचार लो, और [योग के इस] औघट (अटपटे) घाट (जलाशय) से क्यारी (जीवन) *को सींच लो।

ऊपर स्थित कूप सहस्रार है, नीचे रहने वाला जल मूलाधार चक्र है।

मन का भ्रम मन हीं थैं भागा।
सहज रूप हरि खेलण लागा ॥टेक॥

मैं तैं तैं मैं ये द्वै नांहीं। आपै अकल सकल घट मांहीं॥
जब थैं इन मन उनमन जांनां। तब रूप न रेख तहां ले बांनां॥
तन मन मन तन एक समांनां। इन अनभै माहै मन मांनां॥
आतमलीन अखंडित रांमां। कहै कबीर हरि मांहि समांनां॥२॥

अर्थ—जब मन का भ्रम मन ही में भाग (निकल) गया, तब सहज रूप हरि (आत्माराम) खेलने लगा। तब 'मैं-तैं' 'तैं-मैं' का द्वैत नहीं रहा, तब आत्मा ही आत्मा समस्त घट में हो गया। जब से इस मन ने उन्मन (अवस्था) जान ली, तब न रूप रह गया न रेखा रह गई, और न वर्ण ही वहां रहा। तनु मन और मन तनु [होकर] दोनों एक समान हो गए और मन इस अनुभव में मान (लग) गया। [इस प्रकार] आत्मलीन और अखंडित राम (आत्मा) हरि में समा गया।

आतमां अनंदी जोगी।
पीवै महारस अंमृत भोगी ॥टेक॥

ब्रह्म अगनि काया परजारी। अजपा जाप उनमनीं तारी॥
त्रिकुट कोट मैं आसण मांडै। सहज समाधि विषै सब छांडै॥
त्रिवेणी बिभूति करै मन मंजन। जन कबीर प्रभू अलप निरंजन॥३॥

अर्थ—आत्मानंदी योगी, महारस का पान तथा अमृत का भोग करता है। वह ब्रह्माग्नि में काया को प्रज्वलित कर अजपा-जाप (वह जाप जो बिना स्वर-यंत्रों की सहायता के होता है), उन्मनी मुद्रा तथा त्राटिका में [स्थित रहना] है। वह त्रिकुटी के कोट में आसन लगाता है, और सहज समाधि में [स्थित होकर] समस्त विषयों को छोड़ देता है। वह त्रिवेणी (इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा के संगम) पर विभूति करता है और मन [के सरोवर] में मज्जन (मार्जन—शरीर की शुद्धि) करता है। कबीर इसी प्रकार का जन है तथा अलक्ष्य निरंजन उसका प्रभु है।

या जोगिया की जुगति जु बूझै।
राम रमैं ताकौं त्रिभवन सूझै ॥टेक॥
प्रगट कंथा गुपत अधारी। तामैं मूरति जीवनि प्यारी॥
है प्रभू नेरै खोजैं दूरि। ग्यांन गुफा मैं सींगी पूरि॥
अमर वेलि जो छिन छिन पीवै। कहै कबीर सो जुगि जुगि जीवै॥४॥

अर्थ—इस योगी की युक्ति को जो बूझ (जान) ले और [उसके अनुसार] राम (आत्मा) में रमण करे, उसको त्रिभुवन सूझने लगे। प्रकट मे कंथा धारण कर यदि वह अधारी को गुप्त रक्खे, तो उसमें वह प्रिय जीवन देने वाली मूर्त्ति [का दर्शन करेगा]। प्रभु निकट है और लोग उसे दूर पर खोजते हैं! ज्ञान-गुहा मे शृंग निनादित करो। जो इस [ज्ञान की] अमृत वेली को प्रतिक्षण पीता रहता है कबीर कहता है, वह युगों-युगों तक जीता है।

सो जोगी जाकै मन मैं मुद्रा।
राति दिवस न करई निद्रा ॥टेक॥
मन मैं आसण मन मैं रहणा। मन का जप तप मन सूं कहणां॥
मन मैं खपरा मन मैं सींगी। अनहद बेन वजावै रंगी॥
पंच प्रजालि भसम करि भूका। कहै कबीर सो ल्हूसै लंका॥५॥

अर्थ—योगी वह है जिसके मन में [योग की] मुद्राएं होती हैं, जो रात-दिन (किसी भी समय) निद्रा [का सेवन] नहीं करता है, जो जप-तप करता और मन से ही कथन करता है, मन में ही जो अपना खप्पर (भिक्षा-पात्र) रखता है, मन मे ही [अपना] शृंग रखता है और रंग (उल्लास) में [आकर] अनाहत वेणु वजाया करता है। जिसने पंच [तत्त्वों] को जला कर [उनके] बुक्के (आवरण—शरीर) को भी भस्म कर डाला है, कबीर कहता है कि वह लंका को भी ल्हूसता (भस्म कर डालता) है।

लंका जन्म-मरण (भव) का दुर्भेद्य गढ़ है।

बाबा जोगी एक अकेला।
जाकै तीर्थ ब्रत न मेला ॥टेक॥
झोली पत्र विभूति न बटवा, अनहद बैन बजावै।
मांगि न खाइ न भूखा सोवै, घर अंगनां फिरि आवै॥
पांच जनां की जमाति चलावै, तास गुरू मैं चेला।
कहै कबीर उनि देसि सिधाये, बहुरि न इहि जुगि मेला॥६॥

अर्थ—हे बाबा, योगी एक और अकेला होता है, जिसके लिए न तीर्थ है, न व्रत है, न मेला है, जिसके पास न झोली होती है, न पत्र, न विभूति और न बटुवा (थैली) होते हैं, जो अनाहत वेणु बजाता है, जो न मांग कर खाता, और [फिर भी] न भूखा सोता है, और जो [अपने] घर (घट) के आंगन मे ही फिर कर [वापस] आ जाता है, जो पांच जनों (पंच विकारों) की जमात (शत्रु-मंडली) चलाता (विचलित कर देता) है, उस गुरु का मैं

चेला (चेट) हूं। कबीर कहता है कि ऐसा योगी उस देश को सिधारता है, जिससे पुनरागमन होकर इस जगत् में मिलना नहीं होता है।*

अवधू ऐसा ग्यांन विचारी।
ज्यूं बहुरि न ह्वै संसारी ।।टेक।।
च्यंतन सो ज चित बिन चि (चिं) तवै, बिन मनसा मन होई।
अजपा जपत सुंनि अभि अंतरि, यहु तत जांनैं सोई ।।
कहै कबीर स्वाद जब पाया, वंक नालि रस खाया।
अंमृत झरै ब्रह्म प्रकासै, तब हीं मिलै रांम राया ।।७।।

अर्थ—ऐ अवधूत, ऐसा ज्ञान विचार, जिससे तू पुनः संसारी (संसार-यात्री) न हो। चिंतन वह है जो चित्त के बिना किया जाए, मन वह है जो बिना मनसा (संकल्प-विकल्प) के हो। शून्य के भीतर जो अजपा का जप करता हो, वही यह तत्त्व जान सकता है। कबीर कहता है कि जब वंकनाल का रस खाओ, तभी उसका स्वाद मिलता है। जब अमृत झड़ता है और ब्रह्म का प्रकाश होता है, तभी रामराय मिलते हैं।

गोव्यंदे तुम्हारै बन कंदलि, मेरो मन अहेरा खेलै।
बप बाड़ी अनंगु मृग, रचिहीं रचि मेलै ।।टेक।।
चित तरउवा पवन खेदा, सहज मूल बांधा।
ध्यांन धनक जोग क्रम, ग्यांन बांन सांधा ।।
षट चक्र कंवल बेधा, जारि उजारा कीन्हां।
कांम क्रोध लोभ मोह, हाक्रि स्यावज दीन्हां ।।
गगन मंडल रोकि बारा, तहां दिवस न राती।
कहै कबीर छांड़ि चले, बिछुरे सब साथी ।।८।।

अर्थ—हे गोविन्द, तुम्हारे वन की कंदरा में मेरा मन आखेट खेलता है। वपुप (शरीर) वाटिका है, अनंग (काम) मृग है [यह श्वापद के रूप में आगे भी चरण ६ में आता है], जिसमें इसे तूने भलीभांति रच कर डाल (भेज) दिया है। चित्त तरउवा (साथ लगा रहने वाला पदाति) है,

---

* यहां पर स० में निम्नलिखित पद और है जो वि० में नहीं है :

जोगिया तन को जंत्र बजाइ।
ज्यूं तेरा आवागमन मिटाइ ।।टेक।।
तन करि तांति धर्म करि डांडी, सत की सारि लगाइ।
मन करि निहचल आसंण निहचल, रसनां रस उपजाइ ।।
चित करि बटवा तुचा मेखली, भसमैं भसम चढ़ाइ।
तजि पाखंड पांच करि निग्रह, खोजि परम पद राइ ।।
हिरदै सींगी ग्यांन गुंणि बांधौ, खोजि निरंजन साचा।
कहै कबीर निरंजन की गति, जुगति बिनां प्यंड काचा ।।६अ।।

भरी छावड़ी मन बैंकुंठा, सांई सूर हिया रंगा।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि हंम एकै संगा ॥१२॥

अर्थ—परब्रह्म को देखा तब वाटिका फूल उठी और उसमे फल बड़हुल (बड़े-बडे) लगे; [उसमें] सदाफल, द्राक्षा, बीजपूरक [को देख कर] कौतुक (कुतूहल) वाली [बुद्धि] भूल रही (भ्रमित हो रही)। इस वाटिका में द्वादश कूप है, एक वनमाली है जो जल को उलटा चलाता है, सहज सुषुम्णा से उस वाटिका के कूलों (क्यारियों) को भरता है और दसों दिशाओं में वाटिका को [पानी] पिलाता है। उसने जो लय की रज्जु, पवन की ढीकुली और मन का मटका बनाया, सत की पट्टी तथा सुरति का चाठा किया, तो उसने सहज का नीर मुक्त किया। त्रिकुटी पर चढ़ा हुआ वह नीचे-ऊपर की क्यारियों में पावटा ढालने लगा (पानी से क्यारियों को भलीभांति भरने लगा)। [अब] चंद्र (चंद्रनाड़ी) और सूर्य (सूर्यनाड़ी) दोनों [इस वाटिका में] पांणति (पण्णत्ति : प्रज्ञप्ति—उपाय; युक्ति) करेंगे और उसमें गुरु-मुख (गुरु-मंत्र) का बीज विचारित होगा। [फलों से] भरी छावड़ी से (छावड़ी को भरा देख कर) मन बैंकुंठी (स्वर्गीय) हो गया और शूर स्वामी का हृदय रंग उठा। कबीर कहता है, हे संतो सुनो, हरि (स्वामी) और हम (सेवक) एक-संग हो गए।

पद की वाटिका मानव-काया है (दे० वाद का पद १४)। परब्रह्म के दर्शन से उसमें लगने वाले बड़े फल चतुर्भद्र (धर्म, अर्थ काम और मोक्ष) हैं। उसके द्वादश कूप षट्चक्रों में स्थित इड़ा और पिंगला के केन्द्र हैं। वनमाली (आत्मा) है (दे० आगे का पद १४), जो उस (वाटिका) की रक्षा करता है। जल को उलटा चलाना पवन को उलटी गति से षट्चक्रों की ओर ले जाना है।

रांम नांम रंग लागौ कुरंग न होई।
हरि रंग सौ रंग और न कोई ॥टेक॥
और सबै रंग इहि रंग थैं छूटै। हरि रंग लागा कदे न खूटै ॥
कहै कबीर मेरे रंग रांम राई। और पतंग रंगि उड़ि जाई ॥१३॥

अर्थ—राम-नाम का ऐसा रंग लग गया है जो कुरंग नहीं होता है, हरि रंग के समान और (अपर) रंग नही है। और (अपर) सभी रंग जो हैं, इस रंग से छूट जाते हैं (इस रंग के लगने पर जाते रहते हैं), हरि-रंग [एक बार लग कर फिर कभी नही खूटता (नष्ट होता) है]। कबीर कहता है, मेरे रंग रामराय है, और रंग पतंगी (<पत्रांग—पत्तल; कच्चा) रंग हैं जो उड़ जाते हैं।

कबीरा प्रेम कूल ढरै, हंमारै रांम बिनां न सरै।
बांधि लै धोरा सींचि लै क्यारी, ज्यूं तूं पेट भरै ॥टेक॥
काया बाड़ी मांहैं माली, टहल करै दिन राती।
कबहूं न सोवै काज संवांरै, पांणतिहारी माती ॥

सेझ कूवै स्वांति अति सीतल, कवहूं कुवाव नहीं रे।
भाग हमारे हरि रखवाले, कोई उजाड़ नहीं रे।।
गुरि बीज जमाया किरखि निपाया, मन की आपदा खोई।
बोरैं स्यावढ़ करै खारिसा, सिला करै सब कोई।।
जौ घरि आया तौ सब ल्याया, सबहीं काज संवारचा।
कहै कबीर सुनहुं रे संतौ, थकित भया मैं हारचा।।१४।।

अर्थ—कबीर [राम-] प्रेम के कूल (निकट) ढल रहा है, [वह कहता है] हमारा [जीवन] राम के बिना नहीं चलता है। धौरा (धुरा—सिंचाई के लिए निर्मित बड़ी नाली) बांध कर (ऐसा दृढ़ कर कि पानी उसमे निकल कर छीज न सके) तू क्यारियां सींच ले, जिससे तेरा पेट भरे (तेरी जीविका चले)। काया-वाटिका में एक माली है, जो दिन-रात [उस वाटिका की] सेवा करता है, वह कभी नहीं सोता है, वह कार्य संवारता (बनाता) रहता है जबकि पांणति (पण्णति : प्रज्ञप्ति—उपाय; युक्ति) करने वाली मंद-मति है। कूप (कूप-जल) सेज्झ (सेज्ज : शैत्य—शीतलता) में स्वाती के [जल के] सदृश अति शीतल है और कभी भी [लू जैसी] कुवायु [से वह प्रभावित नहीं होता] है। हमारे भाग्य मे हरि [इस वाटिका के] रक्षक (वनमाली) है, जिससे उसमें कोई [भाग] उजड़ा नही है (सब हरा-भरा है)। गुरु ने उसमें बीज जमाया (उगने के लिए डाला) है और कृषि को निष्पादित किया है, जिससे [इस वाटिका के स्वामी ने ?] मन की आपदा खो दी है। ओर (अंत) में जो सावढ़ (सर्वाढ्य—पूर्ण स्वत्वाधिकारी; स्वामी) है, वह [पैदावार पर] खारिसा (खालिस—एकाधिकार) कर लेता है, शेष सब कोई सिला (सिलोञ्छ) करते है (फसल के कट जाने पर खेत में जहां-तहा गिरा हुआ धान्य बटोरते हैं)। जब वह स्वामी घर आता है, तब वह समस्त (पैदावार) लाता है और अपने सभी कार्य संवारता (बनाता) है। कबीर कहता है, हे संतो, यह देख कर मैं थकित हो रहा और हार बैठा।

ऊपर के पद १२ की ही परंपरा मे यह पद भी है, और दोनों के अनेक तत्त्व समान हैं। वाटिका काया की है। उस पद में 'पांणतिहारी' चंद्र तथा सूर्य [नाड़ियां] हैं, इसमे उनका नाम नहीं लिया गया है। इस पद में एक ही 'पांणतिहारी' है, जो बुद्धि प्रतीत होती है। कूप उस पद में द्वादश हैं, इसमें एक है। यह एक कूप सुषुम्णां का ताल होता है। रक्षक इसमें भी एक हरि है जो आत्माराम है; इसी को पद मे सावढ़ (सर्वाधिकारी) भी कहा गया है।

राजा राम बिनां तकती धो धो।

रांम बिनां नर क्यूं छूटहुगे, जम करैं नग धो धो धो।।टेक।।
मुद्रा पहरयां जोग न होई। घूंघट काढ़या सती न कोई।।

माया कै संगि हिलि मिलि आया। फोकट साटै जनम गंवाया॥
कहै कबीर जिनि हरि पद चीन्हां। मलिन प्यंड थैं निरमल कीन्हां॥१५॥

अर्थ—राजा राम के विना धौं (कदाचित्) [अपना] तकतीअ (टुकड़े-टुकड़े या छिन्न-भिन्न करना) ही [तुम्हारे हिस्से में] है। राजा राम के बिना [हे, मानव] तू कैसे छूटेगा ? यम धौं (कदाचित्) तेरा सब कुछ लेकर तुझे नग (नग्ग : नग्न) ही करेगा। [कानो में] मुद्रा पहिनने से योग नही होता है, [जिस प्रकार] घूंघट काढ़ने से ही कोई [स्त्री] सती नही होती है। तू माया के साथ हिल-मिल कर आया है, और फोकट के सट्टे (व्यापार) में [अपना] जन्म (जीवन) गंवाया है। कबीर कहता है, जिसने हरिपद को पहिचान लिया है, उसने [अपने को] एक मलिन पिंड [मात्र] से निर्मल कर लिया है।

है कोई रांम नांम बतावै।
बस्त अगोचर मोहि लखावै॥टेक॥
रांम नांम सब कोई बखांनै। रांम नांम का मरम न जांनैं॥
ऊपर की मोहि बात न भावै। देखै गावै तौ सुख पावै॥
कहै कबीर कछू कहत न आवै। परचै विनां मरम को पावै॥१६॥

अर्थ—क्या ऐसा कोई है जो राम का नाम बताए और उस अगोचर वस्तु को मुझे दिखाए ? राम का नाम सभी कोई बखानते हैं, किन्तु राम नाम का मर्म वे नहीं जानते हैं। ऊपर की बात मुझे नहीं भाती है; देख कर (अनुभव कर) कोई गाए, तो सुख पाए। कबीर कहता है, कुछ कहते नही बनता है, [ज्ञातव्य वस्तु के] परिचय के विना कौन उसका मर्म प्राप्त कर सकता है ?

गोब्यंदे तूं निरंजन तूं निरंजन तूं निरंजन राया।
तेरे रूप नहीं रेख नाहीं मुद्रा नहीं माया॥टेक॥
समद नाहीं सिखर नाहीं, धरती नहीं गगनां।
रबि ससि दोउ एकै नांहीं, बहत नहीं पवनां॥
नाद नांही व्यंद नांहीं, काल नहीं काया।
जब तैं जल व्यंब न होते, तब तूं हीं रांम राया॥
जप नांहीं तप नांहीं, जोग ध्यांन नहीं पूजा।
सिव नांही सकति नांहीं, देव नहीं दूजा॥
रुग न जुग न स्यांम अथरबन, बेद नहीं व्याकरनां।
तेरी गति तूंहीं जानैं, कबीरा तो सरनां॥१७॥

अर्थ—हे गोविन्द, हे राजा, तू निरंजन (निर्लिप्त) है। तेरा कोई रूप नही है, तेरी कोई रेखा (आकृति) नही, तेरी कोई मुद्रा नही, न तेरी कोई माया है। न तू समुद्र है, न शिखर है, न धरती है, न गगन है; रवि और शशि दोनों में से एक भी नही है, और न पवन [होकर] तू बहता है; न तू नाद है, न विंदु है, न काल है, न काया है; जब से जल में बिंब भी नही होते थे, तब से तू ही, ऐ रामराय, है; न तू जप है, न तप है, न ध्यान है, न पूजा है, न तू

शिव है, न शक्ति है, न कोई दूसरा देवता है; न तू ऋक् है, न यजुः है, न साम है, न अथर्वण है, न वेद है, न व्याकरण है। तेरी गति तू ही जानता है, और कबीर तेरी शरण में है।

रांम कै नांइ नींसांण बागा, ताका मरम न जानैं कोई।
भूख त्रिपा गुण वाकै नांहीं, घट घट अंतरि सोई ।।टेक।।
वेद विबर्जित भेद विबर्जित, विबर्जित पाप र पुंन्यं।
ग्यांन विबर्जित ध्यान विबर्जित, विबर्जित अस्थूल सुन्यं ।।
भेष विबर्जित भीख विबर्जित, विबर्जित ड्यंभ कि रूपं।
कहै कबीर तिहूं लोक विबर्जित, ऐसा तत्त अनूपं ।।१८।।

अर्थ—राम के नाम का निसान बजता है, उसका मर्म कोई नहीं जानता है। भूख-तृषादि उसके गुण नहीं है; प्रत्येक घट के भीतर वही है। वह वेद-विवर्जित (वेदों से परे) है, भेदों से परे है, पाप-पुण्य से परे है, ज्ञान से परे है, ध्यान से परे है, स्थल तथा शून्य से परे है, वेष से परे है, भिक्षा से परे है, डिंभ (दंभ के) रूप से परे है; कबीर कहता है वह त्रिलोक से परे है, ऐसा अनुपम तत्त्व वह है।

रांम रांम रांम रमि रहिये।
सापित सेती भूलि न कहिये ।।टेक।।
का सुनहां कौं सुमृत सुनांयें। का सापित पैं हरि गुन गांयें ।।
का कऊवा कौं कपूर खवांयें। का विसहर कौं दूध पिलांये ।।
'सापित सुनहा दून्यूं भाई। वौ नींदै वौ भौंकत जाई'[१] ।।
अंमृत ले ले नींव सिंचाई। कहै कबीर 'वाकी वांनि न जाई'[२] ।।१९।।

अर्थ—'राम' 'राम' 'राम' में रम रहिए, किन्तु शाक्त से भूल कर भी 'राम' न कहिए। श्वान को स्मृति सुनाने से क्या और शाक्त से हरि गुण-गान करने से क्या? कौवे को कपूर खिलाने से क्या, और विषधर को दूध पिलाने से क्या? शाक्त और श्वान दोनों भाई है, वह (शाक्त) [हरि भक्तों की] निंदा करता है, और वह (श्वान) [दूसरों को देख कर] भूंकता जाता है। अमृत ले-लेकर नीम (निंब) सिंचाई (सींची) जाए, तो भी कबीर कहता है, उसकी बान (वर्णिका—विशेषता) नहीं जाती है।

पाठान्तर—पं० आगा २०। १. पं० में यह है—

साकतु सुआनु सभु करे कराइआ। जो धुरि लिखिआ सो करम कमाइआ ।।

राज० पाठ ही संगत लगता है, क्योंकि प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों को एक स्तर पर जिस विषय में रक्खा गया है, उसका उल्लेख उसमें कर दिया गया है। पं० की संगति उतनी स्पष्ट नहीं है। ऐसा लगता है कि मूल पाठ के त्रुटित हो जाने के अनंतर यह पाठ उसके स्थान पर त्रुटि-पूर्ति के लिए रख लिया गया।

२. पं० में यह है : उआ को सहजु न जाई। 'वानि' तथा 'सहज' दोनों संगत है।

३. पं० में निम्नलिखित अर्द्धाली अधिक है—

सति संगति मिलि विबेक बुधि होई, पारसु परसि लोहा कंचन सोई।

पूरे पद में शाक्त से हरि-चर्चा करने का निषेध मात्र है। अतः सत्संग का यह गुणगान उसके संदर्भ में कम संगत लगता है।

अब न बसूं इहिं गांइ गुसाईं।
'तेरे नेवगी खरे सयांनें हो राम'[१] ॥टेक॥

'नगर एक तहां जीवधर महता'[२], बसै जु पंच किसानां।
नैंनौं नकटू श्रवनूं रसनूं, यंद्री कह्या न मानैं, हो रांम॥
गांइ कुठाकुर खेत कुनेपै, काइथ खरच न पारै।
जोरि जेवरी खेति पसारै, सब मिलि मोकौं मारै, हो रांम॥
खोटौ महतौ बिकट बलाही, सिरकस दम का पारै।
बुरौ दिवांन दादि नहिं लागै, इक बांधै इक मारै, हो रांम॥
धरमराइ जब लेखा मांग्या, बाकी निकसी भारी।
पांच किसानां भाजि गये हैं, 'जीव धर बांध्यौ पारी हो रांम'[३]॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, 'हरि भजि बांधौ भेरा'[४]।
अब की बेर बकसि बंदे कूं, सब खत करौं नवेरा॥२०॥

अर्थ—हे स्वामी, अब [मैं तुम्हारे] इस गांव में नहीं बस रहा हूं, क्योंकि तुम्हारे नेगी (कर या लगान उगाहने वाले कर्मचारी), हे राम, बहुत सयाने हैं। एक नगर है वहां पर जीवधर महता (प्रधान) है, वहां पर [मेरे] पांच [शिकमी] कृषक बसते है, किन्तु वे सब भी—जो नैन, नाक, श्रवण, रसना [आदि] इंद्रियां हैं, [अब] मेरा कहना नहीं मानते है। गांव में [ठाकुर] कुठाकुर है, वह खेत का [माप] कुमाप करता है, जो कायस्थ है, उसका खर्च (उजरत) देना संभव नहीं है, वह जेवड़ी (जीवा—रस्सियां) जोड़ कर उन्हें (गलत प्रकार से) खेत में फैलाता है और [इस प्रकार] सब मिल-मिल कर मुझे मारते हैं। महता (प्रधान) खोटा है, बलाही (बलाधिकृत) विकट है, कोई उसके समक्ष सरकस (विद्रोही) होने का दम (साहस) क्या कर सकता है? दीवान भी बुरा है, कोई दाद (सुनवाई) नही होती है, एक बांधता और एक मारता है। जब धर्मराय ने लेखा मांगा, भारी बाकी [मेरे जिम्मे] निकली। वे [मेरे] पांच [शिकमी] कृषक भाग गए हैं, इसलिए उनकी पारी (उनके स्थान) पर जीवधर [महता] पकड़ कर बांधा हुआ है। कबीर कहता है, हे संतो, सुनो, हरि का भजन कर [संसार से संतरण के लिए] बेड़ा बांधो (तैयार करो)। यदि अब की बार इस बंदे (दास) को क्षमा मिल जाए, तो वह समस्त बाक़ी के ख़त (बाक़ी की रकमें) निवटा (चुका) दे।

स्वामी राम हैं, नगर देह है, उसमें प्रजा के रूप में जीव बस रहा है, इसके पांच [शिकमी] कृषक इसकी पंच कर्मेन्द्रियां : त्वचा, नेत्र, श्रवण, रसना, नासिका हैं। खेत (क्षेत्र) शरीर है, विभिन्न प्रशासकीय पदाधिकारी

जीवन के किन-किन उपकरणों के लिए आते हैं, यह स्पष्ट नहीं है। धर्मराज यम है। बाक़ी की लगान से तात्पर्य कर्त्तव्यों की उपेक्षा से है, मानव-जन्म पाकर जो कुछ जीव को करना चाहिए था, उसमें जो कसर उसने रक्खी, वही उसके जिम्मे की बाक़ी की लगान है।

पाठान्तर—पं० भाग ७। १. पं० में यह है : 'घरी घरी का लेखा मांगै काइथु चेतू नाउ'। बाद में पुनः आता है : 'धरम राइ जब लेखा मांगै'। इसलिए पं० में लेखा मांगने वाले दो हैं। राज० में यह त्रुटि नहीं है।

२. पं० में यह है : देही गावा जीउधर महतउ। प्रसंग गांव का है, जो 'अब न बसू इहि गांउ' की टेक से प्रकट है। इसलिए 'देही गावा'—'देह के गांव में', जो पद के रूपक का एक निश्चित अंग है, राज० के 'एक नगर तहां' की अपेक्षा अधिक संगत है।

३. पं० में यह है : 'लै बाधिओ जीउ दरबारी'। 'दरबारी' है 'दरबारि—दरबार में और दोनों संगत हैं। किन्तु लगता है कि 'पारी' के स्थान पर 'बारी' मूल पाठ था, जिसको ठीक-ठीक न समझ पाने के कारण पं० के 'दरबारी'-युक्त पाठ की कल्पना की गई।

४. अंतिम दो चरणों के जो द्वितीयार्द्ध हैं वे दोनों में परस्पर बदले हुए हैं। अपने-अपने ढंग से दोनों पाठ संगत लगते हैं, और यह कहना कठिन है कि मूल में उनकी स्थिति क्या रही होगी।

५. राज० के चरण ५-८ पं० में नहीं है। ये चरण संगत हैं और पं० से किसी कारण से छूटे लगते हैं।

ता भै थैं मन लागौ रांम तोही।
करौ कृपा जिनि बिसरौ मोही ॥टेक॥
जननीं जठर सह्या दुख भारी। सो संक्या नहीं गई हमारी ॥
दिन दिन तन छीजै जुरा जनावै। केस गहें काल ब्रिदंग बजावै ॥
कहै कबीर करुणांमय आगैं। तुम्हारी क्रिपा बिना यहु बिपति न भागै
॥२१॥

अर्थ—इसी भय से, हे राम, मन तुमसे लगा हुआ है; कृपा करो और मुझे विस्मृत न करो! जननी के गर्भ में मैंने भारी दुःख सहन किया और मेरी यह शंका [अब भी] गई नहीं है (मुझे शंका है कि फिर इसी प्रकार का जन्म-कष्ट सहन करना पड़ेगा)। इसलिए दिन-प्रतिदिन तनु क्षीण हो रहा है, जरा [अपने-आप को] जनाने लगी है, और काल [हमारे] केश पकड़ कर मृदङ्ग बजा रहा है। कबीर तुम करुणामय के आगे कह रहा है, तुम्हारी कृपा के बिना यह विपत्ति नहीं भाग सकती है।

कब देखौं मेरे रांम सनेही।
जा बिन दुख पावै मेरी देही ॥टेक॥
हूं तेरा पंथ निहारूं स्वांमी। कब र मिलहुगे अंतरजांमी ॥

जैसैं जल बिन मीन तलपै। ऐसैं हरि बिन मेरा जीयरा कलपै ॥
निस दिन हरि बिन नींद न आवै। दरस पियासी रांम क्यूं सचु पावै ॥
कहै कबीर अब विलंब न कीजै। अपनौं जांनि मोहि दरसंन दीजै
॥२२॥

अर्थ—हे मेरे स्नेही राम, तुझको मैं कब (कितने शीघ्र) देखूंगी, जिसके बिना मेरा शरीर दुःख पाता है? हे स्वामी, मैं तेरा मार्ग देख रही हूं, हे अन्तर्यामी तुम कब मिलोगे? जिस प्रकार जल के बिना मीन (मछली) तड़पती है, इसी प्रकार तुम हरि के बिना मेरा जीव कलपता (कलाप करता, रोता) है। तुम हरि के बिना रात-दिन मुझे निद्रा नहीं आती है, तुम्हारे दर्शनो की प्यासी मैं कैसे सच (सुख) पा सकती हूं। कबीर कहता है, अब विलंब न कीजिए, मुझे अपना जान कर दर्शन दीजिए।

सो मेरे रांम कबै घरि आवै।
ता देखें मेरा जीव सुख पावै ॥टेक॥
बिरह अगिनि तन दीया जराई। बिन दरसन क्यूं होइ सिराई ॥
निस बासुर मन रहै उदासा। जैसैं चात्रिग नीर पियासा ॥
कहै कबीर अति आतुरताई। हमकौ बेगि मिलौ रांम राई ॥२३॥

अर्थ—सो (तो), मेरा राम कब घर आयेगा? उसको देखने पर [ही] मेरा जीव सुख पाता है। [उसके] विरह की अग्नि ने तनु को जला दिया है, वह बिना [राम के] दर्शनो के कैसे शीतल होगा? रात-दिन मन उदास रहता है, जिस प्रकार चातक [स्वाती के] जल के लिए प्यासा रहता है। कबीर कहता है, मुझे अत्यधिक आतुरता है, मुझे, हे रामराय, तुम शीघ्र मिलो।

मैं सासरि पीय गौंहनि आई।
सांई संगि साध नहीं पूगी, गयौ जोबन सुपिनां की नांई ॥टेक॥
पंच जनां मिलि मंडप छायौ, तीनि जनां मिलि लगन लिखाई।
सखी सहेली मंगल गांवैं, सुख दुख माथै हलद चढ़ाई ॥
नांनां रंगैं भांवरि फेरी, गांठि जोरि बाबै पति ताई।
पूरि सुहाग भयौ बिन दूलह, चौक कै रंगि धर्‌यौ सगौ भाई ॥
अपनैं पुरिष मुख कबहूं न देख्यौ, सती होत समझी समझाई।
कहै कबीर हूं सल रचि मारिहूं, तिरौं कंत ले तूर बजाई ॥२४॥

अर्थ—मैं सासरे में प्रिय के साथ आई, किन्तु स्वामी के संग मेरी साध (श्रद्धा : आकांक्षा) नही पूरी हुई, और यौवन [तब तक में] स्वप्न की भांति चला गया। पांच जनो ने मिल कर मंडप छाया था, और तीन जनों ने मिल कर [विवाह की] लग्न लिखाई थी। सखियों-सहेलियों ने मंगल-गान किया था और [गार्हस्थ्य के] सुख-दुःख को हल्दी के रूप में मैंने मस्तक पर चढ़ाया था। नाना प्रकार से मेरी भांवरें फिरी थी, और मेरी गांठ मेरे बाबा (पिता) ने मुझे [मेरे] पति [को देने] के लिए उससे जोड़ी थी। किन्तु सुहाग के पूर्ण होते ही मैं बिना पति की हो गई, और चौक (विवाह-वेदी) के उस रंग

(उल्लास) में मैंने सगे भाई को पकड़ लिया। अपने पुरुष का मुंह कभी न देख पाई थी, यह सती होते समय लोगों ने समझाया तो समझी। कबीर कहता है, मैं चिता रच कर मरूंगी, और तूर्य बजाकर अपने कांत को लेकर तिरूंगी।

नारी जीवात्मा है। पांच जन शरीर के पंचतत्त्व हैं। तीन जन त्रिगुण हैं। विवाह जीवात्मा का परमात्मा के साथ निश्चित हुआ था, किन्तु उसने सगे भाई मन को पकड़ लिया। परिणामतः पति से वह वंचित हो गई। अब वह पति को प्राप्त करने के लिए उसका स्मरण करती हुई जीवन का अन्त करना चाहती है, यही उसका चितारोहण करना है।

धीरैं धीरैं खाइबौ अनत न जाइबौ।
रांम रांम रांम रमि रहिबौ ॥टेक॥

पहली खाई आई माई। पीछे खै (खाई ?) हूं सगी जंवाई।
खाया देवर खाया जेठ। सब खाया सुसर का पेट॥
खाया सब पटण का लोग। कहै कबीर तब पाया जोग ॥२५॥

अर्थ—मुझे धीरे-धीरे [सभी को] खाना है, अन्यत्र नहीं जाना है, 'राम' 'राम' (नाम के स्मरण) में रम रहना है। पहले मैंने आर्या (पिता की माता) और [अपनी] माता को खाया, फिर मैंने सगे दामाद को खाया; देवर को खाया, जेठ को खाया, और ससुर का जो पेटा (परिवार—कुल) था, उस सभी को खा डाला। [फिर] पट्टन (पत्तन) के समस्त लोगों को खा डाला। कबीर कहता है, तब [पति से] मैंने योग (संयोग) प्राप्त किया।

डाकिनी जीवात्मा है। विभिन्न संबंधियों की जो सूची है, वह सांसारिक व्यवहार के किन विशिष्ट तत्त्वों को सूचित करती है, यह स्पष्ट नहीं जान पड़ता है। विभिन्न संबंधियों को खाने के बाद संयोग की प्राप्ति होती है, इसका आशय यह है कि संसार के जितने भी संबंध हैं जब तक उन्हें समाप्त करके एकमात्र स्वामी (हरि) में चित्त को लगा कर उनका स्मरण नहीं किया जाता है, तब तक उनसे संयोग नहीं होता है।

मन मेरो रहटा रसन पुवरिया।
हरि कौ नांउ लै लै काति बहुरिया ॥टेक॥

चारि खूंटी दोइ चमरख लाई। सजि रहटवा दीयौ चलाई॥
सासू कहै काति बहू ऐसैं। बिन कातैं निसतारिबौ कैसैं॥
कहै कबीर सूत भल काता। रहटां नहीं परंम पद दाता ॥२६॥

अर्थ—मेरा मन रहटा (अरघट्ट—चरखा) है और मेरी रसना [सूत] पूरने वाली [तकुर्दा] है। मैं वधू (आत्मा), हरि (स्वामी) का नाम ले-लेकर [कात रही] हूं। उस चरखे में चार खूंटियां और दो चमरख (चर्म के दो टुकड़े जिनमें से होकर तकुला घूमता है) लगा कर सहज से मैंने रहटा (चरखा) चला दिया। सास कहने लगी, "वधू, इसी प्रकार कात, बिना काते

कैसे निस्तार होना है ?" कबीर कहता है, मैंने भला सूत काता; यह रहटा (चरखा) नहीं, परम पद का देने वाला है।

रहटा (चरखा) मन है और रसना तकुली है। सूत्र ध्यान का है। चरखे की चार खूटियां अन्तःकरण-चतुष्टय है : मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार। दो चमरख प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के मार्ग हैं।

अब की घरी मेरी घर करसी।
साध संगति ले मोकौं तिरसी ॥टेक॥

पहली को घाल्यौ भरमत डोल्यौ, सच कबहूं नहीं पायौ।
अब की धरनि धरी जा दिन थें, सगली भरम गमायौ ॥
पहली नारि सदा कुलवंती, सासू सुसरा मांनैं।
देवर जेठ सबनि की प्यारी, पिय कौ मरम न जांनैं ॥
अब की धरनि धरी जा दिन थें, पीव सूं बांन बन्यूं रे।
कहै कबीर भाग बपुरी कौ, आइ र रांम सुन्यूं रे ॥२७॥

अर्थ—अब की बार तू मेरा घर करेगी (बसाएगी), और साधु-संगति लेकर मुझको तारेगी। पहली [स्त्री] का डाला (छोड़ा) हुआ मैं भ्रमता (भटकता) ही फिरा, कभी भी सच (सुख) नही पाया। अब की बार जिस दिन से धरनि धरी है (संकल्प किया है), समस्त भ्रम मैंने गंवा दिया है। पहली नारी सदैव कुलवंती रही, वह सास-ससुर को मानती रही, देवर-जेठ [आदि] सभी की प्रिय रही, किन्तु प्रिय (पति) का मर्म नहीं जानती थी। अब की बार जिस दिन से मैंने धरनि धरी है (संकल्प किया है), तुझ प्रिया से [मेरा] वर्ण बन गया है। कबीर कहता है, यह इस बेचारी का भाग्य है कि राम (स्वामी) ने आकर इसकी सुन ली है।

पद में वर्णित दो स्त्रियां क्रमशः प्रवृत्ति तथा निवृत्ति की हैं, प्रवृत्ति से संसार के सभी संबंधी प्रसन्न रहते हैं, केवल स्वामी की उसमें उपेक्षा होती है, निवृत्ति से केवल स्वामी प्रसन्न होता है, शेष संसार की उपेक्षा होती है। राम आत्मा है (दे० आसावरी २)।

मेरी मति बौरी रांम बिसार्यौ, किहि बिधि रहनि रहूं हो दयाल।
सेजैं रहूं नैंन नहीं देखूं, यह दुख कासूं कहूं हो दयाल ॥टेक॥
सासु की दुखी सुसर की प्यारी, जेठ के 'तरसि'[1] डरूं रे।
नणद सहेली ग्रब गहेली, देवर कै बिरह जरौं हो दयाल ॥
बाप सावगी करै लराई, माया सद मतिवाली।
'सगौ भईया लै सलि चढ़िहं'[2], तब ह्वै हूं पीयहि पियारी ॥
'सोचि बिचारि देखौं मन मांहीं, औसर आइ बन्यूं रे'[3]।
'कहै कबीर सुनहुं मति सुंदरि, राजा रांम रमौं रे'[4] ॥२८॥

अर्थ—मेरी मति बावली है, क्योंकि राम ने मुझे विस्मृत कर दिया है। हे दयालु, किस प्रकार से मैं रहनी रहूं ? शैया में रहती हूं, किन्तु [तुम राम

को] नेत्रों से नहीं देखती हूं, यह दुःख, हे दयालु, किससे कहूं ? सास के दु:ख वाली—सास से हीन हूं, किन्तु ससुर की प्यारी हूं, जेठ के त्रास (डर) से डरती रहती हूं; ननदें और सहेलियां गर्व-ग्रस्ता हैं, मैं देवर के विरह में जलती रहती हूं। बाप मेरा जो श्रावक है, लड़ाई करता है, मेरी माया (माता) सद्यः मत्ता है। सगे भाई को लेकर सर (चिता) पर चढ़ूंगी, तब प्रिय की प्रिया हूंगी। सोच-विचार कर देखा कि इस समय उपयुक्त अवसर आ बना है। कबीर कहता है, ऐ मति-सुंदरी, सुनो, [अब] मैं राजा राम से रमण करती हूं।

यह पद 'उलटबासी' का है। अंत में मति-सुंदरी को संबोधन है, इसी से पद की कुंजी मिल जाती है। पहले चरण में भी मति की शिकायत की गई है। और मति बुद्धि का पर्याय है। सास भक्ति है, ससुर ईश्वर है, जेठ ज्ञान है, ननदें और सहेलियां साधक की विविध भावनाएं है, देवर योगी है, बाप श्रावक (अनीश्वरवादी) माया-लिप्त जीव है, माता माया है, सगा भाई मन है (यथा रामकली २४ में), राम आत्मा है (दे० आसावरी २)।

पाठान्तर—पं० आसा २५। १. पं० में यह है : 'नासि'। संगत दोनों हैं, किन्तु मूल पाठ कदाचित् 'तरसि' (<तरासि : त्रासि) था, जिसकी क्लिष्टता के कारण सुगमतर पाठ 'नासि' की कल्पना की गई ज्ञात होती है।

२. पं० में यह है : बडे भाई कै जब संगि होती। बड़े भाई के संग होना कोई अनुचित बात नहीं है, किन्तु पद की उलटबासी के अनुरूप पाठ राज० का ही है, और 'सरि' (सर पर) 'चढिहूं' (चढ़ूंगी) के अर्थ से अपरिचित होने के कारण ही कदाचित् 'संगि होती' पाठ की कल्पना की गई।

३-४. पं० में ये हैं—

कहत कबीर पंच को झगरा झगरत जनमु गवाइआ।
झूठी माइआ सभु जगु बाधिआ मैं राम रमत सुखु पाइआ।

दोनों पाठों में समानता पद के अंतिम शब्दों में ही है, और दोनों पाठ संगत लगते हैं, किन्तु पं० के 'झगरा' और 'झगरत' में अनावश्यक पुनरुक्ति है, जो राज० में नहीं है।

अवधू ऐसा ग्यांन विचारी।
तार्थें भई पुरिष थैं नारी ॥टेक॥

नां हूं परनी नां हूं क्वारी, पूत जनौं द्योहारी।
कारौं(?) मूंड़ कौ एक न छोड्यौ, अजहूं अकन (अकन) कुवारी ॥
बाम्हन कै बम्हनेटी कहियूं, जोगी कै घरि चेली।
कलमा पढ़ि पढ़ि भई तुरकनी, अजहूं फिरौं अकेली ॥
पीहरि जाऊं न रहौं सासुरैं, पुरषहि अंगि न लाऊं।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, अंगहि अंग न छुवांऊं ॥२६॥

अर्थ—मैं अवधूत ऐसा ज्ञान विचार कि इस से (जिस कारण से) मैं पुरुष से नारी हो गई। न मैं परिणीता हूं, न कुमारिका, [फिर भी] पुत्रों को

दिन-दिन जन्म देती रहती हूं। काले मुंड़ वाले (युवक) को एक भी न छोड़ा, और आज भी [अपने को] कुमारी सुनती हूं। ब्राह्मण के यहां ब्राह्मणी, योगी के यहां चेली (चेटिका) कहलाती हूं, कलमा पढ़-पढ़कर मैं तुर्किनी हुई, और आज भी अकेली फिर रही हूं। न मैं पितृ-गृह जाती हू और न सासुरे मे रहती हूं, पुरुष (पति) से अंग भी नही लगाती हूं। कबीर कहता है, हे संतो. सुनो मैं अंग से अंग नही छुआती हूं।

पद की नारी माया है। पुरुष से इसके स्त्री होने का आशय है बलशालिनी होते हुए भी मोहिनी होना। इसके पुत्र विविध मनोविकार है। यह काले वालों (युवावस्था) को अधिक प्रभावित करती है। इसका पीहर मोह या अज्ञान का है। इसका सासुर ज्ञान का है। पुरुप आत्मा है।

मींठी मींठी माया तजणीं न जाई।
अग्यांनीं पुरिस कौ भोलवि भोलवि खाई ॥टेक॥
न्रिगुण स्रगुंण नारी संसारि पियारी।
लखमणि त्यागी गोरखि निवारी ॥
कीड़ी कुंजर मैं रही समाई।
तीनि लोक जीत्या माया किनहूं न खाई ॥
कहै कबीर पद लेहु विचारी।
संसारि आइ माया किनहूं एक कही खारी ॥३०॥

अर्थ—मीठी माया त्यागी नहीं जाती है, वह अज्ञानी पुरुप को भुलावे मे डाल-डाल कर खाती है। वह निर्गुण और सगुण (श्लेप से गुणहीन और गुणी) [पुरुष] की नारी है, संसार भर मे प्यारी [मानी जाती] है, लक्ष्मण ने इसका त्याग किया, गोरख ने इसका निवारण किया। कीटी से कुंजर [तक] में यह समाई रही है, इसने तीनों लोको को जीत रक्खा है, किन्तु [इस] माया को किसी ने नही खाया है। कबीर कहता है कि इस पद का विचार कर लो, संसार में आ कर माया को किन्हीं-एक (विरलो) ने ही खारा कहा है।

मन कै मैलौ बाहरि ऊजल कैसौ रे।
खांडे की धार जन कौ धरम इसौ रे ॥टेक॥
हिरदा कौ बिलाव नैंन बग ध्यानीं। ऐसी भगति न होइ रे प्रांनीं ॥
कपट की भगति करै जिनि कोई। अंत की बेर बहुत दुख होई ॥
छांड़ि कपट भजहु रांम राई। कहै कबीर तिहं लोक बड़ाई ॥३१॥

अर्थ—तू मन करके (से) मैला और बाहर से ऊजला कैसा है? [हरि के] जन (सेवक) का धर्म खड्ग की धार ऐसा (जैसा) है। तू हृदय का विड़ाल और नेत्रों का वक-ध्यानी है, हे प्राणी, इस प्रकार की भक्ति नही होती है। कपट की भक्ति कोई न करे, क्योकि फिर अंत की वेला में उसे बहुत दुःख होता है। कपट को छोड़ कर रामराय का भजन कर; कबीर कहता है, [इससे] तीनों लोको में [तेरी] बड़ाई होगी।

चोखौ वनज व्यौ [पा] र करीजै।
आइ नैं दिसावरि रे रांम जपि लाहौ लीजै रे ॥टेक॥

जब लग देखौं हाट पसारा।
उठि उठि वाणिया रे करि लै वणिज सवारा रे ॥

वेगे हो तुम्ह लाद लदांनां।
औघट घाट रे चलनां दूरि पयांनां रे ॥

खरा न खोटा नां परिखांनां।
लाहे कारनि रे सब मूल हिरांनां रे ॥

सकल दुनीं मैं लोभ पियारा।
मूल ज राखै रे सोई वणिजारा रे ॥

देस भला परिलोक बिरांनां।
जन द्वै चारि न रे पूछौ साध सयांनां रे ॥

सायर तीर न वार न पारा।
कहि समझावै रे कबीर वणिजारा रे ॥३२॥

अर्थ—चोखा वाणिज्य-व्यापार करना चाहिए, देशावर (अपर देश) मे आकर 'राम' जप का लाभ लेना चाहिए। जब तक तू हाट का पसार देखता है, ऐ वणिक्, उठ, उठ, और समस्त वाणिज्य कर ले। शीघ्र ही तुझे लादना-लदाना होगा, अवघट (अटपटे) घाट से चलना और दूर [के लिए] प्रयाण करना होगा। न खरा रह गया, और न खोटा रह गया, परखने के लिए कुछ नहीं रह गया, लाभ के कारण (लोभ मे) समस्त मूल हत (अपहृत) हो गया। समस्त दुनिया में लोभ प्रिय है, किन्तु जो मूल की रक्षा कर ले, वही बनजारा (वाणिज्य-कारक) है। देश भला है, परलोक अन्य का है (अपरिचित है), दो चार जनों, साधु-सयानों से पूछ न ले। ऐसे सागर के तीर पर तू है जिसका वार-पार नहीं है। कबीर इस प्रकार बनजारे (वाणिज्य-कारक) को कह कर समझा रहा है।

बनजारा जीव है। मूल धन चेतना है। सागर संसार या भव का है।

जौ मैं ग्यांन विचार न पाया।
तौ मैं यूं ही जन्म गंवाया ॥टेक॥

यहु संसार हाट करि जांनूं, सब कोई वणिजण आया।
चेति सकै सो चेतौ रे भाई, मूरिख मूल गंवाया ॥
थाके नैन बैन भी थाकै, थाकी सुंदर काया।
'जांमण मरण ए द्वै थाके'[1], एक न थाकी माया ॥
'चेति चेति मेरे मन चंचल'[2], जब लग घट मैं सासा।
'भगति जाव पर भाव न जइयौ'[3], हरि के चरन निवासा ॥

जे जन जांनि जपैं जग जीवन, तिनका ग्यांन न नासा।
कहै कबीर वै कबहूं न हारैं, जांनि ढारैं पासा ॥३३॥*

अर्थ—यदि मैंने ज्ञान का विचार न पाया, तो मैंने यों ही जीवन गँवा दिया। इस संसार को हाट करके जानता हूं, सभी कोई यहां वाणिज्य करने को आया है। चेत सको तो, हे भाई, चेत लो, [अन्यथा] मूर्ख अपना मूलधन

---

* स० में यहां निम्नलिखित चार पद और हैं जो वि० में नहीं हैं :

लावो बाबा आगि जलावो घरा रे।
ता कारनि मन धंधै परा रे ॥टेक॥
इक डांइनि मेरे मन मैं बसी रे। नित उठि मेरे जीय को डसै रे ॥
या डाइन्य के लरिका पांच रे। निस दिन मोंहि नचांवै नाच रे ॥
कहै कबीर हूं ताकौ दास। डांइनि कै संगि रहै उदास ॥३३अ॥

बंदे तोहि बंदगी सौ कांम, हरि बिन जांनि और हरांम।
दूरि चलणां कूंच बेगा, इहां नहीं मुकांम ॥टेक॥
इहां नहीं कोई यार दोस्त, गांठि गरथ न दाम।
एक एकै संगि चलणा, बीचि नही बिश्रांम ॥
संसार सागर बिषम तिरणां, सुमरि लै हरि नांम।
कहै कबीर तहां जाइ रहणां, नगर बसत निधांन ॥३३आ॥

झूठा लोग कहै घर मेरा।
जा घर मांहैं बोलै डोलै, सोई नहीं तन तेरा ॥टेक॥
बहुत बंध्या परिवार कुटुंब मैं, कोई नही किस केरा।
जीवत आंपि मूंदि किन देखौ, संसार अंध अंधेरा ॥
बस्ती मैं थैं मारि चलाया, जंगलि किया बसेरा।
घर कौ खरच खबर नही भेजी, आप न कीया फेरा ॥
हस्ती घोड़ा बैल बांहणी, संग्रह किया घणैरा।
भीतरि बीबी हरम महल में, साल मियां का डेरा ॥
बाजी की बाजीगर जांनै, कै बाजीगर का चेरा।
चेरा कबहूं उझकि न देखै, चेरा अधिक चितेरा ॥
नौ मन सूत उरझि नहीं सुरझै, जनमि जनमि उरझेरा।
कहै कबीर एक रांम भजहु रे, बहुरि न ह्वैगा फेरा ॥३३इ॥

हावड़ि धावड़ि जनम गंवावै।
कबहूं न रांम चरन चित लावै ॥टेक॥
जहां जहां दांम तहा मन धावै। अंगुरी गिनतां रैंनि बिहावै ॥
तृया का बदन देखि सुख पावै। साध की संगति कबहूं न आवै ॥
सरग के पंथ जात सब लोई। सिर धरि पोट न पहुंच्या कोई ॥
कहै कबीर हरि कहा उबारै। अपणैं पांव आप जौ मारै ॥३३ई॥

भी यहां गंवा देता है नेत्र थक गए हैं, वचन थक गया है, सुंदर काया थक गई है, जन्म और मरण ये दो थक गए हैं, एकमात्र माया नही थकी है। ऐ मेरे चंचल मन, तू तब तक में चेत ले जब तक घट मे श्वास है, भक्ति [का स्थूल रूप] जाए तो जाए, भाव न जाए, तो हरि के चरणों में निवास हो जाए। जो जग जीवन को जान कर जपते है, उनका ज्ञान नही नष्ट होता है। कबीर कहता है, वे कभी नही हारते है जो जान कर पासा ढारते है।

पाठान्तर—पं० गूही ४। १. पं० में यह है : 'जरा हाक दी सभ मति थाकी'। राज० का पाठ असंभव लगता है, क्योंकि यदि जन्म-मरण थक कर बैठ रहे, तो टेक के 'यो ही जनम गंवाया' की संगति नही रह जाती है। पं० में यह त्रुटि नहीं है।

२. पं० में यह है : 'तब लगु प्रानी तिसै सरेवहु'। राज० की संगति स्पष्ट है। पं० के चरण का अर्थ होगा : जब तक घट (शरीर) में श्वास [रहता] है, तब तक उस प्राणी [के जीवन] का आसरा करते हो। यह अर्थ भी संगत लगता है।

३. पं० में यह है : 'जि घटु जाइ त भाउ न जासी'। स्पष्ट ही पं० संगत है, और राज० असंगत, क्योंकि 'भक्ति भले ही जाए भाव न जाए'—यह कथन कुछ न कुछ अन्तर्विरोधपूर्ण ज्ञात होता है।

४. राज० के चरण ३-४ पं० मे नही है। ये संगत हैं और किसी कारण-वश पं० में छूटे लगते हैं।

५. पं० के निम्नलिखित चरण राज० में नही है—

जिनकउ सबदु बनावै अंतरि चूकै तिसहि पिआसा।
हुकमै बूझै चउपड़ि खेलै मनु जिणि ढाले पासा॥

चौपड़ के खेल की उक्ति पद के अंतिम चरण मे भी आती है, इसलिए पं० में पुनरुक्ति प्रतीत होती है, पुन: उद्धृत प्रथम चरण का अर्थ स्पष्ट नही है, और उसकी न संगति स्पष्ट है, इसलिए ये चरण संदिग्ध लगते है।

प्रांणीं काहे कै लोभ लागि, रतन जनम खोयौ।
'बहुरि हीरा हाथि न आवै, रांम बिनां रोयौ'[1] ॥टेक॥
जल बूंद थैं ज्यनि प्यंड बांध्या, अग्नि कुंड रहाया।
दस मास माता उदरि राख्या, बहुरि लागी माया॥
एक पल जीवन की आस नहीं, जम निहारै सासा।
बाजीगर संसार कबीरा, जांनि ढारौ पासा॥३४॥

अर्थ—ऐ प्राणी, किस [वस्तु] के लोभ के लिए तूने जन्म-रत्न को खो दिया ? पुन: यह हीरा (मनुष्य-जन्म) हाथ नही आता है, और तू राम बिना रोता ही रहा (रहेगा)। जिन्होंने जल-बिंदु (वीर्य) से पिंड (शरीर) को बांधा (निर्मित किया) और अग्नि-कुंड (माता के जठर) में तुझ को रक्खा, दस मास तक माता के उदर मे रक्खा [उनका स्मरण तू ने छोड़ दिया], और पुन: [जन्म

लेते ही] तुझे माया लग गई। एक पल की भी जीवन की आशा नहीं है, यम तेरे श्वासों को देखता (गिनता) रहता है। कबीर कहता है, संसार बाजीगर [का बिछाया हुआ खेल] है, तू जान (समझ) कर पासा (पार्श्व) ढाल।

पाठान्तर—पं० आसा २३। १. पं० में यह है—

पूरब जल जनमि करम भूमि बीजु नांहीं बोइया।

कर्मों में कबीर का विश्वास नहीं था (दे० भूमिका), इसलिए पं० की संभावना नहीं लगती है। राज० इस त्रुटि से मुक्त है।

२. पं० मे निम्नलिखित चरण और है जो राज० में नही है—

बारिक ते बिरधि भइआ होना सो होइआ।
जा जमु आइ झोट पकरै तबहि काहे रोइआ॥

बाद के एक चरण (राज० चरण ५) में यम-संबंधी एक उक्ति पुनः आती है, इसलिए एक प्रकार से पं० में पुनरुक्ति है जो राज० में नही है।

फिरत कत फूल्यौ फूल्यौ फूल्यौ।
जब दस मास उरध मुखि होतौ, सो दिन काहे भूल्यौ ॥टेक॥
जौ जारै तौ होई भसम तन, रहत क्रम ह्वै जाई।
'काचैं कुंभि उदिक भरि राख्यौ, तिनकी कौंन बड़ाई'[1] ॥
ज्यूं माषी मधु संचि करि, जोरि जोरि धन कीनौं।
मूयैं पीछैं लेहु लेहु करि, प्रेत रहन क्यूं दीनौं॥
'ज्यूं घर नारी संग देखि करि, तब लग संग सुहेलौ'[2]।
मरघट घाट खैंचि करि राखे, वह देखहु हंस अकेलौ॥
'रांम न रमहु मदन कहा भूले, परत अंधेरैं कूवा'[3]।
कहै कबीर सोई आप बंधायौ, ज्यूं नलनीं का सूवा ॥३५॥

अर्थ—तू फूला-फूला क्यों फिरता है? जब दस मास तक तू माता के गर्भ में ऊर्ध्व मुख था, वह दिन तू क्यों भूल गया? यदि जलाया जाता है, तो शरीर (शव) भस्म हो जाता है, और यदि रखखा रहता है तो कृमि हो जाता है। कच्चे कुंभ [जैसे शरीर] में उदक [जैसे प्राण] भर कर रक्खे हुए हैं, यह उन (दोनों?) की कौन सी बड़ाई है? [तुमने ऐसा ही किया] जैसा मक्खी ने; जैसे उसने मधु का सचय कर-कर जोड-जोड़ कर धन किया था। तुम्हारे मरने के पीछे उसको 'लो' 'लो' करेंगे और कहेगे 'प्रेत (शव) को क्यो रहने देते हो?' जैसे घर की स्त्री को [शव के] साथ [जाती] देख कर तब तक तो उस (मृत) के सखा साथ मे लग जाते हैं, किन्तु जब श्मशान घाट पर शव को खीच कर रक्खा जाता है, देखो, हंस (जीव) अकेला ही [कूच करता] है! [फिर भी] तुम राम में रमण नही करते हो! तुम [रूप-यौवन-धनादि के] मदों मे क्या (क्यो) भूले हुए हो, और अंध-कूप में पड़ रहे हो? कबीर कहता है, तुमने अपने को [संसार से] उसी प्रकार बंधा लिया है जैसे नलिनी (नली) का शुक होता है।

शुक को पकड़ने के लिए पहले वधिक एक घूमने वाली नली लगा देता था, शुक आकर उस पर बैठ जाता था और वह नली के फिरने के साथ फिरता रहता था, इससे वह समझता था कि नली से बँध गया है, तब तक वधिक आकर उसे पकड़ लेता था।

पाठान्तर—पं० सोरठि २। १. पं० में यह है:

काची गागरि नीर परत है, इआ तन की ईहै वड़ाई।

अर्थात् जैसे कच्ची गागर में जल पड़े [और वह गल जाए], इस शरीर की इतनी ही बड़ाई है। दोनों पाठों में भेद वाक्य-रूप का ही है, अर्थ में दोनों समान हैं।

२. पं० में यह है: 'देहुरा लउ बरी नारि संग भई आगे सजन सुहेला'। दोनों पाठ समान रूप से संगत लगते हैं।

३. पं० मे यह है: 'कहत कबीर सुनहु रे प्रानी परे काल ग्रस कूआ।' 'काल ग्रस कूआ' का आशय स्पष्ट नहीं है। राज० की संगति प्रकट है।

जाइ रे दिन हीं दिन देहा।
करि लै बौरी रांम सनेहा ॥टेक॥

बालापन गयौ जोबन जासी। जुरा मरण भौ संकट आसी ॥
पलटे केस नैंन जल छाया। मूरिख चेति बुढ़ापा आया ॥
रांम कहत लज्या क्यूं कीजै। पल पल आउ घटै तन छीजै ॥
लज्या कहै हूं जंम की दासी। एकै हाथि मुदिगर दूजै हाथि पासी ॥
कहै कबीर तिनूं सब हार्‌या। रांम नाम जिनि मनहुं बिसार्‌या ॥२६॥

अर्थ—ऐ देह, तू दिन ही दिन जा रही है, [ऐ बावली], तू राम से स्नेह कर ले। बचपन चला गया, यौवन [भी] चला जाएगा, जरा और मरण भव (संसार में जन्म के) संकट के रूप में आएंगे [ही]; केश पलट गए (श्वेत हो गए), नेत्रों में जल छाने लगा, ऐ मूर्ख, तू चेत, बुढ़ापा आ गया। राम कहते हुए क्यों लज्जा की जाए? पल-पल आयु घट रही है और तनु नष्ट हो रहा है। लज्जा कहती है, "मैं यम की दासी हूं, मेरे एक हाथ में मुद्गर और दूसरे हाथ में पाशिका (फांसी) है।" [इसलिए] कबीर कहता है, उन्होंने सब कुछ गंवा दिया जिन्होंने मन से राम-नाम को विस्मृत कर दिया।

मेरी मेरी करतां जनम गयौ।
'जनम गयौ परि हरि न कह्यौ'[1] ॥टेक॥

बारह बरस बालापन खोये, बीस बरस कछु तप न कीयौ।
तीस बरस कै रांम न सुमिर्‌यौ, फिरि पछितांनौं बिरध भयौ ॥
सूकै सरवर पालि बंधावै, लुणै खेत 'हठि बाड़ि'[2] करै।
आयौ चोर तुरंगम ले गयौ, 'मोरी'[3] राखत मुगध फिरै ॥

सीस चरण कर कंपन लागे, 'नैंन नीर असराल बहै'[४]।
जिभ्या वचन सुध नहीं निकसत, तब सुक्रत की बात कहै।।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, धन सच्यो कछु संगि न चल्यौ (गयौ ?)।
आई तलब गोपाल राइ की, 'मैंड़ी मंदिर'[५] छाड़ि चल्यौ ।।३७।।

अर्थ—'मेरी'-'मेरी' करते हुए [तुम्हारा] जन्म चला गया; जन्म चला गया किन्तु तुमने 'हरि' न कहा। तुमने बारह वर्ष तो बचपन में खोए, बीस वर्षों तक कुछ तप न किया, और तीस वर्षों तक राम का कुछ भी स्मरण न किया, फिर वृद्ध होने पर पछताए! यह वैसा ही हो रहा है जैसे सरोवर के सूख जाने पर तू [उसके पानी को रोकने के लिए उसके चारों ओर] पाल (मिट्टी का बांध) बँधाए अथवा उस खेत में हठपूर्वक [उसकी सुरक्षा के लिए] बाड़ करे जो कट चुका है, [अथवा जैसे] चोर आकर [तेरे] घोड़े को ले गया हो और तू मुग्ध (मूर्ख) उस घोड़े की मोरो (मैंड़ी—मंडपिका ?) की [जिसमें घोड़ा बंधा हुआ था] रखवाली करता फिर रहा हो! सिर, चरण, तथा हाथ कांपने लगे है, नेत्रों से लगातार पानी वहता रहता है, और जिह्वा से शुद्ध वचन नहीं निकलते है, तब तू सुकृत की बाते करता है। कबीर कहता है, हे संतो, सुनो, [जिसने भी] जो धन संचित किया, वह कुछ भी उसके साथ न गया। जभी गोपाल राय की तलब (आदेश-पत्रिका) आई (आती है), मैंड़ी (मंडपिका) और मंदिर (प्रासाद) छोड़ कर [मनुष्य] चला (चल देता है)।

पाठान्तर—पं० आसा १५। १. पं० मे यह है: 'सइरु सोखि भुजं बलइयो।' इस पाठ का आशय स्पष्ट नही है। लगता है कि पं० किसी क्लिष्ट पाठ का कोई बिगड़ा हुआ रूप प्रस्तुत करता है, और राज० उसी क्लिष्ट पाठ का सरल स्थानापन्न देता है।

२. पं० मे राज० 'हठि वाड़ि करै' के स्थान पर है 'हथ वारि करै'। पं० अर्थहीन है, राज० ही सार्थक है।

३. पं० यह 'मेरी' है। राज० 'मोरी' से 'मोहरी' या 'मुहड़ी' का अर्थ लिया गया है, किन्तु रचना में अन्यत्र 'मुहड़ी' के लिए राज० 'मुहरा' तथा पं० 'मुहार' आए हैं (राज० गौड़ी २५—पं० गउड़ी ३१), इसलिए 'मोरी' का अर्थ और उसकी संगति संदिग्ध है। 'मेरी' < मैंड़ी < मंडपिका है, जो राज० में अंतिम चरण में भी आता है: 'मैंड़ी' मंदिर छाड़ि चल्यौ' और वह सर्वथा संगत है।

४. पं० में यह है: नैनी नीरु असार वहै'। नैनी 'नैनि'—नेत्रों से है। किन्तु 'असार'—सारहीन असंगत लगता है। संगत राज० का असराल—निरंतर है।

५. पं० में यह 'माइआ मंदर' है। राज० का 'मैड़ी मंदिर' ही संगत है, पं० का यह पाठ मूल 'मैंड़ी' के क्लिष्ट होने के कारण आया हुआ ज्ञात होता है।

जाहि (?) जांती नांव न लीया।
फिरि पछितावैंगी रे जीया ॥टेक॥

धंधा करत चरन कर घाठे; आव घटी तन खींना।
विषै विकार बहुति रुचि मांनीं, माया मोह चित दींन्हां, रे॥
जागि जागि नर काहे सोवैं, सोइ सोइ कब जागैगा।
जब घर भीतरि चोर पड़ैंगे, तब आंचलि किस कैं लागैगा॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, करि ल्यौ जे कछु करणां।
लखि चौरासी जोनि फिरौगे, विनां रांम की सरनां॥३८॥

अर्थ—यदि (?) तूने [काल की] जांती (यंत्रिका—छोटा जांता) में [पड़ कर भी] [राम का] नाम न लिया, तो ऐ जीव, तू पछताएगा। धन्धे करते-करते तेरे चरणों और हाथों में घठा पड़ गया, तेरी आयु घट (समाप्त हो) गई और तेरा तनु क्षीण हो गया! विषय-विकारों में तू ने बहुत रुचि मानी, और माया-मोह में तू ने [अपना] चित्त दिया। ऐ मनुष्य, तू जाग, जाग, तू क्यों सोता है, सो-सो कर तू कब जागेगा? जब घर के भीतर चोर [घुस] पड़ेंगे, तब तू [सहायता के लिए] किसके अंचल से लगेगा? कबीर कहता है, हे संतो, सुनो, जो कुछ करना है, कर लो; राम की शरण के बिना तुम चौरासी लाख योनियों में फिरते रहोगे।

माया मोहि मोहि हित कीन्ह।
तायैं मेरौ ग्यांन रतन हरि लीन्ह ॥टेक॥

संसार ऐसा सुपिन जैसा, जीवन सुपिन समांन।
सांच करि नरि गांठि बांध्यौ, छाड़ि परंम निधांन॥
नैंन नेह पतंग 'हुलसै'[1], पसूं न पेखै आगि।
काल पासि 'जु मुगध बांध्या'[2], कलं (नं) क कामिनीं लागि॥
करि विचार विकार परिहरि, तिरण तारण सोइ।
कहै कबीर रघुनाथ भजि नर, दुती नांहीं कोइ॥३९॥

अर्थ—माया से मुग्ध हो-हो कर मैंने प्रेम किया, इससे [उसने] मेरा ज्ञान-रत्न हर (छीन) लिया। संसार ऐसा है जैसा स्वप्न [होता है], और जीवन स्वप्न के समान है, किन्तु ऐ मनुष्य, तू ने परम निधान को छोड़ कर [संसार को] सच्चा [समझ] कर उसको गांठ में बांधा! पतिंगा नेत्रों के स्नेह (आकर्षण) के कारण उल्लसित होता है, और वह पशु अग्नि को नहीं देखता है। तू भी मुग्ध (मूर्ख), जो काल-पाश में बांधा गया है, वह कनक और कामिनी के कारण [बंधा है]! विचार कर तू पंच विकारों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मदादि) का परित्याग कर, वही तेरा तरना, और तुझे तारने वाला होगा। कबीर कहता है, ऐ मनुष्य, तू रघुनाथ का भजन कर, दूसरा कोई नहीं है।

पाठान्तर—पं० आसा २७। १. पं० मे यह 'उरझै' है। संगत राज० ही है, क्योंकि उसी 'उल्लास' में वह दीपक की अग्नि को देखता-सोचता नही है।

पं० में यह है 'न मुगधु चेतै'। 'पास' कर्म के लिए 'चेतना' उपयुक्त क्रिया नहीं ज्ञात होती है। राज० की 'बांधना' क्रिया ही उपयुक्त लगती है।

३. पं० में यह है 'कनिक'। राज० का 'कामिनी के कलंक के लिए' अथवा 'कामिनी और कलंक के लिए' असंगत लगता है। पं० का 'कनक और कामिनी के लिए' ही संगत लगता है।

ऐसा तेरा झूठा मीठा लागा।
ताथैं साचे सूं मन भागा ।।टेक।।
झूठे कै घरि झूठा आया, झूठा खांण पकाया।
झूठी सहनक झूठा वाह्या, झूठै झूठा खाया।।
झूठा ऊठण झूठा बैठण, झूठी सबै सगाई।
झूठे के रंगि झूठा राता, साचे को न पत्याई।।
कहै कबीर अलह का पंगुरा, साचे सूं मन लावौ।
झूठे केरी संगति त्यागौ, मन बंछित फल पावौ ।।४०।।

अर्थ—तेरा ऐसा [स्वभाव बन गया] है कि झूठ तुझे मधुर लगता है, इसी से सत्य से तेरा मन भाग निकला है। झूठे के घर झूठा आया, तो खाना उसने झूठ का पकाया, झूठी सहनक (?) को झूठा ही उसने वाहा (किया) और झूठे ने झूठा ही खाया : झूठा उठना, झूठा बैठना, और समस्त सगाई (स्वकीयता, आत्मीयता) झूठी हुई, झूठे के रंग (स्नेह) में झूठा रक्त (अनुरक्त) हुआ, सच्चे की प्रतीति वह नही करता है। कबीर कहता है, ऐ अल्लाह के पंगुरो (बच्चो), [उस] सत्य से मन लगाओ। झूठे [संसार] की संगति छोड़ो, तो मन-वांछित फल पाओ।

कौण कौंण गया राम कौण कौंण न जासी।
पड़सी कायां घट माटी थासी ।।टेक।।
इंद्र सरीखे गये नर कोड़ी। पांचों पांडौं सरिखी जोड़ी।।
ध्रू अविचल नहीं रहसी तारा। चंद सूर भी आवसी बारा।।
कहै कबीर जग देखि संसारा। पड़सी घट रहसी निरकारा ।।४१।।

अर्थ—हे राम (आत्मा), कौन-कौन गया और कौन-कौन नहीं जाएगा? यह काया घट [कभी न कभी] पड़ेगा, और मिट्टी होगा। इन्द्र-सदृश लोग भी कोटि [की संख्या मे] जा चुके हैं, पांचों पांडव जैसी जोड़ियां जा चुकी हैं। ध्रुवतारा भी अविचल नहीं रहेगा, चंद्र और सूर्य की भी [जाने की] बारी आएगी। कबीर कहता है, तू जग (जाने वाले) संसार को देख; घट पड़ेगा और निराकार ब्रह्म ही रहेगा।

संबोधित 'राम' आत्मा है। (दे० ऊपर आसावरी २)

ताथैं सेविये नारांइणां ।
'प्रभू मेरौ दीनदयाल दया करणां'[1] ॥टेक॥
जौं तुम्ह पंडित आगम जांणौं, बिद्या व्याकरणां ।
तंत मंत सब ओषदि जांणौं, अंति तऊ मरणां ॥
राज पाट स्यंघासण आसण, बहु सुंदरि रमणां ।
चंदन चीर 'कपूर बिराजत'[2], अंति तऊ मरणां ॥
जोगी जती तपी संन्यासी, बहु तीरथ भ्रमणां ।
लुंचित मुंडित मोनि जटाधर, अंति तऊ मरणां ॥
'सोचि बिचारि सबै जग देख्या'[3], कहूं न ऊबरणां ।
कहै कबीर 'सरणाई आया'[4], मेटि जनम मरणां ॥४२॥

अर्थ—इसलिए नारायण की सेवा की जानी चाहिए कि मेरा प्रभु दीन-दयालु और दया करने वाला है । यदि तुम पंडित हो, आगमों (शास्त्रों) को जानते हो, विद्याओं और व्याकरणों को [जानते हो], तंत्रो, मंत्रों और समस्त ओषधियों को जानते हो, अंत में तो भी मरण है । [तुम्हारे पास] राज-पाट, सिंहासन, आसन, बहुत-सी रमणीय सुंदरियां, चंदन-चीर और कपूर विराजते हैं (शोभित होते हैं), तो भी अंत में मरण है । योगी, यती, तपी, संन्यासी तुम हो, और बहुतेरे तीर्थों का भ्रमण कर (करते) रहे हो, लुंचित (बालों को नोच-नोच कर जिसने सिर को गंजा कर लिया है), मुंडित (सिर मुंडित किए रहने वाले), मौनी, या जटाधारी तुम हो, अंत में तो भी मरण है । सोच-विचार कर मैंने समस्त जगत् को देख लिया, कहीं भी उबरना (बचना) नहीं है । इसलिए कबीर कहता है, "मैं तेरी शरण में आया हूं, तू मेरा जन्म-मरण मेट ।"

पाठान्तर—पं० आसा ५ । १. पं० में यह है : 'रसना राम नाम हितु जाकै कहा करै जमना । राज० प्रथम चरण के 'ताथैं' संयोजक के संदर्भ में राज० ही संभव लगता है, पं० नहीं ।

२. पं० में यह 'कपूर गुलाबक' है । पं० में 'चंदन चीर कपूर' की क्रिया नहीं है, राज० में उनकी क्रिया 'बिराजत' है, इसलिए राज० ही संभव लगता है ।

३. पं० में यह है : 'बेद पुरान सिम्रित सभ खोजे' । दोनों पाठ संगत लगते हैं । पं० का पाठ कबीर की विचारधारा में वैसे संगत न होता, किन्तु 'कहूं न ऊबरना' में उनकी व्यर्थता का जो कथन किया गया है, उससे वह संगत हो गया है ।

४. पं० में यह है : 'हउ रामहि जंपउ' । अपने-अपने अर्थों में दोनों पाठ संगत प्रतीत होते हैं ।

पांडे न करसि बाद बिबादं ।
या देही बिन सबद न स्वादं ॥टेक॥

पाठान्तर—पं० वसंत हिंडोल ७। १. पं० में यह 'जहा(हाँ)' है। 'कौन टांव' के साथ 'जहा (हा)' ही संगत लगता है, 'जिहि घरि' उतना नही।

२. पं० में यह है : 'जूठे ही फल लागे'। 'फल' से तात्पर्य संतान से है। पद के संदर्भ मे राज० का 'चित' असंगत लगता है।

३. पं० मे यह है 'जूठे मरहि'। 'जूठा जाना' आ चुका है, इसलिए पं० में पुनरुक्ति ज्ञात होती है, जो राज० में नही है।

४. पं० मे 'अंन जूठा' के स्थान पर 'अगनि भी जूठी' है। दोनों संगत है।

५. पं० में यह है 'साची परी बिचारा'—जो साचि (सत्यता में) पड़ कर विचार करते है। राज० अधिक संभव लगता है, क्योंकि प्रसंग सत्यासत्य का नही, 'जूठे' और 'शुच' का है।

चेति न देखै रे जग धंधा।
रांम नांम का मरम न जांनैं, माया कै रसि अंधा ॥टेक॥
जनमत हीं रु कहा ले आयो, मरत कहा ले जासी।
जैसे तरिवर वस्त (वसत) पंखेरू, दिवस चारि के बासी॥
आपा थापि अवर कूं नींदै, जनमत हीं जड़ काटी।
हरि की भगति बिनां यहु देही, धवलोटै हीं फाटी॥
कांम क्रोध मोह मद मछर, पर अपवाद न सुणियैं॥
कहै कबीर साध की संगति, रांम नांम गुण भणियैं॥४६॥

अर्थ—ऐ जगत्, तू चेत करके धंध (द्वन्द्व) को नहीं देखता है। तू राम-नाम का मर्म नही जानता है और माया के रस मे अंधा [हो रहा] है। जन्म लेते हुए तू क्या ले आया और मरते समय क्या ले जाएगा ? जैसे तरुवर पर पक्षी निवास करते हैं, उसी प्रकार तू भी चार दिनों का निवासी है। अपने को थाप (स्थापित—मान्य) करके तू औरों की निंदा करता है, जन्म लेते ही तूने [अपनी] जड काट दी है, हरि की भक्ति के बिना यह देह धौलोटे (दौड़-धूप) में ही फटी है। काम, क्रोध, मोह, मद, और मत्सर [से दूर रहते हुए] पर-निंदा न सुननी चाहिए। कबीर कहता है कि साधुओं की संगति में राम का नाम तथा उनके गुण कहे जाने चाहिए।

रे जंम नांहिन वै ब्यौपारी।
जे धरैं जगाति तुम्हारी ॥टेक॥
बसुधा छाड़ि बनिज निज कीन्हौं, लाद्यों हरि को नांऊं।
रांम नांम की गूंनि भराऊं, हरि कै टांडै जांऊं॥
जिनके तुम्ह अगिवांनीं कहियत, सो पूंजी हम पासा।
अबै तुम्हारा कछु बस नाहीं, कहै कबीरा दासा ॥४७॥

हे यम, मैं वह व्यापारी नहीं हूं जो तुम्हारी जकात (चुंगी या कर) धरे (स्वीकार करे)। मैने वसुधा को छोड़ कर निजु आत्मा का वाणिज्य किया है, और मैंने हरि का नाम [अपने प्ररोहणों पर] लादा है, राम-नाम

की गून (वारदाना) भराता हूं और हरि के टांड (सार्थ, कारवां) में मैं जाता हूं। जिनके तुम अगवानी (आगे-आगे चलने वाले) कहे जाते हो, वे [हरि] पूंजी के रूप में मेरे पास है। अभी [इसलिए] तुम्हारा कुछ वश नहीं है, [हरि का] दास कबीर [इस प्रकार] कहता है।

मीयां तुम्ह सौं बोल्यां बनि नहीं आवै।
हम मसकीन खुदाई बंदे, तुम्ह राजस मनि भावै ॥टेक॥
अलह अवलि दीन का साहिब, जोर नहीं फुरमाया।
'मुरिसद पीर तुम्हारै है को, कहौ कहां थैं आया'[1] ॥
रोजा करैं निवाज गुजारैं, कलमैं भिस्ति न होई।
सतरि कावे इक दिल भींतरि, जे करि जांनैं कोई ॥
खसम पिछांनि तरस करि जीव मैं, माल मनीं करि फीकी।
आपा जांनि सांई कूं जांनैं, तब ह्वै भिस्त सरीकी ॥
माटी एक भेष धरि नांनां, सब मैं ब्रह्म समानां।
कहै कबीर भिस्त छिटकाई, दोजग ही मन मानां ॥४८॥

अर्थ—हे मियां (मुसलमान बुजुर्ग), तुम से बोलने (बहस करने) से नहीं बन पड़ता है। हम मिसकीन (दीन-दुःखित) खुदा के बंदे (सेवक) हैं, और तुम्हें मन में राजस (रजो गुण) भाता है! अल्लाह ही सर्वप्रथम धर्म का स्वामी हुआ और उसने जोर-जुल्म करने का आदेश नहीं किया। तुम्हारे मुर्शिद और पीर कौन है, वे, कहो, कहां से आए? रोज़ा करने, नमाज़ गुजारने और कलमा [पढ़ने] से बहिश्त नहीं होता है। सत्तर काबे एक दिल के ही भीतर है, यदि कोई उन्हें करना जान ले। स्वामी को पहचान कर जी में तू त्रास कर, माल-मणि को फीका कर (उनसे चित्त को हटा); अपने को जान कर तू स्वामी को जानेगा, तब तू बहिश्त का शिरकतदार होगा। एक मिट्टी के नाना (अनेक) वेष धारण कर सभी में ब्रह्म समाया हुआ है। कबीर कहता है कि बहिश्त को छिटका छोड़ कर दोजख ही में मेरा मन माना हुआ है!

पाठान्तर—पं० आसा १७। १. राज० का चरण ४ पं० में नहीं है। यह पूर्व के चरण का पूरक होने के कारण पद में आवश्यक है और पं० में छूटा लगता है।

२. पं० में निम्नलिखित चरण ऐसे हैं जो राज० में नहीं है:—

नियाज कोई जो निआउ विचारै कलमा अकलहि जानैं।
पांचहु मूसि मुसल्ला बिछावै तब तउ दीनु पछानैं ॥

इस प्रकार की परिभाषाओं का—जैसी इन चरणों में है—पद में कोई प्रसंग नहीं है, और न इन पंक्तियों-जैसी दूसरी पंक्तियां हैं। इस प्रकार की परिभाषाएं एक अन्य पद में आती हैं (राज० भैरूं ६—पं० भैरउ ११)। इसलिए ये चरण मूल के नहीं ज्ञात होते हैं।

खालिक हरि कहीं दर हाल ।
पंज रंजसि करद दुसमन, मुरद करि पैमाल ॥टेक॥
भिस्त हुसकां दोजगां, दुंदर दराज दिवाल ।
पहनाम परदा ईत आतस, जहर जंगम जाल ॥
हम रफत रहबेर हुसमां, मैं खुरदा सुमां विसियार ।
हम जिमीं असमान खालिक, गुंद मुसिकल काल ॥
असमांन म्यानैं लहंग दरिया, तहां गुसल करदां बूंद ।
करि फिकर दद सालक जसम (चसम ?), जहां स तहां मौजूद ॥
हंम चु बूंदनि बूद खालिक, गरक हम तुम्ह पेस ।
कबीर पनह खुदाइ की, रह दिगर दावा नेस ॥५१॥

यह पद फारसी मे है और अनेक शब्दो के अर्थ स्पष्ट नही हैं, फिर भी नीचे यथा संभव अर्थ देने का एक प्रयास किया जा रहा है ।

अर्थ—ऐ ख़ालिक (सृष्टिकर्त्ता), तू हर कही और इस (हर) समय है; पंच (पंचतन्मात्राओं) अथवा उनकी इंद्रियो ने दुश्मनो की भांति रंजिश करके पायमाल कर मुझे मुर्दा कर दिया है । वहिश्त (स्वर्ग) और उसका (उसके सुख ?), दोजख़ (नर्क) तथा [उसकी] लंबी दुंद (द्वंद्व—अशांति) की दीवाले पहनाम (?) का पर्दा, ईति (दुःख-दुरापद), आतश (अग्नि), ज़हर (विष) और जंगम (जन्तुओं का) जाल [इसी जगत् मे है] । हम जाने वाले है, हम रहबेर (?) हम हुश्म (?) और ख़ुर्दा (अत्यल्प) है, तुम बिसियार (महान्) हो, हम जमीन हैं, तुम ऐ ख़ालिक (सृष्टिकर्त्ता), आसमान हो, और गुंद (?) मुश्किल (कठिन) कार्य है । आसमान (आकाश—ब्रह्मरंध्र) में जो लहंग (स्वर्गीय ?) नदी है, उसमें स्नान करना जानो और चिन्तन कर सालिक (धर्म और नीति का आचरण करने वाले) हो कर देखो, तो वह जहां-तहां (सर्वत्र) विद्यमान मिलेगा । अपने को जानना ही तुम (सृष्टिकर्त्ता) को जानना है, हम तुम्हारे आगे ग़र्क़ (ध्यानमग्न) हैं । कवीर ख़ुदा की शरण मे रहता है, दूसरे का जिसमे कोई दावा (अधिकार) नही है ।

पाठान्तर—दे० पूर्ववर्ती पद से संबंधित पाठान्तर टिप्पणी । १. राज० के 'दद साल जसमं' के स्थान पर पं० मे 'दाइम लाइ चसमे' है । राज० में पाठ-विकृति ज्ञात होती है, उसका अर्थ इसलिए स्पष्ट नही है : पं० स्पष्ट है, अर्थ है : सदैव चश्मे लगाकर, किन्तु उसके चश्मे किसके है, यह नही ज्ञात होता है ।

अलह रांम जीऊं तेरे नांई ।
बंदे परि मिहर करौ मेरे सांई ॥टेक॥
क्या ले माटी भुंइ सूं मारैं, क्या जल देह न्हवायें ।
जोर करै मसकीन सतावै, गुंन हीं रहैं छिपायें ॥
'क्या उजू जप मंजन कीयें'[1], क्या मसीति सिर नांयें ।
रोजा करैं निमाज गुजारें, क्या हज काबै जायें ॥

ब्राह्मण ग्यारसि करै चौबीसौं, काजी माह रमजांन ।
ग्यारह मास जुदे क्यूं कीये, एकहि मांहि समांन ॥
जौ र खुदाइ मसीति बसत (बसत) है, और मुलिक किस केरा ।
तीरथ मूरति रांम निवासा, दुहु में किनहूं न हेरा ॥
पूरिब दिसा हरी का बासा, पछिम अलह मुकांमां ।
दिल ही खोजि दिलै दिल भींतरि, 'इहां रांम रहिमांनां'[२] ॥
जेती औरत मरदां कहिये, सब मैं रूप तुम्हारा ।
कबीर पंगुड़ा अलह रांम का, 'हरि गुर पीर हमारा'[३] ॥५२॥

अर्थ—हे अल्लाह-राम, मैं तुम्हारे नाम पर जी रहा हूं, हे मेरे स्वामी, तुम इस बंदे (सेवक) पर मिहर (कृपा) करो। किस [लाभ] के लिए मिट्टी (शरीर) को लेकर भूमि में मारा (पटका) जाए—सिजदे किए जाएं—या देह को जल से स्नान कराया जाए? कोई जोर-जुल्म करता है और मिसकीन (दुःखित) को सताता है, तो वह गुण को छिपाए रहता है (उसके पीछे उसका त्रिगुण ही कार्य करता है)। व्रत, जप, और मज्जन (मार्जन) करने से क्या [लाभ], और मसजिद में सिर झुकाने (सिजदा करने) से क्या [लाभ]? रोजा करने, नमाज गुजारने, हज और काबे जाने से क्या [लाभ]? ब्राह्मण [वर्ष भर की] चौबीसों एकादशियों को करता है, और काजी रमजान का महीना (रोजा) रहता है, ग्यारह महीनों को [दोनों ने] क्यों जुदा (अलग) कर रक्खा है और एक ही बात में दोनों क्यों समान हैं? यदि खुदा मसजिद में निवास करता है, तो अपर (शेष) मुल्क किसका है? कुछ तीर्थों और मूर्त्तियों में ही राम का निवास [हिन्दू मानते हैं]। वस्तुतः दोनों में से एक ने भी उसको नहीं देखा है। पूर्व दिशा (जगन्नाथ पुरी ?) में हरि का निवास है, और पश्चिम (काबा) में अल्लाह का मुकाम है [यह कहा जाता है], किन्तु दिल को खोजो और दिल के भीतर के दिल को खोजो; यहीं पर राम-रहिमान है। जितने औरत-मर्द कहे जाते हैं, सभी में तुम्हारा रूप है। कबीर कहता है, "मैं अल्लाह-राम का पंगुरा (बालक) हूं, और हरि मेरा गुरु और पीर है।"

पाठान्तर—पं० विभास प्रभाती ७ । १. पं० में यह है : 'कहा उडीसे मजनु कीया'। मंजन (अंग-मार्जन—स्नान) का महत्त्व हिन्दुओं में ही है, और कबीर ने अनेक पदों में तीर्थों में जाकर स्नान करने की भर्त्सना की गई है। साथ ही उड़ीसे (जगन्नाथ पुरी) में स्नान का माहात्म्य हिन्दुओं में माना ही जाता रहा है। इसलिए संगत पाठ पं० का ही है, राज० का नहीं।

२. पं० में यह है : 'वही ठउर मुकामा'। दोनों पाठ संगत लगते हैं।

३. पं० में यह है : 'राम गुरु पीर हमारे'। प्रथम चरणार्द्ध के संदर्भ में राज० ही संगत प्रतीत होता है।

४. राज० के दो चरण (राज० ३-४) पं० में नहीं हैं। उनमें कबीर की

अभिव्यक्ति-शैली की पूरी छाप है, इसलिए ये मूल के लगते हैं और किसी कारण-वश पं० में छूटे हुए हो सकते है।

५. पं० में निम्नलिखित दो चरण और हैं।

कहतु कबीरु सुनहु नर नरवै परहु एक की सरना।
केवल नाम जपहु हे प्रानी तव ही निहचै तरना॥

'कबीर' छाप की पंक्ति इनके पूर्व भी एक है, जिसमें पद समाप्त हुआ ज्ञात होता है, और उसी पंक्ति से पद राज० मे समाप्त किया गया है, इसलिए पं० के ये अधिक चरण संदिग्ध लगते हैं। संभवतः ये किसी अन्य पद के हैं, जो पं० मे किसी प्रकार से इस पद में आ गए हैं।

मैं वड़ मैं वड़ मैं वड़ मांटी।
मण दस ना-जट का दस गांठी ॥टेक॥
मैं बाबा का जोध कहांऊं। अपणीं मारी गींद चलांऊं॥
इनि अहंकार घणे घर घाले। नाचत कूदत जंमपुरि चाले॥
हैक कबीर करता की वाजी। एक पलक मैं राज विराजी ॥५३॥

अर्थ—'मैं वड़ा' 'मैं वड़ा' और 'मैं वड़ा हूं' [यह कहना] मिट्टी (बेकार) है, यह वैसे ही है जैसे [अपने को] दस मनों का [कोल्हू का] जट्ट (जाट) [कहना] जो दस गांठों का हो। 'मैं बाबा (पिता) का योद्धा कहलाता हूं और अपनी मारी गेंद चलाता हूं (मैं जैसा चाहता हूं वैसा करता हूं)', इसी अहंकार ने अनेक घरो को नष्ट किया है जो नाचते-कूदते यमपुर को चले गए। कबीर कहता है कि यह सृष्टिकर्त्ता की बाज़ी है (उसका खेल है) कि एक पल भर में कोई राजा से विना राज्य का हो जाता है।

काहे बीहौ (हौ) मेरे साथी, हूं हाथी हरि केरा।
चौरासी लख जाके मुख मैं, सो च्यंत करैगा मेरा ॥ टेक॥
कहौ कौंन खिवै कहौ कौन गाजै, कहां थैं पांणी निसरै॥
ऐसी कला अनत हैं जाकै, सो हंम कौं क्यूं बिसरै॥
जिनि ब्रह्मंड रच्यौ बहु रचनां, बाव बरन ससि सूरा॥
पाइक पंच पुहमि जाकै प्रकटै, सो क्यूं कहिये दूरा॥
नैंन नासिका जिनि हरि सिरजे, दसन वसन बिधि काया।
साधू जन कौं सो क्यूं बिसरै, ऐसा है रांम राया॥
को काहू का मरम न जानै, मैं सरनांगति तेरी।
कहै कबीर वाप रांम राया, हुरमति राखहु मेरी ॥५४॥२५०॥

अर्थ—मेरे साथियो, मैं क्यों डरूं ? मैं तो हरि का हाथी हूं। जिसके मुख में चौरासी लक्ष [मुख] हैं (जो चौरासी लक्ष का उदर-भरण करता है), वही मेरी भी चिन्ता करेगा। तुम्हीं कहो, कौन [वज्र] फेंकता (गिराता) है ? कौन गर्जन करता है और कहां से पानी निकलता है ? ऐसी अनंत कलाएं जिसकी हैं, वह हमें क्यों विस्मृत कर सकता है ? जिसने ब्रह्मांड को बहुत

रचना (कना) करके रचा जिसने वायु, वर्ण, शशि, और सूर्य की रचना की, जिसके पंच पदाति (पंच तत्त्व) पृथ्वी में प्रकट हुए, उसको दूर क्यों कहा जाए ? जिस हरि ने नेत्र और नासिका का निर्माण किया, और दांतों, वस्त्रों और बिधि (विविध ?) कायाओं का निर्माण किया, वह साधु-जनों को क्यों भूल सकता है जो ऐसा वह रामराय है ? कोई किसी का मर्म नहीं जानता है, मैं तेरी शरण में आया हुआ हूं। कबीर कहता है, "हे पिता रामराय, तुम मेरी हुरमत (इज्जत आबरू) रक्खो !"

(४) राग सोरठि

हरि कौ नांव न लेहि गंवारा।
का सोचै वारंवारा ।।टेक।।
पंच चोर गढ़ मंझा। गढ़ लूटैं दिवस र संझा ।।
जौ गढ़पति मुहकम होई। तौ लूटि सकै न कोई ।।
अंधियारैं दीपक चहिये। तव वस्त अगोचर लहिये ।।
जव वस्त अगोचर पाई। तव दीपक रह्या समाई ।।
जौ दरसंन देख्या चहिये। तौ द्रपन मंजत रहिये ।।
जव दरपन लागै काई। तव दरसंन कीया न जाई ।।
का पढ़िये रे का गुनियें। का वेद पुराना सुनियें ।।
पढ़ैं गुनें मति होई। मैं सहज पाया सोई ।।
कहै कबीर मैं जांनां। मैं जांनां मन पतियांनां ।।
'पतियांनां जौ न पतीजै'[१]। 'तौ अंधै कूं का कहिये'[२] ।।१।।

अर्थ—हरि का नाम, ऐ गँवार, तू नहीं लेता है और तू बार-बार क्या सोचता है ? पांच चोर [तेरे] गढ में है, जो दिन और संध्या को गढ़ को लूटते रहते हैं। यदि गढपति मुहिकम (दृढ़) होता है, तो कोई नहीं लूट सकता है। अंधेरे मे दीपक चाहिए, तभी अगोचर वस्तु प्राप्त की जा सकती है। जब वह अगोचर वस्तु मिल जाती है, तब दीपक उसमें समा रहता है। यदि [आत्म-] दर्शन करना चाहिए, तो [हृदय-] दर्पण को मांजते रहिए, क्योंकि जब दर्पण में काई (मलिनता) लग जाती है, तब दर्शन नहीं किया जा सकता है। क्या (क्यों) पढ़ा और क्या (क्यों) गुना जाए, और क्या (क्यों) वेद-पुराणों को सुना जाय ? पढ़ने-गुनने से जो मति होती है, वह मैंने सहज ही प्राप्त कर ली है। कबीर कहता है, मैं जान गया, और मेरे जानने के अनंतर मेरे मन ने प्रतीति कर ली है। यदि प्रतीति किए हुए की भी न प्रतीति की जाए, तब अंधे (ऐसे प्रत्यक्ष की न प्रतीति करने वाले व्यक्ति) को क्या कहा जाए ?

पद गंभीर है, पंच चोर पंच विकार —काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर—

हैं। गढ़पति जीव है। अंधकार मोह है, दीपक ज्ञान है, अगोचर वस्तु परम तत्त्व है। कबीर के समय के दर्पण धातु के होते थे जिन पर काई जैसा उनकी धातु का धव्वा उभड़ आया करता था जो मांजने से जाता था।

पाठान्तर—पं० सोरठि ७। १. पं० मे यह है : 'मन माने लोगु न पतीजै'। 'मन मानें' असंगत है। 'पतियानां' का अर्थ है 'प्रतीति किया हुआ' और वह सर्वथा संगत है।

२. पं० में यह है : 'न पतीजै तउ किआ कीजै'। 'न पतीजै' पूर्ववर्ती चरण मे भी आता है, इसलिए पं० में पुनरुक्ति है, जो राज० में नहीं है।

३. राज० की अर्द्धालियां ३, ४, ७ तथा ८ पं० मे नही है। से अर्द्धालियां सर्वथा संगत हैं, और किसी कारण-वश पं० में छूटी हुई लगती हैं।

अंधे हरि बिन को तेरा।
कवन सूं कहत मेरी मेरा ॥टेक॥
तजि कुलाक्रम अभिमांनां। झूठे भ्रमि कहा रे भुलांनां॥
झूठे तन की कहा बड़ाई। जे निमप मांहि जरि जाई॥
जब लग मनहि विकारा। तब लगि नहीं छूटै संसारा॥
जब मन न्रिमल करि जांनां। तब न्रिमल मांहि समांनां॥
ब्रह्म अगनि ब्रह्म सोई। अब हरि बिन और न कोई॥
जब पाप पुंनि भ्रंम जारी। तब भयौ प्रकास मुरारी॥
कहै कबीर हरि ऐसा। जहां जैसा तहां तैसा॥
भूलै भ्रमि परै जिनि कोई। राजा रांम करै सो होई॥२॥

अर्थ—ऐ अंधे मनुष्य, हरि के बिना कौन तेरा है? तू किससे (को) 'मेरी' 'मेरा' कहता है? तू कुल-कर्म और अभिमान को छोड़ दे, झूठे भ्रम में तू क्या (क्यों) भूला हुआ है? झूठे शरीर की क्या बड़ाई है, जो एक क्षण में जल जाता है? जब तक मन में विकार होते है, तब तक संसार (जन्म-मरण) नही छूटता है। जब मन को निर्मल हुआ तू जान गया (लेगा) तब तू निर्मल में समा गया (जाएगा)। जो ब्रह्माग्नि (ज्ञानाग्नि) है, वही ब्रह्म है, अब (तब) हरि के अतिरिक्त और कोई नही रह गया (जाएगा)। जब पाप-पुण्य का भ्रम तेरे द्वारा जला दिया गया, तब मुरारि का प्रकाश हुआ। कबीर कहता है, हरि ऐसा है कि जहां जैसा [अवकाश] है, वहा वह वैसा है। भूल कर कोई भ्रम मे न पड़े; राजा राम जो करता है, वही होता है।

मन रे सरचौ न एकौ काजा।
ताथैं भज्यौ न जगपति राजा॥टेक॥
'बेद पुरांन सुमृत गुन पढ़ि पढ़ि, पढ़ि गुनि मरम न पावा'[१]।
'संझया गायत्री अरु षट क्रमां, तिन थैं दूरि बताबा'[२]॥
बनखंडि जाइ बहुत तप कींन्हां, कंद मूल खनि खावा।
'ब्रह्म गियांनी अधिक धियांनीं'[३], जंम कै पटै लिखावा॥

'रोजा कीया निमाज गुजारी, बंग दे लोग सुनावा'[४]।
'हिरदै कपट मिलैं क्यू सांईं, क्या हज कावै जावा'[५]॥
पहरचौ काल सकल जग ऊपरि, मांहि लिखे सब ग्यांनी।
कहै कबीर ते भये खालसै, रांम भगति जिनि जांनीं ॥३॥

अर्थ—ऐ मन एक भी कार्य इसलिए नहीं हुआ कि तूने जगत्पति-राजा को नहीं भजा। त्रिगुणात्मक वेदों, पुराणों और स्मृतियों को पढ़-पढ़ कर और पढ़-गुन कर तूने मर्म नहीं पाया। [क्योंकि] संध्या, गायत्री, और षट् कर्म जो हैं, उनसे वह दूर बताया गया है। वन-खंड में जाकर तूने बहुत तप किया और खोद कर कंद-मूल खाए, ब्रह्म-ज्ञान में और अधिक ध्यान में [रह कर] यम के पट्टे [ही] तूने लिखाए। रोजा किया, नमाज गुजारी, बांग देकर लोगों को सुनाया, किन्तु हृदय में कपट है तो सांईं क्यों मिलने लगा, और हज और काबे जाने से क्या [हुआ]? काल ने समस्त जगत् के ऊपर प्रहार किया है और समस्त ज्ञानियों को [अपनी सूची] में उसने लिख रक्खा है। कबीर कहता है, जिन्होंने राम-भक्ति जानी वे ही उससे खालसे (बचे हुए) हुए।

पाठान्तर—पं० सोरठि ३। १-२ पं० में ये चरण हैं—

वेद पुरान सभै मत सुनि कै करी करम की आसा।
काल ग्रसित सभ लोग सिआने उठि पंडित पै चले निरासा॥

राज० की संगति प्रकट है। कर्म की आशा का कोई प्रसंग नहीं है; प्रसंग ईश्वर-प्राप्ति का है।

३. पं० में है: 'नादी बेदी सबदी मोनी।' राज० का 'ब्रह्म गियांनी' संभव नहीं है, क्योंकि उसने यम के पट्टे लिखाए हैं; वह यम की प्रजा बन गया है, यह कहना कबीर की मान्यताओं के विरुद्ध होगा। 'अधिक धियानी' का 'अधिक' भी किससे 'अधिक' का प्रश्न उपस्थित करता है। पं० पाठ सर्वथा संगत और त्रुटिमुक्त है। संभवतः 'नादी बेदी सबदी मोनी' की क्लिष्टता के कारण राज० परंपरा में कभी भिन्न पाठ रख दिया गया।

४-५. राज० चरण ८ तथा ९ पं० में नहीं हैं। ये संगत हैं और पं० में किसी कारण-वश छूटे हुए लगते हैं।

६. पं० में निम्नलिखित चरण ऐसे हैं जो राज० में नहीं हैं—

भगति नारदी रिदै न आई काछि कूछि तनु दीना।
राग रागिनी डिंभ होइ बैठा उनि हरि पहि किआ लीना॥

'डिंभ' संदिग्ध लगता है, असंभव नहीं कि वह 'दंभ' के लिए आया हो। किन्तु राग-रागिनी का तो कोई प्रसंग नहीं है। इसलिए पं० के ये चरण संगत नहीं लगते हैं।

मन रे जब तैं राम कह्यौ।
पीछै कहिबे कौ कछु न रह्यौ ॥टेक॥
का जोग जगि तप दांनां। जौ तैं रांम नांम नहीं जांनां॥

काम क्रोध दोऊ भारे। तायें गुरु प्रसादि सब जारे।।
कहै कबीर भ्रम नासी। राजा रांम मिले अविनासी।।४।।

अर्थ—ऐ मन, जब तूने 'राम' कहा, उसके बाद और कुछ कहने को शेष न रहा। और योग, यज्ञ, तप और दान क्या हैं, यदि तूने राम-नाम को न जाना? काम और क्रोध दोनों भारी [शत्रु] थे, इससे उन सब को गुरु-कृपा से तूने जला लिया। कबीर कहता है, जब भ्रम का नाश किया जाता है, तब अविनाशी राजा राम मिलते हैं।

रांम राइ सो गति भई हंमारी।
मो पैं छूटत नहीं संसारी।।टेक।।

ज्यूं पंखी उड़ि जाइ आकासां, आस रही मन मांहीं।
छुटी न आस टूट्यौ नहीं फंधा, उड़िबौ लागै कांहीं।।
जो सुख करत होत दुख तेई, कहत न कछू बनि आवै।
कुंजर ज्यूं कसतूरी का मृग, आपैं आप बंधावै।।
कहै कबीर नहीं बस मेरा, सुनिये देव मुरारी।
इत भैभीत डरौं जंम दूतनि, आये सरनि तुम्हारी।।५।।

अर्थ—हे राम राय, मेरी यह गति हो गई है कि मुझ से सांसारी [गति] नहीं छूट रही है। जैसे पक्षी आकाश को उड़ जाता है, फिर भी उसकी आशा [पृथ्वी पर लौटने की] बनी रहती है, न आशा छूटती है और न उसका पाश छूटता है, इसलिए उसका उड़ना भी किस [अर्थ] मे लगता है? जिन सुखों को मैं करता हूं, वे ही उसे दुःख हो जाते हैं, और कुछ कहते नही बनता है। मनुष्य कुंजर और कस्तूरी मृग के सदृश आप ही अपने को बँधा देता है (भव-बंधन में डाल देता है)। कबीर कहता है, मेरा वश नहीं है, हे देव मुरारी, सुनिए! यहां मैं यम-दूतों से भयभीत हो कर डर रहा हूं, इसलिए तुम्हारी शरण में आया हुआ हूं।

जंगली कुंजरों को फँसाने के लिए सिखाई हुई हस्तिनी का उपयोग प्रायः किया जाता रहा है, उसके प्रलोभन में वह उसके साथ आ जाता है और फिर पकड़ लिया जाता है। कस्तूरी मृग के फँसाने की विधियों में उसका काम-भाव कहाँ तक सहायक होता है, ज्ञात नही है।

रांम राइ तूं ऐसा अनभूत अनुपम, तेरी अनभै थैं निस्तरिये।
जे तुम्ह कृपा करौ जगजीवन, तौ कतहूं भूलि न परिये।।टेक।।

हरि पद दुर्लभ अगम अगोचर, कथिया गुर गमि विचारा।
जा कारंनि हम ढूंढत फिरते, आथि भर्‌यो संसारा।।
प्रगटी जोति कपाट खोलि दिये, दगधे जंम दुख द्वारा।
प्रगटे विस्वनाथ जगजीवन, मैं पाये करत बिचारा।।
देखियत एक अनेक भाइ है, लेखत जात्य अजाती।
विह कौ देव तजि ढूंढत फिरते, मंडप पूजा पाती।।

कहै कबीर करुणांमै कीया, मेरी गलिया बहु बिस्तारा ।
रांम कै नांइ परंम पद पाया, छूटै बिघन बिकारा ॥६॥

अर्थ—हे राम राय, तू ऐसा अनभूत (अनादि) और अनुपम है कि तेरे अनुभव से [भव-सागर से] पार हुआ जाता है। यदि, हे जगजीवन, तुम कृपा करो, तो [अन्यत्र] कहीं भूल कर भी नहीं पड़ा (रहा) जाए। हरि-पद दुर्लभ, अगम्य और अगोचर (इंद्रियातीत) है, ऐसा गुरु ने समझ और विचार कर कहा है। जिसके लिए (जिसको) मैं ढूंढता फिरता था, वह संसार में भरा हुआ (व्याप्त) है। ज्योति प्रकट हुई, उसने किवाड़ खोल दिए और यम (काल) के दुःख-द्वार दग्ध हो गए। विश्वनाथ, जगजीवन [उस ज्ञान-ज्योति में] प्रकट हुए और विचार करते हुए [ही] मैं उन्हें पा गया। वही एक अनेक भावों (रूपों) में दिखाई पड़ता है और वह अजाती (जाति-हीन पदार्थ) [जगत् की विभिन्न पदार्थ-] जातियों मे दिखाई पड़ता है। उसी देवता को तब (पहले) मंडप में पूजा की पत्ती लेकर ढूढते फिरते थे ! कबीर कहता है, हे करुणामय, तूने मेरी गलियों मे [मेरे आगमन के मार्गों में] बहुत विस्तार कर दिया है। मैंने [तुझ] राम के नाम से परम पद प्राप्त कर लिया और सारे [विघ्न] तथा विकार छूट गए हैं।

रांम राइ को ऐसा बैरागी ।
हरि भजि मगन रहै बिष त्यागी ॥ टेक॥

ब्रह्मा एक जिनि सिस्टि उपाई, नांउं कुलाल धराया ।
बहु बिधि भांडै उनहीं घड़िये, प्रभू का पार न पाया ॥
तरवर एक नांनां बिधि फलिया, ताकै मूल न साखा ।
भौ जलि भूलि रह्यौ रे प्रांणीं, सौ फल कदे न चाखा ॥
कहै कबीर गुर बचन हेत करि, और न दुनियां आथी ।
माटी का तंन मांटी मिलिहै, सबद गुरू का साथी ॥७॥

अर्थ—हे राम राय, ऐसा कौन विरागी है जो विष (विषयों) को त्याग कर और हरि-भजन कर उसमें मग्न (लीन) रहे। एक ब्रह्मा हुए, जिन्होंने सृष्टि उत्पन्न की और कुलाल (कुम्हार) का नाम रखाया, ये बहुत प्रकार के भाण्ड (शरीर) उन्हीं के रचे हुए हैं, किन्तु प्रभु का पार उन्होंने भी न पाया। एक तरुवर है जो नाना प्रकार से फला हुआ है, किन्तु उसका न मूल है, और न उसकी शाखाएँ हैं। भव-जल में, ऐ प्राणी, तू इस प्रकार का भूला हुआ है कि उस [तरुवर के] फल को तूने कभी नहीं चखा है। कबीर कहता है, गुरु के वचनों से प्रेम कर, [क्योंकि] और (अपर) दुनिया का अस्तित्व नहीं है। मिट्टी का तन मिट्टी में मिल जाएगा और गुरु का शब्द ही साथी [होगा]।

तरुवर निराधार है, उसका फल अमृत है।

नैंक निहारि हो माया बीनती करै ।
दीन बचन बोलै कर जोरै फुनि फुनि पाइ परै ॥ टेक॥

कनक लेहु जेहु जेता मनि भावै, कांमनि लेहु मनहरनीं।
पुत्र लेहु बिद्या अधिकारी, राज लेहु सब धरनीं॥
अठि सिधि लेहु तुम्ह हरि के जनां, नव निधि तुम्हे आगैं।
सुर नर सकल भुवन के भूपति, तेऊ लहै न मांगैं॥
तैं पापनी सबै संघारे, काकौ काज संवारयौ।
जिनि जिनि संग कियौ है तेरौ, को बेसासि न मारयौ॥
दास कबीर रांम कै सरनैं, छाड़ी झूठी माया।
गुर प्रसाद साध की संगति, तहां परम पद पाया॥८॥

अर्थ—"किंचित् मेरी ओर देखो!" [हरिजनों से] माया विनती करती है। हाथ जोड कर वह दैन्यपूर्ण वचन कहती है, और पुनः-पुनः उनके पैरों पड़ती है। वह कहती है, "जैसे और जितना तुम्हारे मन को भाए, स्वर्ण लो, मनहरणी कामिनी लो, विद्या का अधिकारी पुत्र लो, और समस्त धरणी का राज्य लो। ऐ हरि के जनो, तुम अष्ट सिद्धियां लो, और नव निधियां तुम्हारे आगे है, जिनको देवता, मनुष्य और समस्त भुवनो के भूपति जो हैं, वे भी मांगने पर नही पाते हैं।" [हरि के जन उत्तर देते हैं,] "तुम पापिनी ने सब का संहार ही किया है। किसका कार्य तूने बनाया है? जिन्हों-जिन्हों ने तेरा संग किया है, उनमें से कौन तेरे द्वारा विश्वासघात करके नहीं मारा गया है?" दास कबीर ने राम की शरण में [आ कर] इस झूठी माया को छोड़ दिया, और गुरु की कृपा तथा साधु-संगति से वहां (उस स्थिति मे) उसने परम पद प्राप्त किया।

तुम्ह घरि जाहु हंमारी बहनां।
विष लागैं तुम्हारे नैंनां॥टेक॥
अंजन छाड़ि निरंजन राते, नां किसहीं का दैनां।
बलि जांउं ताकी जिनि तुम्ह पठई, एक माइ एक बहनां॥
राती खंडी देखि कबीरा, देखि हमारा सिंगारौ।
सरग लोक थैं हम चलि आईं, करन कबीर भतारौ॥
श्रग (स्रग्ग) लोक मैं क्या दुख पड़िया, तुम्ह आईं कलि मांही।
जाति जुलाहा नाम कबीरा, अजहूं पतीजौ नांहीं॥
तहां जाहु जहां पाट पटंबर, अगर चंदन घसि लीनां।
आइ हमारै कहा करौगी, हम तौ जाति कमीनां॥
जिनि हंम साजे साजि निवाजे, बांधे काचै धागै।
जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा, पांणीं आगि न लागै॥
साहिब मेरा लेखा मांगै, लेखा क्यूं करि दीजै।
जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा, तौ पांहन नीर न भीजै॥
जाकी मैं मछी सो मेरा मछा, सो मेरा रखवालू।
टुक एक तुम्हारैं हाथ लगाऊं, तौ राजा रांम रिसालू॥
जाति जुलाहा नांव कबीरा, बनि बनि फिरौ उदासी।
आसि पासि तुम्ह फिरि फिरि बैसो, एक माउ एक मासी॥९॥

अर्थ—कबीर ने [माया से] कहा, "ऐ मेरी बहिन, तुम घर जाओ, तुम्हारे नेत्रों से [मुझे] विष लगता है। मैं अंजन (त्रिगुण) को छोड़ कर निरंजन [ब्रह्म] में अनुरक्त हूं, और किसी का देना मुझ पर नहीं है। मैं उसकी बलिहारी जाता हूं जिसने तुम्हें भेजा है, क्योंकि तुम एक ओर (शरीर के नाते) मेरी माता हो और दूसरी ओर (निर्माता ईश्वर के नाते) मेरी बहिन हो।" [माया ने उत्तर दिया,] "ऐ कबीर, मुझ रक्ता (अनुरक्ता) खंडिका (खंडाली : रमणी) को देख और मेरा शृंगार देख; मैं स्वर्ग लोक से तुझे भर्तार करने को चली आई हूं।" [कबीर ने कहा,] "स्वर्ग लोक में तुम्हें क्या दुःख पड़ा कि तुम कलि में आईं? मैं जाति का जुलाहा हूं, मेरा नाम कबीर है, आज भी मैं तुम्हारी प्रतीति नहीं करता हूं। तुम वहां जाओ जहां पाट-पाटम्बर हो, और अगुरु तथा चंदन घिस [कर] लिया (लगाया) जाता हो; मेरे यहां आकर क्या करोगी? मैं तो जाति का कमीना (नीच) हूं। जिन्होंने मुझे निर्मित किया, और निर्मित कर मुझ पर कृपा की, उन्होंने मुझे [अपने स्नेह के] कच्चे सूत से बांध भी दिया, [इसलिए] यदि तुम बहुतेरे यत्न करो तो भी पानी में आग नहीं लग सकती है। मेरा स्वामी जब लेखा मांगेगा, तब उसे किस प्रकार लेखा दिया जाएगा? यदि तुम बहुतेरे यत्न करो, तो भी पाषाण जल में नहीं भीग सकता है। जिसकी मैं मछली हूं, वह मेरा मत्स्य है, और वह मेरा रक्षक है; यदि तनिक भी मैं तुम्हारे [शरीर में] हाथ लगाऊं, तो राजा राम रुष्ट होगा। मेरी जाति जुलाहे की है, मेरा नाम कबीर है, मैं उदासीन होकर बन-बन फिरता हूं। आस-पास से फिर-फिर (हट-हट) कर बैठो, क्योंकि एक तो (मेरे शरीर के नाते) तुम माता हो और दूसरे (सगी माता से भिन्न किन्तु उसके समान होने के कारण) मौसी हो।"

ताकौं रे कहा कीजै भाई।
तजि अंमृत बिष सूं ल्यौ लाई ॥टेक॥
बिष संग्रहि कहा सुख पाया। रंचक सुख कूं जनम गंवाया ॥
मन बरजै चित कह्यौ न करई। सकति सनेह दीपक मैं परई ॥
कहति कबीर मोहि भगति उमाहा। कृत करणीं जाति भया जुलाहा ॥१०॥

अर्थ—उसको, हे भाई, क्या किया जाए जो [ज्ञान-] अमृत को छोड़ कर [विषय-] विष में लय लगाता है। विष का संग्रह करके क्या सुख तुमने प्राप्त किया? रंच-मात्र सुख के लिए तुमने जन्म गँवाया (नष्ट किया)। मन के वर्जन करने पर भी चित्त उसका कहना नहीं करता है, और शक्ति-भर (भरसक) स्नेह के संसार-दीपक में [पतिंगे की भांति] गिरता है। कबीर कहता है, मुझे भक्ति का उन्मेष हुआ है, यद्यपि अपनी पूर्वकृत करणी से मैं जाति से जुलाहा हुआ।

रे सुख इब मोहि बिष भरि लागा।
इनि सुख डहके मोटे मोटे छत्रपति राजा ॥टेक॥

उपजै बिनसै जाइ बिलाई। संपति काहू कै संगि न जाई॥
धन जोबन ग्रब्यौ संसारा। यहु तन जरि बरि ह्वैहै छारा॥
चरन कवल मन राखि लै धीरा। रांम रमत सुख कहै कबीरा॥११॥

अर्थ—"[रे मनुष्यो,] सुख अब मुझे विष से भरा हुआ लग रहा है, क्योंकि इस सुख ने बड़े-बड़े छत्रपति राजाओं को भी ठगा है। संपत्ति उत्पन्न होती, विनष्ट होती और विलीयमान हो जाती है, वह किसी के साथ नहीं जाती है। धन और यौवन से संसार गर्वित है, किन्तु यह तनु जल-बल कर राख होगा। तू, ऐ धीर, अपने मन को [राम के] चरण-कमलों में रख ले, [क्योंकि] 'राम' रमते हुए ही कबीर कहता है, सुख [हो सकता] है।"

इब न रहौं माटी के घर मैं।
इब मैं जाइ रहूं मिलि हरि मैं॥टेक॥

छिनहर घर अरु झिरहर टाटी। घन गरजत कंपै मेरी छाती॥
दसवैं द्वारि लागि गई तारी। दूरि गवन आवन भयौ भारी॥
चहूं दिसि बैठे चारि पहरिया। जागत मुसि गये मोर नगरिया॥
कहै कबीर सुनहु रे लोई। भांनण घड़ण संवारण सोई॥१२॥

अर्थ—अब मिट्टी के घर में मैं न रहूंगा, अब मैं जाकर हरि में मिल कर रहूंगा। यह घर [पत्तियों की] छाजन का है और इसकी टट्टी झड़ियों (सूराखों) वाली है, फलतः घन गर्जन करता है, तो मेरी छाती कांपती है (मुझे भय लगता है)। इसके दशम द्वार पर ताली लग गई है, जिससे दूर जाना-आना भारी (कठिन) हो गया है। चारों ओर चार प्रहरी बैठे हुए हैं, जो मेरे जागते हुए ही मेरा नगर लूट गए हैं। कबीर कहता है, ऐ लोगो, सुनो; भंजन करने वाला, गढ़ने वाला और सँवारने (सजाने) वाला वही [ईश्वर] है।

यह घर शरीर है, जो नश्वर है। इसका दशम द्वार ब्रह्मरंध्र है, ताली त्राटिका है। चार प्रहरी अन्तः करण चतुष्ठय—मन, चित्त, बुद्धि अहंकार—है।

कबीर बिगरया रांम दुहाई।
'तुम्ह जिनि बिगारौ (बिगरौ?) मेरे भाई'[1]॥टेक॥

चंदन कै ढिग बिरख जु भैला। बिगरि बिगरि सो चंदन ह्वैला॥
पारस कौं जे लोह छुवैगा। बिगरि बिगरि सो कंचन ह्वैला॥
गंगा मैं जे नीर मिलैगा। बिगरि बिगरि गंगोदिक ह्वैला॥
कहै कबीर जे रांम कहैगा। बिगरि बिगरि सो रांमहिं ह्वैला॥१३॥

अर्थ—राम की दुहाई (सौगन्ध) है, कबीर बिगड़ चुका है, किन्तु तुम ऐ भाई, न बिगाड़ो (बिगड़ो?)। चंदन के पास जो वृक्ष होगा, वह बिगड़-बिगड़ कर चंदन ही होगा। स्पर्श मणि को जो लोहा छुएगा, वह बिगड़-बिगड़ कर कंचन ही होगा। गंगा में जो जल मिलेगा, वह बिगड़-बिगड़ कर गंगोदक ही होगा। कबीर कहता है, जो 'राम' कहेगा, वह बिगड़-बिगड़ कर राम ही होगा।

पाठान्तर—पं० भैरउ ५। १. पं० में यह है : 'साचु भइयो अन कतहि न जाई'। बाद के चरणों के संदर्भ में राज० ही संभव लगता है।

२. टेक के बाद तुकों के शब्द दोनों में भिन्न-भिन्न हैं : राज० में तुक है: कु भैला-ह्वैला, छिवैगा-ह्वैला, मिलैगा-ह्वैला, कहैगा-ह्वैला; पं० में तुक है बिगरिओ-निबरिओ, बिगरियो-निबरिओ, बिगरी-निबरी, बिगरिओ-निबरिओ। '-ला' प्रत्यय वही है जो परिनिष्ठित खड़ी बोली में '-गा' है। भविष्य के '-गा' तथा '-ला' युक्त दोनों रूपों का प्रयोग राज० में क्यों हुआ है, यह स्पष्ट नहीं है।

रांम राइ भई बिकल मति मेरी।
कै यहु दुनी दिवानी तेरी ॥टेक॥
जे पूजा हरि नाहीं भावै। सो पूजनहार चढ़ावै॥
जिहि पूजा हरि भल मानैं। सो पूजनहार न जानैं॥
भाव प्रेम की पूजा। तायैं भयौ देव थैं दूजा॥
का कीजै बहुत पसारा। पूजीजै पूजनहारा॥
कहै कबीर मैं गावा। मैं गावा आप लखावा॥
जो इहि पद मांहि समांना। सो पूजनहार सयानां ॥१४॥

अर्थ—ऐ राम राय, मेरी ही मति विकल हो गई है, अथवा यह तेरी दुनिया दीवानी है? जो पूजा, हे हरि, तुमको नहीं भाती है, उसी को पूजक तुम्हें चढ़ाता है! जिस पूजा से, हे हरि, तुम भला मानते हो, पूजक उसे जानता नहीं है! जो भाव-प्रेम की पूजा है, उससे [पूज्य] तुम देव से भिन्न दूसरा हो गया है! क्या (क्यों) बहुत-सा प्रसार किया जाए? जो पूजक है, उसी को पूजा जाए। कबीर कहता है, मैंने गाया और गा कर अपने (आत्म) को दिखाया। जो इस पद में समाएगा, वह पूजक सयाना है।

रांम राइ भई बिगूचनि भारी।
भले इन ग्यांनियन थैं संसारी ॥टेक॥
इक तप तीरथ औगांहैं। इक मांनि महातम चांहै॥
इक मैं मेरी मैं बीझै। इक अहंमेव मैं रीझै॥
इक कथि कथि भ्रम लगावैं। समिता सी वस्त न पावैं॥
कहै कबीर का कीजै। हरि सूझै सो अंजन दीजै ॥१५॥

अर्थ—हे राम राय, भारी बिगूचन (बर्बादी) हुई। इन ज्ञानियों से तो संसारी लोग भले हैं। [इनमें से] एक तप करते और तीर्थों में डुबकियां लगाते (स्नान करते) हैं, एक मान और माहात्म्य चाहते हैं, एक 'मैं'-'मेरी' में बींधे (फंसे) हुए हैं, एक 'अहमेव' में रीझे हुए हैं, एक कह-कह कर भ्रमित करते हैं और समता (दुःख-सुखादि में समान भाव) जैसी वस्तु नहीं पाते हैं। कबीर कहता है, क्या किया जाए? [उपाय यह है कि] जिससे हरि सूझे, [नेत्रों में] वह अंजन दिया (लगाया) जाए।

काया मंजसि कौंन गुनां ।
घट भीतरि है मलनां ॥टेक॥
जौ तूं हिरदै 'सुध'[1] 'मन'[2] ग्यांनी । तौ कहा बिरोलै पांनी ॥
तूंबी अठसठि तीरथ न्हाई । कड़वापन तऊ न जाई ॥
कहै कबीर बिचारी । भवसागर तारि मुरारी ॥१६॥

अर्थ—तू काया को किस गुण के लिए [तीर्थों मे] मार्जित करता (धोता) है, जब कि घट शरीर के भीतर मलिनता है ! यदि तू हृदय से शुद्ध और मन से ज्ञानी है, तो [तीर्थों] के पानी को क्यो विलोड़ित करता है ? तूंबी अड़सठो तीर्थों का स्नान करे, तो भी उसका कड़ुवापन नहीं जाता है । कबीर विचार करके कहता है, ऐ मुरारि, तुम मुझे भवसागर से पार उतारो ।

पाठान्तर—पं० सोरठि ८ । १-२.प० में 'सुध' के स्थान पर 'कपटु' है और 'मन' के स्थान पर 'मुख' है । संगत पं० ही लगता है, क्योंकि बाद की अर्द्धाली मे तूंबी का जो उदाहरण दिया गया है, उसमे कड़ुवेपन की उक्ति आती है ।

कैसें तूं हरि को दास कहायौ ।
करि बहु भेष र जनम गंवायौ ॥टेक॥
सुध बुध होइ भज्यौ नहिं सांईं । काछ्यौ डयंभ उदर कै तांईं ॥
हिरदै कपट सूं नहीं साचौ । कहा भयौ जे अनहद नाच्यौ ॥
झूठे फोकट कलू मंझारा । रांम कहैं ते दास नियारा ॥
भगति नारदी मगन सरीरा । इहि बिधि भव तिरि कहै कबीरा ॥१७॥

अर्थ—तू कैसे हरि का दास कहलाया, जब तूने बहुतेरे वेष करके जन्म (जीवन) नष्ट किया, जब तूने शुद्ध-बुद्ध होकर स्वामी का भजन नहीं किया और उदर के लिए दंभ काछा (धारण किया) ? जब तेरा हृदय कपट-युक्त है और सच्चा नही है, तब क्या हुआ यदि तू अनाहत नाद से नाच उठा ? झूठे और फोकट (बिना सार-सचाई के) [दास ही] कलि मे है; जो 'राम' कहते है, वे दास न्यारे है । नारदीय भक्ति मे [तेरा] शरीर मग्न हो, इसी विधि से, कबीर कहता है, तू भव को तर सकता है ।

रांम राइ इहि सेवा भल मांनैं ।
जौ कोई रांम नांम तत जांनैं ॥टेक॥
रे नर कहा पषालै काया । सो तत चीन्हि जहाँ थैं आया ॥
कहा बिभूति जटा पट बांधै । का जल पैसि हुतासन सांधैं ॥
ररा ममां दोइ आखिर सारा । कहै कबीर तिहूं लोक पियारा ॥१८॥

अर्थ—यदि कोई राम-नाम का तत्त्व जानता है, तो राम राय उसकी इस सेवा से भला मानते हैं । रे नर, तू [अपनी] काया को क्या प्रक्षालित करता है ? उस तत्त्व को पहचान जहां से (जिससे) तू आया (निकला) है । विभूति (राख) [करने] और जटा-पटल को बाँधने से क्या लाभ, और जल में प्रविष्ट

होने अथवा कृतागन (पंचाग्नि) साधने से क्या लाभ ? [राम नाम के] 'र' और 'म' दो अक्षर ही सार [पदार्थ] हैं, और कबीर कहता है, ये ही तीनों लोकों के प्यारे हैं।

इहि विधि रांम सूं ल्यौं लाइ।
चरन पापैं निरति करि, जिभ्या विना गुंण गाइ ॥टेक॥
जहां स्वांति बूंद न सीप साइर, सहजि मोता होइ।
उन मोतियन मैं नीर पोयौ, पवन अंवर धोइ ॥
जहां धरनि वरषै गगन भीजै, चंद सूरिज मेलि।
दोइ मल (मिलि ?) तहां जुड़न लागे, करत हंसा केलि ॥
एक बिरष भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ।
पंच सूवटा आइ बैठे, उदै भई वनराइ ॥
जहां विछटयौ तहां लाग्यौ, गगन बैठौ जाइ।
जन कबीर बटाऊवा जिनि, मारग लीयौ चाइ ॥१९॥

अर्थ—राम से तू इस प्रकार लय लगा : बिना चरणों के तू नृत्य कर, और जिह्वा के बिना तू गुणगान कर। जहां न स्वाति-बिन्दु है, न सीपी (शुक्ति) है, और न सागर है, वहां पर सहज का मोती (मुक्तपद) होता है, [जहां] उन मोतियों में नीर (कांति) पोया (पहनाया) हुआ होता है और पवन अंबर (आकाश) को धोता (निर्मल बनाता) रहता है, जहां धरणी वर्षा करती और गगन भीगता है, जहां चंद्र तथा सूर्य का मिलन होता है, जहां पर दोनों मिल कर जुड़ने (एक होने) लगते हैं, और हंस केलि करता है, [जहां] एक वृक्ष के भीतर नदी चालित है और वह कनक-कलश में समा जाती है, [जहां] पंच शुक आ बैठे हैं और वनराजी उदित हुई है, जहां से तू बिछुटा है, वहां से लग कर तू गगन में जा बैठ। [हरि का] जन कबीर वह पथिक है जिसने इस मार्ग को चाव (उत्साह)-पूर्वक लिया (अपनाया) है।

धरती का वर्षा करना और गगन का भीगना मूलाधार चक्र से उत्थित कुंडलिनी का गगन (सहस्रार) में पहुंचना है, चंद्र तथा सूर्य उक्त नामों की नाड़ियां हैं. हंस शुद्ध-बुद्ध आत्मा है; वृक्ष शरीर है, उसमें से बहने वाली नदी सुषुम्ना है, और कनक-कलश सहस्रार है, पंचशुक पंचप्राण (प्राण, अपान, उदान, समान तथा व्यान) हैं, वनराजी विभिन्न सद्वृत्तियां हैं।

ताथैं मोहि नाचिवौ न आवै।
मेरौ मन मंदला न वजावै ॥टेक॥
'ऊभर था ते सूभर भरिया, त्रिस्नां गागरि फूटी'[१]।
'हरि व्यनत मेरौ मंदला भीनां, भ्रम भोयन गयौ छूटी'[४] ॥
'ब्रह्म अगनि मैं जरी जु ममिता, पापंड अरु अभिमानां'[३]।
'काम चोलनां भया पुरानां, मोपैं होइ न आनां'[५] ॥

जे बहु रूप किये ते कीये, अब बहु रूप न होई।
'थाकी सौज संग के बिछुरे, रांम नांम मसि धोई' ।।
जे थे सचल अचल ह्वै थाके, करते वाद विवाद।
कहै कबीर मैं पूरा पाया, भया रांम परसाद ।।२०।।

अर्थ—मेरा मन मर्दल बजाता [और उसके द्वारा ताल देता] नहीं है, इसलिए मुझे नाचना नही आता है (संसार के भांति-भांति के कर्म करते मुझ से नही बनते हैं)। जो [चित्त का घट] पहले उभड़ा था (छूछा होने के कारण जल पर उठा हुआ था), वह भरपूर भर गया है, और तृष्णा की गागरी फूट गई है; हरि का चिंतन करते-करते [मेरे मन का] मर्दल भीग गया है, तथा [उस पर का] भ्रम का भोयन (वह आटा जो मर्दल पर ध्वनि मे ठनक उत्पन्न करने के लिए लगाया जाता है) छूट गया है। ब्रह्माग्नि (ज्ञानाग्नि) मे ममता जल गई है, और पाषंड तथा अभिमान जल गए है, कर्मो का चोलना (अँगरखा) पुराना पड़ गया है, [इसलिए] मुझ से अन्य कुछ नही होता है। जो अनेक रूप मैंने किए, उन्हे किया, वे अनेक रूप फिर अब मुझ से नही होते हैं; मेरी साज (सज्जा) थक गई है, मेरे संग के [लोग] बिछुट गए है और राम नाम ने मेरी मसि धो दी है। जो [विचार] सचल थे, वे वाद-विवाद करते हुए अचल हो कर थक रहे हैं। कबीर कहता है, मैंने पूरा (पूर्ण प्राप्य) पाया, क्योंकि राम की कृपा मुझ पर हो गई।

मन का मर्दल न बजाना और ताल न देना विविध जागतिक कार्यों के लिए उसका सहयोग न देना है। चित्त के घट का भरना संतोष से पूरित होना है। [मन के] मर्दल के भीगने का तात्पर्य उसका शिथिल होना है। संग के लोग ससार के संबंधी हैं।

पाठान्तर—पं० आसा २८। दोनो पाठों मे अनेक चरणार्द्धो का क्रम भिन्न-भिन्न है। १. पं० मे चरण है : 'कामु क्रोधु माया लै जारी त्रिसना गागरि फूटी'। प्रथमार्द्ध मे जलाने और द्वितीयार्द्ध मे जल भरने की उक्तियों मे परस्पर असंगति प्रकट है। राज० पाठ मे यह असंगति नही है।

२. पं० मे यह है : ताग तंतु साजु सभु थाका राम नाम बसि होई'। राम नाम के वश मे होने पर ऐसा हुआ—यह कथन उतना संगत नही लगता है जितना राज० का : सग बिछुटने पर सौंज थक गई और राम नाम ने मसि धो दी। राज० की 'मसि' वह मसि है जिसका प्रयोग नट-नर्तक स्वाग बनाने मे करते थे, और उसकी 'सौंज' वह सामग्री है जो अभिनयादि में प्रयुक्त होती थी।

३-५. राज० के चरण ५ तथा निम्नलिखित दो चरणार्द्ध ऐसे है जो पं० मे नही हैं; प्राप्त चरणार्द्ध नीचे कोष्ठकों मे दिए जा रहे है—

हरि च्यंतत मेरो मदला भीनौ [भ्रम भोयन गयौ छूटी]।
[काम चोलना भया पुरांनां] मोपैं होइ न आनां।।

राज० अधिक पूर्ण तथा व्यवस्थित लगता है।

इब क्या कीजै ग्यांन विचारा।
निज निरखत गत ब्यौंहारा ॥टेक॥
जाचिग दाता इक पाया। धन दीया जाइ न खाया॥
'कोई ले भरि सकै न मूका'[1]। औरनि पैं जानां चूका॥
तिस बाझ न जीव्या जाई। 'वो मिलै त घालै खाई'[2]॥
वो जीवन भला कहाई। विन मूंवां जीवन नांहीं॥
घसि 'चंदन'[3] 'वनखड'[4] 'बारा'[5]। विन नैंननि 'रूप'[6] निहारा॥
तिहि पूति बाप इक जाया। विन ठाहर नगर बसाया॥
को जीवत ही मरि जांनैं। तौ पंच संयल सुप मांणै॥
कहै कबीर सो पाया। प्रभु भेटत आप गवाया ॥२१॥

अर्थ—अब ज्ञान-विचार क्या (क्यों) किया जाए जब कि निज-निरीक्षण (आत्म-दर्शन) में व्यवहार (विधि-निषेध) गत हो गए हैं? याचक ने एक ऐसा दाता प्राप्त कर लिया है जिसका दिया हुआ धन खाया नहीं जाता है, जिसको भरपूर लेकर कोई मुक्त नहीं कर सकता है (छोड़ नहीं सकता है), और जिसको प्राप्त कर औरों के पास [याचना के लिए] जाना समाप्त हो गया है; उसके बिना जीवित नहीं रहा जाता है, और वह मिलता है तो हमको (हमारे सांसारिक अस्तित्व को) खा डालता है (समाप्त कर देता है), वह जीवन भला (भद्र) तो कहलाता है किन्तु बिना मृत हुए वह जीवन प्राप्त नहीं होता है। [अब साधक ने] चंदन को घिस डाला है और [उस] वनखंड को जला डाला है [जिसमें वह हवन के लिए समिधा लाया करता था]; बिना नेत्रों के ही उसने रूप (आत्म-स्वरूप) को देख लिया है। उस पुत्र ने पिता को जन्म दिया है, बिना स्थान के ही नगर बसा दिया गया है! कोई जीवित रहते ही मृत होना जान जाए, तो वह पंचशैल (पर्वत-विशेष, जिसका उल्लेख पुराणों में मिलता है - दे० मोनियर विलियम्स : संस्कृत-अँग्रेजी कोष) का सुख माने। कबीर कहता है, [वास्तव में] उसी ने पाया है, प्रभु से मिलते हुए जिसने अपने को गँवा दिया है।

यह पद 'उलटवासी' का है। प्राप्त किया हुआ धन आत्मानुभूति का है। दाता आत्मा है। चंदन को घिस डालने तथा वन-खंड को जला डालने का आशय है उपासना के बाह्य उपकरणों को समाप्त करना। पंच शैल पंच प्राण—प्राण, अपान, उदान, समान तथा व्यान—है। पुत्र आत्मानुभव (ज्ञान) और पिता आत्मा है तथा स्थान का नगर मन है।

पाठान्तर—पं० सोरठि ६। १. पं० में यह है : 'छोड़िया जाइ न मूका'। 'छोड़ना' और 'मूकना' मुक्त करना एक है। इसलिए पं० में पुनरुक्ति है, जो राज० में नहीं है।

२. पं० में यह है : 'जउ मिलै त घालै अघाई'। पद उलटवासी का है, इसी का चरण है : तिस बाझ न जीव्या जाई। विवेच्य चरण का राज० का

आशय है कि मिलने पर वह खा डालता है, जबकि पं० का है कि : यदि वह मिलता है तो अघा डालता है। दोनों में से उलटबासी की उक्ति राज० में ही सुरक्षित है, पं० में नहीं।

३-६. पं० में 'चंदन' के स्थान पर 'कुंकुम', 'बन खंडि' के स्थान पर 'चंदन', 'बारा' के स्थान पर 'गारिआ' और 'रूप' के स्थान पर 'जगतु' है। राज० की सगति स्पष्ट है। पं० में एक कठिनाई यह है कि 'चंदन' गारने की वस्तु नही है, दूसरे 'जगत' को निहारने के लिए 'कुंकुम' और 'चंदन' की अपेक्षा नहीं होती है।

अब मैं पाया राजा रांम सनेही।
जा बिनु दुख पावै मेरी देही ।।टेक।।
बेद पुरान कहत जाकी साखी। तीरथि ब्रति न छूटै जंम की पासी।।
जाथैं जनम लहत नर आगैं। पाप पुन्य दोऊ भ्रम लागैं।।
कहै कबीर सोई तत जागा। मन भया मगन प्रेम सर लागा ।।२२।।

अर्थ—अब मैंने स्नेही राजा राम (आत्माराम) को पा लिया है, जिसके बिना मेरी देह दु.ख पाती है, और बेद-पुराण जिसकी साखी (जिसका साक्ष्य) कहते हैं। तीर्थ-व्रतादि से यम का पाश नहीं छूटता है। जिस [के पाने] से मनुष्य आगे का [दिव्य] जन्म (जीवन) पाता है, और पाप तथा पुण्य के दोनों भ्रम भाग जाते हैं। कबीर कहता है, अब वह [परम]-तत्त्व जाग गया है, और उसका प्रेम-शर लगा है, इसलिए मन [उसी में] मग्न हो रहा है।

बिरहिनी फिरै हो नाथ अधीरा।
उपजी बिनां कछू समझि न परई, बांझ न जांनैं पीरा ।।टेक।।
या बड़ बिथा सोई भल जांनैं, रांम बिरह सर मारी।
कै सो जांनैं जिनि यहु लाई, कै जिनि चोट सहारी।।
संग की बिछुरी मिलन न पावै, सोच करै अरु क्राहै।
जतन करै अरु जुगति बिचारै, रटै रांम कौं चाहै।।
दीन भई बूझै सखियन कूं, कोई मोहि राम मिलावै।
दास कबीर मीन ज्यूं तलपै, मिले भले सचु पावै ।।२३।।

अर्थ—हे नाथ, विरहिणी अधीर फिर रही है। [वह कहती है,] "जिसको वह [अधीरता] उत्पन्न नही हुई है, उसे वह कुछ भी समझ नही पड़ती है, जैसे वंध्या [प्रसव की] पीड़ा नही जान सकती है। जिसको यह बड़ी व्यथा होती है, वही इसे भलीभांति जानती है, जो, हे राम, तुम्हारे विरह-शर से मारी हुई (आहत) होती है। या तो वह इस [चोट] को जानता है जिसने इसे लगाया (की) हो, अथवा वह जिसने यह चोट सहारी (सही) हो। [तुम्हारे] संग की (से) बिछुड़ी हुई [यह नारी] तुमसे मिलने नही पा रही है, इसलिए यह सोच कर रही है और कराह रही है। यह [मिलने का] यत्न कर रही है और उसकी युक्ति विचार रही है, यह रटती रहती है और तुम राम को

चाहती है। यह दीन होकर सखियों से जानना चाहती (पूछती) है—कोई ऐसा है जो उसे राम से मिला दे? तुम्हारा दास कबीर मछली की भांति तड़प रहा है। तुमसे मिलने पर ही वह सच (सुख) पाएगा।

जा तनि वेदन जानैंगा जन सोई।
सारा मरम न जानैं रांम कोई ।।टेक।।

चखि बिन दिवस जिसी है संझा। व्यावर पीर न जानैं बंझा ।।
सूझैं करक न लागैं कारी। बैद बिधाता करि मोहि सारी ।।
कहै कबीर यहु दुख कासनि कहिये। अपनें तन की आप ही सहिये ।।२४।।

अर्थ—जिसके तनु (शरीर) में वेदना होगी, वही जन उसे जानेगा। सारा (जो आहत नहीं है) कोई भी, हे राम, उस मर्म (पीड़ा) को नहीं जानता है। चक्षु के बिना दिन उसी प्रकार का होता है जैसी संध्या होती है, ब्याने वाली (बच्चा जनने वाली) की पीड़ा बंध्या नहीं जानती है। करक (पीड़ा) भर सूझती (जान पड़ती) है, उसकी कारी (प्रक्रिया—किस प्रकार वह करक उत्पन्न हुई) नहीं लगती (जान पड़ती) है, [इसलिए] विधाता ही वैद्य [होकर] मुझे उससे चंगा कर सकता है। कबीर कहता है, यह दुःख किससे कहा जाए? अपने शरीर की [व्यथा] आप ही सही जाती है।

जन की पीर हो राजा रांम भल जांनैं।
कहूं काहि को मांनैं ।।टेक।।
नैंन का दुख बैंन जांनैं, बैंन का दुख श्रवनां (स्रवनां)।
प्यंड का दुख प्रांन जांनैं, प्रांण का दुख मरनां ।।
आस का दुख प्यास जानैं, प्यास का दुख नीर।
भगति का दुख रांम जांनैं, कहै दास कबीर ।।२५।।*

अर्थ—[उस] जन (सेवक) की पीड़ा राजा राम (आत्माराम) [ही] भली भांति जानते हैं, फिर मैं [उसे] किससे कहूं और कौन [उसे] मानेगा? नेत्रों का दुःख वचन जानते हैं और वचनों का दुःख श्रवण, पिंड (शरीर) का दुःख प्राण जानते हैं और प्राणों का दुःख मरण जानता है, आशा का दुःख पिपासा जानती है, और पिपासा का दुःख जल जानता है, [इसी प्रकार] इस भक्त का दुःख राम जानते हैं, ऐसा [उनका] दास कबीर कहता है।

* यहाँ पर स० में निम्नलिखित पद और है जो वि० में नहीं है :

तुम्ह बिन राम कवन सौं कहिये।
लागी चोट बहुत दुख सहिये ।।टेक।

बेध्यो जीव बिरह कैं भालैं। राति दिवस मेरे उर सालै ।।
को जानैं मेरे तन की पीरा। सतगुर सबद बहि गयो सरीरा ।।
तुम्ह से बैद न हमसे रोगी। उपजी बिथा कैसें जीवैं बियोगी ।।
निस बासुरि मोहि चितवत जाई। अजहूं न आइ मिले रांमराई ।।
कहत कबीर हमकौ दुख भारी। बिन दरसन क्यूं जीवहि मुरारी ।।२५अ।।

तेरा हरि नांमैं जुलाहा।
मेरै रांम रमण का लाहा ।।टेक।।

दस सै सूत्र की पुरिया पूरी, चंद सूर दोइ साखी।
अनत नांउं गिनि लई मंजूरी, हिरदा कवल मैं राखी।।
सुरति सुमृति दोइ खूंटी कीन्हीं, आरंभ कीया वमेकी।
ग्यान तत की नली भराई, बुनत आतमां पेषी।।
अबिनासी धंन लई मंजूरी, पूरी थापनि पाई।
रन वन सोधि सोधि सब आये, निकटैं दीया बताई।।
मन सूधा कौ कूच कीयौ है, ग्यान विथरनीं पाई।।
जीव की गांठि गुढ़ी (गुठी) सब भागी, जहां की तहां ल्यौ लाई।।
बेठि बेगारि बुराई थाकी, अनभै पद प्रकासा।
दास कबीर बुनत सच पाया, दुख संसा सब नासा ।।२६।।

अर्थ—हे हरि, तेरे नाम का जुलाहा हूं और [इस व्यवसाय मे] मुझे लाभ राम-रमण (आत्म-रमण) का है। दस सै सूतो की मैंने पुरिया (पुटी) पूरी, चंद्र और सूर्य दो साक्षी हुए, तुम्हारे अनंत नामो को गिन कर उन्हे मैंने मजदूरी के रूप मे लिया, और उन्हे हृदय के कमल (कवंल-कटोरा) में रक्खा। सुरति (ईश्वर-स्मृति) तथा स्मृति (स्मरण) की मैंने दो खूंटियां कीं, विवेक का आरंभ (आयोजन) किया, ज्ञान-तत्त्व की नली भराई, और आत्मा को बुनते हुए देखा। अविनश्वर धन को मजदूरी के रूप में लिया, जिससे पूरी स्थापना प्राप्त की। सब लोग अरण्यो-वनो को खोज-खोज कर लौट आए, किन्तु मैंने उसे निकट ही बना दिया। सूधे (शुद्ध) मन को कूर्च किया है, ज्ञान की विथरनी पाई है, जीव की गांठें-गुत्थियां सब भाग गई हैं, और जहां की तहां ही लय लग गई है। [मेरी] बैठे की बेगार और बुराइयां थक (हार) गई है जब से मुझ मे अनुभव-पद का प्रकाश हुआ है। दास कबीर ने [इस प्रकार नाम को] बुनते हुए सच (सुख) पाया है और ससार (जन्म-मरण) का उसका समस्त दु:ख नष्ट हो गया है।

दस सै सूत्र शरीर की शिराएं हैं, पुरिया (पुट) शरीर है, चंद्र तथा सूर्य उस नाम की नाड़ियां है। गांठे-गुत्थियां मोह-ग्रन्थियां हैं, शेष पारमार्थिक उपकरण पद में दिए हुए है।

भाई सकहु त तनि बुनि लेहु रे।
पीछै रांमहि दोस न देहु रे ।।टेक।।

करगहि एक बिनांणी। ता भींतरि पंच परांनीं।।
ता माहैं एक उदासी। तिहि तणि बुणि सबै बिनासी।।
जे तूं चौसठि बरिया धावा। नहीं होइ पंच सूं मिलावा।।
जे तैं पां सै छ सै तांणीं। तौ सुख सूं रहै परांणीं।।

पहली तणियां तांणां । पीछैं बुणियां वांणां ॥
तणि बुणि मुरतब कीन्हां । तब रांम राइ पूरा दीन्हां ॥
राछ भरत भई संझा । तारुणीं त्रिया मन बंधा ॥
करैं (कहै) कबीर विचारी । अब छोछी नली हंमारी ॥२७॥

अर्थ—हे भाई, यदि सको तो [ताना] तन लो और [बाना] बुन लो, पीछे राम को दोष न देना । करगह पर एक बुनने वाला है और उस करगह के भीतर (बुनाई से संबंधित विभिन्न अन्य कार्यों में व्यस्त) पांच प्राणी हैं, किन्तु उस कार्य मे वह (बुनने वाला) उदासीन है, जो तन-बुन कर सबको विनष्ट कर देता है । यदि तू चौंसठ बार भी दौड़े, तो उन पांच प्राणियों से मिलाप नहीं हो सकता है । यदि तू इन पांच से और छः से ताना तनेगा, तब तू, ऐ प्राणी, सुख से रहेगा । पहले ताना तना गया (जाएगा) और पीछे बाना बुना गया (जाएगा); जब तन-बुन कर [वस्त्र] मुरत्तब (तैयार) किया गया (हो जाएगा), तब राम राय द्वारा [उसे क्रय कर] पूरा [दाम] दिया गया (जाएगा) । किन्तु यहां तो राछ भरने ही संध्या हो गई, और तरुणी स्त्री ने मन को बांध लिया ! कबीर विचार कर कहता है कि [इस कारण से] अब मेरी नली छूंछी [खाली] है ।

करगह शरीर है, विज्ञानी बुनने वाला आत्मा है, पंचप्राणी पंच प्राण (प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान) है, उदासीन बुनकर आत्मा है । ६४ बेरियां, दिन-रात की ६४ घटियां है, पां [च] पंचप्राण हैं, छः षटचक्र है । पांचों को छः से मिलाकर तानने का अर्थ है पंच प्राणों को षट्चक्रों में से होकर उत्थित करना । राछ भरते-भरते संध्या का होना आयु का समाप्त होना है और तरुणी स्त्री से मन का बँधना है मृत्यु की गोद में सोना ।

वै क्यूं कासी तजैं मुरारी ।
तेरी सेवा चोर भये बनवारी ॥टेक॥
जोगी जती तपी संन्यासी । मठ देवल बसि परसैं कासी ॥
तीन बार जे नित प्रति न्हावैं । काया भींतरि खबरि न पावैं ॥*
देवल देवल फेरी देहीं । नांव निरंजन कबहुं न लेहीं ॥*
चरन बिरद कासी कूं न दैहूं । कहै कबीर भल नरकहि जैहूं ॥२८॥

अर्थ—वे क्यों, ऐ मुरारी, काशी त्यागें ? वे तो, ऐ बनवारी, तेरी सेवा से चोर हो बैठे हैं ! योगी, यती, तपी और संन्यासी मठों और देवकुलों (देवालयों) में बस कर काशी का स्पर्श (उपयोग) करते हैं । वे जो दिन में तीन बार स्नान करते हैं, काया के भीतर की खबर नहीं पाते हैं । वे प्रत्येक देवकुल (देवालय) में फेरी देते हैं, किन्तु निरंजन (निर्गुण) [ब्रह्म] का नाम

*चिह्नित चरण वि० में नहीं हैं, स० में हैं, और वि० में छूटे हुए ज्ञात होते हैं ।

कभी नहीं लेते हैं। मैं तेरे चरणों का विरुद काशी को न दूंगा, भले ही, कबीर कहता है, मैं नर्क जाऊंगा।

इस पद मे मगहर प्रस्थान के पूर्व का काशी-त्याग का उनका संकल्प व्यक्त हुआ है, क्योकि काशी-वास से मुक्ति-लाभ मे उनका विश्वास बिलकुल नहीं था।

तब काहे भूलौ बनजारे।
अब आयौ चाहै संगि हंमारे ।।टेक।।

जब हंम बनजी लौंग सुपारी। तब तुम्ह काहे बनजी खारी ।।
जब हम बनजी प्रमल कसतूरी। तब तुम्ह काहे बनजी कूरी ।।
अंमृत छाड़ि हलाहल खाया। लाभ लाभ करि मूल गंवाया ।।
कहै कबीर हंम बनज्या सोई। जाथैं आवागवन न होई ।।२९।।

अर्थ—तब ऐ बनजारे, तू क्यो भूल मे पड गया, और अब तू क्यो मेरे साथ आना चाहता है? जब मैंने लौंग-सुपारी का वाणिज्य (सौदा) किया, तब तूने क्यो खारी (खारी सज्जी) का वाणिज्य (सौदा) किया? जब मैंने परिमल और कस्तूरी का वाणिज्य (सौदा) किया, तब तूने कूडी (बेकार की वस्तुओं) का वाणिज्य (सौदा) क्यो किया? तूने तो अमृत को छोड़ कर हलाहल खाया, और 'लाभ' 'लाभ' करके मूलधन भी गँवा दिया! कबीर कहता है, मैंने तो वही वाणिज्य किया जिससे आवागमन न हो।

भक्ति लौंग-सुपारी, परिमल-कस्तूरी और अमृत है, विषय खारी, कूड़ी और हलाहल हैं।

परम गुर देखो रिदै बिचारी।
कछू करौ सहाइ हमारी ।।टेक।।

लवा (लउवा) नालि तंति एक संम करि, जंत्र एक भल साजा।
सति असति कछू नहीं जानूं, जैसैं बजावा तैसैं बाजा ।।
चोर तुम्हारा तुम्हारी आग्या, मुसियत नगर तुम्हारा।
इनके गुनह हमह का पकरौ, का अपराध हमारा ।।
सेई तुम्ह सेई हम एकै कहियत, जबआपा पर नहीं जांनां।
ज्यूं जल मैं जल पैसि न निकसै, कहै कबीर मन मांनां ।।३०।।

अर्थ—हे परम गुरु (परमात्मा), हृदय में विचार कर देखो, और मेरी कुछ सहायता करो। लौवे (लौकी के तूंबे), नली और तांतो को एक-समान कर मैंने एक भला यंत्र साजा (बनाया); मैं सत्य-असत्य कुछ नही जानता हूं, और जैसे तुमने उसे बजाया, वैसे ही वह बजा। चोर तुम्हारे हैं और तुम्हारी आज्ञा से वे तुम्हारा ही नगर मूस (लूट) रहे हैं। इसके गुनाहों के लिए तुम मुझे क्या (क्यो) पकड़ते हो, इसमें मेरा क्या अपराध है? वही तुम और वही मैं हूं, दोनों एक ही कहे जाते हैं, जब [मेरे और तुम्हारे बीच] अपने और पराये का विचार नही रह जाता है। जैसे जल में प्रविष्ट

होकर जल निपजे, कबीर कहता है, [वही स्थिति तुममें मिल कर उसकी हो गई है] उसका मन यह मानता है।

यंत्र शरीर है। चोर पंच विकार हैं। नगर शरीर या मन है।

'मन रे'[1] आइ रु कहां गयौ।
तार्थें मोहि वैराग भयौ ।।टेक।।
पंच तत ले काया कीन्हीं, तत कहा ले कीन्हां।
करमौ कै बसि जीव कहत हैं, जीव क्रम किनि दीन्हां ।।
आकास गगन पाताल गगन, दसौं दिस गगन रहाई ले।
आनंद मूल सदा परसोतम, घट बिनसें गन (गगन) जाई ले ।।
हरि मैं तन है तन मैं हरि है, 'है पुंनि नांहीं सोई'[2]।
कहै कबीर हरि नांम न छाड़ूं, सहजैं होइ सु होई ।।३१।।

अर्थ—ऐ मन, तू आकर कहां गया (जाता है) ? इससे (तेरे जाने से) मुझे वैराग्य हो गया है। पंच तत्त्व को लेकर काया की गई, तो वे तत्त्व लेकर क्या किए गए ? कर्मों के वश में जीव रहता है, तो जीव के कर्म किसको दिए ? आकाश में गगन (शून्य) है; पाताल में गगन (शून्य) है, दश दिशाओं में गगन (शून्य) रहता (व्याप्त) है। पुरुषोत्तम (आत्मा) सदैव आनंद-मूल, (शाश्वत) है, और घट (शरीर) विनष्ट होकर गगन (शून्य) में नहीं जाता है। हरि में तनु (शरीर) है और तनु (शरीर) में हरि है, वह है भी और नहीं भी है। कबीर कहता है, मैं हरि-नाम को नहीं छोडता हूं जो कुछ सहज ही हो, वह हो।

पाठान्तर—पं० गौड ३। १. पं० में यह है : 'इहु जीउ'। दोनों ही संगत, है, क्योंकि कबीर के अनुसार मन भी आदि-मन या ब्रह्म-मन में समाता है (दे० भूमिका में कबीर-दर्शन का विवेचन)।

२. पं० में यह है : 'सच्च निरंतर सोइ रे'। दोनों समान रूप से संगत हैं।

हमारै कौन सहै सिरि भारा।
सिर की सोभा सिरजनहारा ।।टेक।।
टेढ़ी पाग बड़ जूरा। जरि भए भसम का कूरा ।।
अनहद कींगरी बाजी। तब काल द्रिष्टि भै भागी ।।
कहै कबीर रांम राया। हरि कैं रंगैं मूंड़ मुंड़ाया ।।३२।।

अर्थ—मैं सिर पर [कोई] भार क्यों सहूं जब मेरे सिर की शोभा वह सृष्टिकर्त्ता है ? टेढ़ी पाग, बड़ा [जटा-]जूट, यह सब जल कर भस्म के कूट हो गए। जब अनाहत की किंगरी (किन्नरी वीणा) बजी, तब काल की दृष्टि भय से भाग गई। कबीर कहता है, हे राम राय, मैंने तुम हरि के रंग (प्रेम) में सिर मुंडा लिया है।

कारनि कौंन संवारै देहा।
यहु तनि जरि बरि ह्वैहै खेहा ।।टेक।।
चोवा चंदन चरचत अंगा। सो तन जरत काठ कै संगा ।।
बहुत जतन करि देह मुटियाई। अगनि दहै कै जंबुक खाई ।।
जा सिरि रचि रचि बांधत पागा। ता सिरि चंच संवारत कागा ।।
कहै कबीर तन झूठा भाई। केवल रांम रह्यौ ल्यौ लाई ।।३३।।

अर्थ—तुम किस कारण देह को सँवारते हो (देह का संभार करते हो) ? यह तनु तो जल-बल कर राख हो जाएगा ! चोवा-चंदन से जिस अंग को चर्चित करते हो वह चिता पर काष्ठ के संग जल जाता है ! बहुत यत्न कर जिस देह को मोटा करते हो, उसको या तो अग्नि दग्ध करती है और या तो स्यार खाता है ! जिस सिर पर रच-रच कर तुम पाग बांधते हो, उस सिर पर कौए चोंच सँवारते है ! कबीर कहता है, तब [यह शरीर] झूठा है, और तुम केवल राम मे लय लगाए रहो।

पाठान्तर—पं० गउड़ी ११ तथा गउड़ी १६ : केवल निम्नलिखित दो चरण ऐसे है जो तीनों पदों में मिलते हैं, अन्यथा तीनों पद एक-दूसरे से भिन्न है :

चोवा चंदन चरचत अंगा। सो तन जरत काठ कै संगा।

इसका कारण क्या है, यह स्पष्ट नही है। तीनो पद अपने-आप में संगत लगते है, इसलिए यह असंभव नही है कि कबीर ने तीनों की रचना अलग-अलग करते हुए विषय और छंद के अभिन्न होने के कारण तीनों में अपनी इन प्रिय पंक्तियों को रख दिया हो।

धंन धंधा ब्यौहार सब, माया मिथ्यावाद।
पांणीं नीर हलूर ज्यूं, हरि नांव बिना अपबाद ।।टेक।।
इक रांम नांम निज साचा। चित चेति चतुर घट काचा ।।
इस भ्रमि न भूलसि भोली। बिधना की गति औली ।।
जीवते कूं मारन धावै। मरते कौं बेगि जिलावै ।।
जाकै हुंहि जंम से बैरी। सो क्यूं सोवै नींद घनेरी ।।
जिहि जागत नींद उपावै। तिहिं सोवत क्यूं न जगावै ।।
जलजंत न देखिस्य प्रांनीं (पांनीं)। सब दीसै झूठ निदांनी ।।
तन देवल ज्यूं धज आछै। पड़िया पछितावै पाछै ।।
जीवत हीं कछू कीजै। हरि रांम रसाइन पीजै ।।
रांम नांम निज सार है, माया लागि न खोइ।
अंति कालि सिरि पोटली, ले जात न देख्या कोइ ।।
कोई ले जात न देख्या। बलि बिक्रम भोज ग्रष्टा ।।
काहू कै संगि न राखी। दीसै बीसल की साखी ।।

जब हंस पवन ल्यौ खेलै । पसर्‌या हाटिक जब मेलै ॥
मानिष जनम अवतारा । नां ह्वैहै बारंबारा ॥
कबहूं ह्वै किसा बिहांनां । तर पंखी जेम उड़ांनां ॥
सब आप आप कूं जाई । को काहू मिलै न भाई ॥
मूरिख मनिषा जनम गंवाया । बर कौड़ी ज्यूं डहकाया ॥
जिहि तन धन जगत भुलाया । जग राख्यौ परहरि माया ॥
जल अंजुरी जीवन जैसा । ताका है किसा भरोसा ॥
कहै कबीर जग धंधा । काहे न चेतहु अंधा ॥३४॥

अर्थ—धन, धंधा, व्यवहार—सभी कुछ माया और मिथ्यावाद हैं। वे उसी प्रकार के हैं यथा हिल्लोलित (विलोड़ित) जल होता है, और हरि-नाम के बिना वे सभी अपवाद हैं। एकमात्र राम-नाम ही वस्तुतः सच्चा है, ऐ चतुर तू चित्त में चेत, तेरा घट (शरीर) कच्चा है। इस भ्रम मे तू भ्रमित हो कर न भूल, विधाता की गति ओली (आवृत—ढकी हुई) है। वह जीते को मारने दौड़ता है और मरते हुए को शीघ्र जीवित करता है। जिस [मनुष्य] के यम (काल) से वैरी हो, वह घनी नींद क्यों सोता है ? जो जागते हुए ही नींद उत्पादित करता है, उसको सोते हुए से क्यों न जगाया जाए ? [जिस प्रकार] जल-जंतु पानी को नहीं देखता है, [उसी प्रकार] मनुष्य को भी सभी कुछ अंत में झूठा दिखाई पड़ता है। तेरा तनु देवकुल (देवालय) के ध्वज जैसा [अस्थिर] है, उसके पड़ने पर तू पीछे पछताएगा। जीवित रहते ही कुछ कर लिया जाए, हरि नाम का रसायन पिया जाए। राम-नाम निजु (ठीक-ठीक) सार-पदार्थ है, उसे माया के कारण न खो, अंत-काल में सिर पर पोटली (गठरी) लेकर जाते हुए किसी को नहीं देखा गया है। इसे बलि, विक्रम और भोज जैसे गरिष्ठों में से भी किसी को ले जाते नहीं देखा गया है। इसे संग करके कोई भी न रख सका, बीसल (विग्रह राज) का साक्ष्य इस विषय में दीख पड़ता है। जब हंस (जीवात्मा) पवन ज्यों खेल जाता है (खेल कर चल देता है), जब (तब) पसरा हुआ हट्टक (हाट) वह मेल्ह (छोड़) जाता है। मनुष्य-जन्म का अवतार बार-बार नहीं होगा। (होता है), कभी वह कैसे ही होकर विहान (समाप्त) हो जाता है, जैसे तरु से पक्षी उड़ जाते हैं। सभी अपने-अपने को जाते हैं, कोई किसी को, हे भाई, मिलता नहीं है। ऐ मूर्ख, तूने मनुष्य जन्म को गँवा दिया, बल्कि कौड़ी से सहश (मूल्य में) उसे ठगा दिया। जिस तनु और धन में जगत् भूला हुआ है, और उस ने जिसकी रक्षा की है, उस माया का परित्याग कर। जीवन अंजली के जल जैसा है, उसका कैसा भरोसा है ? कबीर कहता है, जगत धंधा (द्वन्द्व) है, ऐ अंधे तू क्यों नहीं चेतता है।

इस पद में उल्लिखित बीसल का प्रसंग प्राप्त नहीं है, कदाचित् कबीर के समय में बीसल की कोई ऐसी कथा भी प्रसिद्ध थी कि उसने मरने के अनंतर

अपने साथ अपनी अपार संपत्ति को भी ले जाने की कोई योजना बना रक्खी थी जो सफल न हो सकी।

रे चित चेति च्यंति लै ताही।
जा च्यंतत आपा पर नांहीं ॥टेक॥
हरि हिरदै एक ग्यांन उपाया। ताथैं छूटि गई सब माया ॥
जहां नाद न ब्यंद दिवस नहीं राती। नहीं नर नारि नहीं कुल जाती ॥
कहै कबीर सरब सुख दाता। अविगत अलख अभेद बिधाता ॥३५॥

अर्थ—ऐ चित्त, चेत कर उसका चिंतन कर ले, जिसके चिंतन करते ही अपना-पराया (द्वन्द्व) नही रहता है। हरि ने हृदय में ज्ञान उत्पादित किया है, उससे समस्त माया छूट गई है। जहां पर न नाद है, न विंदु है, न दिवस है और न रात्रि है, न नर है, न नारी है, न कुल है और न जाति है, कबीर कहता है, वहां पर समस्त सुखों का दाता अव्यक्त, अलक्षित और एक रस विधाता है।

सरवर तटि हंसिणीं तिसाई।
जुगति बिनां हरि जल पीया न जाई ॥टेक॥
पीया चाहै तौ लै खग सारी। उड़ि न सकै दोऊ पर भारी ॥
कुंभ लीयें ठाढ़ी पणिहारी। गुन बिन नीर भरै कैसैं नारी ॥
कहै कबीर गुरि एक बुधि बताई। सहज सुभांई मिले रांम राई
॥३६॥*२८६॥

अर्थ—सरोवर के तट पर हंसिनी तृषित है, क्योंकि युक्ति के विना उससे हरि-जल पिया नही जाता है। पिया चाहे तो वह खग अपने को ले कर [जल तक] सार (ले जाए), किन्तु वह उड़ नही सकती है, क्योंकि उसके दोनों पर (डैने) भारी हैं। [इसी प्रकार,] कुंभ (घडा) लिए हुए पनिहारिन खड़ी है, किन्तु वह नारी गुण (रस्सी) के विना [कुंए से] जल कैसे भरे? कवीर कहता है कि गुरु ने एक वुद्धि वता दी, तो राम राय सहज स्वभाव से ही मिल गए।

हंसिनी आतमा है, सरोवर आनंद का है, दोनो डैने प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गो के है। गुण (रस्सी) युक्ति है।

---

* यहाँ पर स० में निम्नलिखित पद और है जो वि० में नही है

भरथरी भूप भया वैरागी।
विरह वियोग बनि बनि ढूंढै, वाकी सुरति साहिब सौं लागी ॥टेक॥
हसती घोड़ा गांव गढ़ गूडर, कनड़ापा इक आगी।
जोगी हूवा जाणि जग जाता, सहर उजीणी त्यागी ॥
छत्र सिंघासण चवर ढुलंता, राग रंग बहु आगी।
सेज रमैंणी रंभा होरी, तासौं प्रीति न लागी ॥
सूर वीर गाढ़ा पग रोप्या, इह विधि माया त्यागी।
सब सुख छाड़ि भज्या इक साहिब, गुरु गोरख ल्यौ लागी ॥
मनसा वाचा हरि हरि भाखै, गंध्रप सुत बड़ भागी।
कहै कबीर कुंदर भजि करता, अमर भणे अणरागी ॥३६अ॥

(५) राग केदारो

सार सुख पाइये रे।
रंगि रंमहु आतमां रांम ॥टेक॥
वनह बसे का कीजिये, जे मन नहीं तजे विकार।
घर वन तत समि जिनि कीया, ते विरला संसार॥
का जटा भसम लेपन कियैं, कहा गुफा मैं वास।
मन जीत्यां जग जीतियै, जौ विषिया रहै उदास॥
सहज भाइ जे उपजै, ताका किसा मांन अभिमांन।
आपा पर समि चीनियैं, तब मिलै आतमां रांम॥
कहै कबीर कृपा भई, गुरि ग्यांन कह्या समझाइ।
हिरदै श्री हरि भेटियै, जे मन अनतै नहीं जाइ॥१॥

अर्थ—यदि आप आत्माराम के रंग (स्नेह) मे रंगें, तो आप सार (सच्चा) सुख पाएगा। वन में बस कर क्या किया जाए यदि मन विकारों को नहीं त्यागता है? घर और वन को ततः (इसलिए) जिन्होंने समान कर लिया है, वे संसार में विरल है। जटा [रखने] और भस्म का लेप करने से क्या और गुहा में निवास करने से क्या? यदि आप विषयो से उदासीन रहें, तो मन को जीत कर आप जगत् को जीत लीजिएगा। यदि किसी को सहज भाव उत्पन्न होता है, तो उसका (उसके लिए) मान-अभिमान कैसा है? अपने-पराए को समान पहिचानिए, तब आत्माराम मिलते हैं। कबीर कहता है, [उनकी] कृपा हुई तो गुरु ने समझा कर ज्ञान कहा। यदि मन अन्यत्र न जाए, तो हृदय मे श्री हरि को भेटिए।

पाठान्तर—पं० मारू २। राज० के चरण ७-८ पं० मे नहीं हैं, और पं० के निम्नलिखित चरण राज० में नहीं है—

अंजन देइ सभै कोई टुक चाहन माहि विडानु।
गिआन अंजनु जिह पाइआ ते नीडन परवानु॥

ये पंक्तियां राज० में गौड़ी २८ मे हैं। उसमें इसी प्रकार की निम्नलिखित है—

बहुत भगत भौ सागरा नांनां विधि नांनां भाव।
जिहि किरपी करि हरि भेटिया सो भेद कहूं कहूं ठांव॥

इस पद में इस प्रकार का कथन नहीं हुआ है, इसलिए पं० में इस पद में आई हुई ऊपर उद्धृत पंक्तियां भी उसी पद की ज्ञात होती है, इस पद की नहीं।

है हरि भजन कौ परवांन।
नींच पावैं ऊंच पदवी, बाजते नीसांन॥टेक॥
भजन कौ परताप ऐसो, तिरे जल पापांन।
अधम भील अजाति गनिका, चढ़े जात विवांन॥

नव लख तारा चलैं मंडल, चलैं ससिहर भांन।
दास ध्रू कौं अटल पदवी, रांम कैं दीवांन॥
निगम जाकी साखि बोलैं, कहै संत सुजांन।
जन कबीर तेरी सरनि आयौ, राखि लेहु भगवांन॥२॥

अर्थ—हरि-भजन का यह प्रमाण है कि नीच भी ऊंची पदवी प्राप्त कर लेता है और [उसके द्वार पर] निसान बजने लगते हैं। भजन का प्रताप ऐसा है कि पाषाण जल पर तिरे थे। भिल्लिनी (शबरी) अधम थी, गणिका अजाति थी, किन्तु वे भी [स्वर्ग मे] विमानो पर चढे हुए [देखे] जा रहे हैं। नव लक्ष का तारा-मंडल चलता है, शशधर (चंद्र) और भानु चलते हैं, किन्तु दास ध्रुव को अटल पदवी राम के दीवान (दरबार) मे प्राप्त है। जिसका साक्ष्य निगम (वेद) बोलते हैं, और संत और सुजान (ज्ञानी) जिसका कथन करते हैं, कबीर जन तुम्हारी शरण में आया है; हे भगवान, तुम उसे रख लो।

चलौ सखी जाइये तहां,
जहां गयैं पांइयै परमांनंद॥टेक॥
यहु मन आमन दूमनां, मेरो तन छीजै नित जाइ।
च्यंतामणि चित चोरियौ, तार्थं कछू न सुहाइ॥
सुनि सखी सुपनैं की गति अैसी, हरि आये हम पास।
सोवत ही ज जगाइया, जागत भये उदास॥
चलु सखी बिलम न कीजिये, जब लग सास सरीर।
मिलि रहिये जगनाथ सूं, यूं कहै दास कबीर॥३॥

अर्थ—हे सखी, चलो, वहां जाया जाए जहां जाने से परम आनंद प्राप्त किया जाए। यह मन आमन (आमनस्) दूमना (दुर्मनस्) रहता है (कभी अनुकूल रहता है और कभी प्रतिकूल हो जाता है), जब कि मेरा तनु नित्य ही क्षय-ग्रस्त होता जा रहा है। [हरि] चिन्तामणि ने चित्त को चुरा लिया है, इसलिए कुछ भी नहीं सुहाता है। ऐ सखी, सुन; स्वप्न की गति ऐसी हुई कि हरि मेरे पास आए और जब सोते से उन्होने मुझे जगाया, मेरे जागते ही वे उदास (उदासीन) हो गए! हे सखी, चल, विलंब न किया जाए और जब तक शरीर मे श्वास है, जगन्नाथ से मिल रहा जाए, दास कबीर यो कहता है।

मेरे तन मन लागी चोट सठौरी।
बिसरे ग्यांन बुधि सब नाठी, भई बिकल मति बौरी॥टेक॥
देह व (बि) देह गलित गुन तीन्यूं, चलत अचल भये ठौरी।
इत उत जित कित द्वादस चितवत, यहु भई गुपत ठगौरी॥
सोई पै जांनै पीर हमारी, जिहि सरीर यहु ब्यौरी।
जन कबीर ठग ठग्यौ है बापुरौ, सुंनि संमानी त्यौरी॥४॥

अर्थ—मेरे तनु-मन में चोट सही (मर्म) स्थान पर लगी है, जिससे ज्ञान विस्मृत हो गए, समस्त बुद्धि नष्ट हो गई है और मेरी बुद्धि विकल हो कर

बावली हो गई है। देह विदेह हो गई है और तीनों गुण (सत, रज, तम) गलित हो गए हैं तथा जो [अवयव] चल रहे थे, वे उसी ठौर पर अचल हो गए हैं। मैं इधर-उधर जहां-कहीं द्वादश ओर (दश दिशाओं में तथा अपनी ओर अपने आहत करने वाले की ओर) देख रहा हूं, यह ऐसी गुप्त ठगौरी (ठग-विद्या) हुई है। वही मेरी पीड़ा को जान सकता है जिसके शरीर में यह विवृत हुई हो। जन (सेवक) कबीर बेचारा ठग से ठगा गया है, और उसकी त्योरी (त्रिकुटी) शून्य में समा गई है।

मेरी अंखियां जान सुजांन भई।
देवर भरम सुसर संग तजि करि, हरि पीव तहां गई ।।टेक।।
बालपनैं के क्रम हमारे, काटे जांनि दई।
बांह पकरि करि कृपा कीन्हीं, आप समीप लई ।।
पांनीं की बूंद थैं जिनि प्यंड साज्या, ता संगि अधिक रई।
दास कबीर पल प्रेम न घटई, दिन दिन प्रीति नई ।।५।।

अर्थ—मेरी आंखें जान (ज्ञानी) और सुजान (सुज्ञानी) हो गई हैं। देवर के भ्रम (भ्रमपूर्ण कथनों) और श्वसुर के संग को त्याग कर जहां पर हरि-प्रिय है, वहां पर चली गई हैं। मेरे जो बचपन (नासमझी) के कर्म थे, उनको दैव ने मानो काट दिया; बांह पकड़ कर उन्होंने कृपा की और मुझे अपने समीप ले लिया। जिन्होंने पानी की बूंद (वीर्य) से पिंड (शरीर) का निर्माण किया था, उन [हरि] के साथ मैं रम गई। दास कबीर कहता है, इक पल के लिए भी यह प्रेम घटता नहीं है, और हमारी प्रीति दिन-दिन नूतन है।

देवर प्रवृत्ति मार्ग तथा श्वसुर निवृत्ति मार्ग है।

हो (हौं) बल (लैं) यां ल्यूं, कब देखौंगी तोहि।
अहिनिस आतुर दरसंन कारनि, ऐसी व्यापैं मोहि ।।टेक।।
नैंन हमारे तुम्ह कूं चांहैं, रती न मांनैं हारि।
बिरह अगिनि तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु बिचारि ।।
सुनहु हमारी दादि गुसांई, अब जिन करहु बधीर।
तुम्ह धीरज मैं आतुर स्वांमीं, काचै भांडै नीर ।।
बहुत दिनन कैं बिछुरे माधौ, मन नहीं बांधै धीर।
देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर ।।६।।

अर्थ—मैं बलैया लेती हूं, तुम्हें कब देखूंगी ? मैं अहर्निश तुम्हारे दर्शनों के लिए आतुर हूं, इस प्रकार की [व्यथा] मुझे व्याप्त हो रही है। मेरे नेत्र तुम्हें देखने (ढूंढने) रहते हैं, और रत्ती भर भी हार नहीं मानते हैं (थकते नहीं हैं)। विरह की अग्नि शरीर को बहुत जलाती है, इस प्रकार तुम विचार लो। हे स्वामी, हमारी दाद (दरख्वास्त) सुनो, अब बधिरता (अनसुनी) न करो ! तुम धैर्यवान् हो, किन्तु मैं, हे स्वामी आतुर हूं, जैसे कच्चे भांड (पात्र)

में रखा हुआ जल [वह निकलने के लिए आतुर] होता है। हे माधव, तुम बहुत दिनों के बिछुटे हुए हो, [इसलिए] मन धैर्य नहीं बांध रहा है। देह रहते हुए ही तुम कृपा कर मिल जाओ, कबीर आर्तिवंत है ।

वै दिन कब आवैंगे माइ ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंगि लगाइ ।।टेक।।
हौं जांनूं जे हिल मिलि खेलूं, तन मन प्रांन समाइ ।
या कांमनां करौ परपूरन, संम्रथ हौ रांम राइ ।।
मांहि उदासी माधौं चाहै, चितवत रैंनि बिहाइ ।
सेज हमारी स्यंघ भई है, जब सोऊं तब खाइ ।।
यहु अरदासि दास की सुनियें, तन की तपति बुझाइ ।
कहै कबीर मिलै जे सांईं, मिलि करि मंगल गाइ ।।७।।

अर्थ—वे दिन, हे सखी, कब आएंगे ? जिस के कारण (लिए) मैंने यह देह धारण की है, उसे अंग से लगा कर कब मिलना होगा ? [हे प्रिय,] मैं जानती थी कि मैं हिल-मिल कर और तुम्हारे तनु-मन तथा प्राणों में समा कर तुम्हारे साथ खेलूंगी; [मेरी] यह कामना परिपूर्ण करो, [और] हे राम राय, तुम[इसके लिए] समर्थ हो। किन्तु [इस बीच] में ही, हे माधव, [तुम्हारी ओर से उदासीनता] देखी जा रही है, इसलिए रजनी देखते-देखते व्यतीत होती है, मेरी शैया सिंह हो गई है, और जब मैं [उस पर] सोती हूं, वह मुझे खाती है। दास की यह अर्जदाश्त (विनती) सुनिए, जिससे उसके तनु की तप्ति (जलन) बुझे। कबीर कहता है, यदि स्वामी मिले, तो [उससे] मिल कर तू मगल-गान करे ।

वाल्हा आव हमारे ग्रेह रे ।
तुम्ह बिन दुखिया देह रे ।।टेक।।
सब को कहै तुम्हारी नारी, मोकौं इहै अंदेह रे ।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे ।।
आंन न भावै नींद न आवै, ग्रिह बन धरै न धीर रे ।
ज्यूं कांमीं कौं काम पियारा, ज्यूं प्यासे कूं नीर रे ।।
है कोई ऐसा परउपगारी, हरि सूं कहै सुनाइ रे ।
अैसे हाल कबीर भये है, बिन देखैं जीव जाइ रे ।।८।।

अर्थ—ऐ वल्लभ, तुम मेरे घर आओ; तुम्हारे बिना देह दुःखित है। सब कोई मुझे तुम्हारी स्त्री कहते है, किन्तु मुझे यही अंदेशा (दुःख) है कि एकमेक होकर जब तक कोई शैया पर नहीं सोता है, तब तक स्नेह कैसा है ? न मुझे अन्न भाता है और न नींद आती है, घर और वन में धैर्य नहीं धारण किया जाता है, उसी प्रकार जैसे कामी को काम प्रिय होता है और प्यासे को जल [प्रिय] होता है ! क्या कोई ऐसा परोपकारी है जो हरि से सुना कर कहे कि

[उसकी नारी] कबीर के ऐसे हाल हो गए हैं कि तुम्हे देखे विना उसका जीव [निकला] जा रहा है।

माधौ कब करिही दया।
कांम क्रोध अहंकार व्यापै, नां छूटै माया ।।टेक।।
उतपति ब्यंद भयौ जा दिन थैं, कबहूं सच नहीं पायौ।
पंच चोर संगि लाइ दीये हैं, इन सगि जनम गवायौ ।।
तन मन डस्यौ भुजंग भांमिनी, लहरी वार न पारा।
सो गारड़ू मिल्यौ नही कबहू, पसरयौ विप विकराला ।।
कहै कबीर यहु कासू कहिये, यह दुख कोइ न जांनै।
देहु दीदार विकार दूरि करि, तब मेरा मन मांनैं ।।६।।

अर्थ—हे माधव, तुम [मुझ पर] दया कब करोगे ? मुझे काम, क्रोध, और अहंकार व्याप्त हो रहे हैं, और माया नही छोड़ रही है। जिस दिन से विंदु (पिता के वीर्य) से मेरी उत्पत्ति हुई है, कभी सच (सुख) नही पाया है। तुमने पाच चोर (पंच विकार) जो संग लगा दिए है, इनके साथ मैंने [अपना] जन्म गँवा दिया है। मेरे तनु और मन को भामिनी (स्त्री-) भुजंग ने डस लिया है, और उस [दंश] की लहरों मे कोई वार-पार (यह छोर और वह छोर) नही है। पुनः गारुड़ (विप-वैद्य) कभी मिला नही, इसलिए विकराल विप फैल गया है। कबीर कहता है, यह किससे कहा जाए, [मेरा] यह दुःख कोई नही जानता है। विकारों को दूर कर दर्शन दो, तब मेरा मन माने।

मैं जन भूलौ तूं समझाइ।
चित चंचल रहै न अटक्यौ, विपै बन कूं जाइ ।।टेक।।
संसार सागर मांहि भूल्यौ, थक्यौ करत उपाइ।
मोहणी माया बाघणी थैं, राखि लै रांम राइ ।।
गोपाल सुनि एक बीनती, समति (सुमति) तन ठहराइ।
कहै कबीर सुनि यहु कांम रिप है, मारै सब कूं ढाइ ।।१०।।

अर्थ—मैं [तेरा] जन भ्रमित हूं, तू ही मुझे समझाए (मेरा समाधान कर)। मेरा चंचल चित्त [तुझ मे] अटका नही रहता है और वह छूट-छूट कर विषय-वन को [भाग] जाया करता है। हे राम राय, माया नाम की मोहिनी व्याघ्रिणी से तू उसे रख (बचा) ले। हे गोपाल, एक विनती सुन, [मेरे] तनु में सुमति ठहराए। कबीर कहता है, यह काम हमारा रिपु है, और [हम] सब को ढहा (गिरा) कर मारता है।

गगनि बिन भौजलि डूबत है रे।
बोहिथ छाड़ि बैंनि करि डूंडै, बहुतक दुख सहै रे ।।टेक।।
बार बार जम पैं डहकावै, हरि को ह्वै न रहै रे।
चेरी के बालक की नांईं, कासूं बाप कहै रे ।।

नलिनीं के सूवटा की नांई, जग सूं राचि रहै रे।
बंसा अग्नि बंस कुल निकसै, आपहिं आप दहै रे॥
यहु संसार धार मैं डूबै, अधफर थाकि रहै रे।
खेवट बिनां कवन भौ तारै, कैसै पार गहै रे॥
दास कबीर कहै समझावै, हरि की कथा जीवै रे।
रांम कौ नांव अधिक रस मीठो, बारंबार पीवै रे॥११॥

अर्थ—भक्ति के बिना तू भवजल मे डूब रहा है; बोहित्य (जहाज) को छोड़ कर और डूंडे (?) पर बैठ कर तू बहुतेरे दुःख सहन कर रहा है। तू बार-बार यम के द्वारा ठगा जाता है, क्योंकि तू हरि का होकर नही रहता है। चेरी (चेटी—सेविका) के बालक की भांति तू किसे बाप कह सकता है? नली के सुए की भाति जगत् से तू आसक्त हो रहता है! बांस की अग्नि [की भांति जो] बांस के कुल में ही उत्पन्न होती है, तू अपने-आपको दग्ध कर रहा है। तू इस संसार-धारा मे डूब रहा है और आधा ही सफल होकर, थक रहा है! केवट (कैवर्त्त) के बिना कौन तुझे भव-जल से पार कर सकता है और तू कैसे उसका पार पा सकता है? दास कबीर कहता और समझता है, हरि की कथा से तू जीवित (जीवन धारण करता) रहे और राम के नाम का जो अधिक मीठा रस है, उसको तू बार-बार पिए।

चलत कत टेढ़ौ टेढ़ौ रे।
'नऊं दुवार नरक धरि मूंदे'[१], तू दुरगंधि को बेढ़ौ रे॥टेक॥
'जे जारयौ तौ होइ भसम तन, रहें किरम जल खाई'[४]।
'सूकर स्वांन काग कौ भखिन, तामैं कहा भलाई'[५]॥
'फूटे नैंन हिरदै नहीं सूझै, मति एकै नहीं जांनीं'[२]।
'माया मोह ममिता सूं बांध्यौ, बूड़ि मूवौ बिन पांनीं'[३]॥
बारू के घरवा में बैठो, चेतत नहीं अयांनां।
कहै कबीर एक रांम भगति बिन, बूड़े बहुत सयांनां॥१२॥

अर्थ—तू टेढा-टेढ़ा क्यो चलता है? तेरे शरीर के नव द्वारों पर नर्कों को रख कर उन्हे मुद्रित कर दिया गया है, इसलिए तू दुर्गंधियों का बेड़ा [हो गया] है! यह तनु जलाया जाता है तो भस्म होता है, रहने दिया जाता है तो कृमि और [प्रवाहित किया जाता है तो] जल उसे खा कर समाप्त कर देते है। जो सूकरो, श्वानों और कौओ का भक्षण होता है, उसमें कौन-सी भलाई है? तेरे नेत्र फूटे हुए हैं और तुझे हृदय में सूझता नहीं है, इसलिए तूने उस एक की मति नही जानी है। माया, मोह और ममता से बंधा हुआ तू बिना पानी के (भ्रम-वश) डूब मर रहा है। तू वालुका के घर में बैठा हुआ, ऐ अज्ञानी, नही चेत रहा है। कबीर कहता है, एक राम-भक्ति के बिना बहुतेरे सयाने डूब गए।

पाठान्तर—पं० केदारा ४। १. पं० में यह है—

अनति चरम बिमटा के मूंदे दुरगंध ही के बेड़े।

दोनो पाठ संगत लगते है।

२-३. पं० में ये है—

काम क्रोध त्रिसनां के लीने गति नहि एकै जानी।

फूटी आंखें कछू न सूझै बूडि मुए बिनु पानी।

दोनों पाठों में चरणार्द्धों का क्रम अलग-अलग है। दोनों क्रमों में से राज० का अधिक संगत लगता है, क्योंकि मनुष्य बंधा हुआ होने पर ही बिना पानी के (कम पानी मे) भी डूब जाता है, और यह राज० के पाठ में ही है, पं० में नही है।

४-५. राज० के चरण ३-४ पं० मे नही है। ये पूर्णतः कबीर की शैली में हैं और संगत है, पं० में ये किसी प्रकार छूटे लगते हैं।

६. पं० में निम्नलिखित चरण ऐसे हैं जो राज० में नही हैं—

नाम न जपहु कवन भ्रम भूले तुम से कालु न दूरे।

अनिक जतन करि इह तनु राखहु रहै अवस्था पूरे।

आपन कीआ कछू न होवै किआ को करै परानी।

जा तिसु भावै सतिगुरु भेटै एको नामु बखानी।

पद का शेषांश इससे भिन्न शैली में लिखा गया है, वह उक्ति वक्रता-युक्त है। पं० के ये चरण निरी सरलोक्ति के हैं। दूसरे, 'आपन कीआ कछू न होवै' के विषय से संबंधित कोई कथन पद के शेषांश मे नही आता है। इसलिए पं० के ये चरण संदिग्ध लगते है।

अरे परदेसी पीव पिछांनि।

कहा भयौ तोकौं समझि न परई, लागी कैसी बांनि ॥टेक॥

भोमि बिड़ाणी मैं कहा रातौ, कहा कीयो कहि मोहि।

लाहै कारनि मूल गमावै, समझावत हूं तोहि ॥

निस दिन तोहि क्यूं नींद परत है, चितवत नांहीं ताहि।

जंम से बैरी सिर परि ठाढ़े, परहथि कहा बिकाइ ॥

झूठै परपंच में कहा लागौ, ऊठै नांहीं चालि।

कहै कबीर कछू बिलम न कीजै, कौनैं देखी कालि ॥१३॥

अर्थ—ऐ परदेसी, अपने प्रिय को पहिचान। तुझे क्या हो गया है कि तुझे समझ नहीं पड़ रहा है, यह तुझे कैसी बान (वणिका) लग गई है? पराई भूमि में तू क्या (क्यों) रक्त (अनुरक्त) है? तूने यह क्या किया, मुझ से कह। तू लाभ के लिए मूल धन को भी गंवा रहा है, [इसलिए] मैं तुझे समझा रहा हूं। तुझे रात-दिन नींद क्यों (कैसे) पड़ती है? क्या तू उसे नहीं देख रहा है? जब यम-जैसा बैरी सिर पर खड़ा है, तू दूसरे के हाथों क्या (क्यों) बिक रहा है?

झूठ प्रपंचों मे तू क्या (क्यो) लगा हुआ है, उठता और चलता नही है ? कबीर कहता है, विलंब नही किया जाना चाहिए, किसने कल को देखा है ?

भयौ रे मन पांहुनड़ौ दिन चारि ।
आजिक काल्हिक मांहि चलैगो, ले किन हाथ संवारि ॥टेक॥
सौंज पराई जिनि अपणावै, ऐसी सुणि किन लेह ।
यहु संसार इसौ रे प्रांणी, जैसी धूंवरि मेह ॥
तन धन जोवन अंजुरी कौ पांनीं, जात न लागत वार ।
सैंवल के फूलनि परि फूल्यौ, गरब्यौ कहा गैवार (गंवार) ॥
खोटी साटै खरा न लीया, कछू न जांनीं साटि ।
कहै कबीर कछू वनिज न कीयौ, आयौ थौ इहि हाटि ॥१४॥

अर्थ—ऐ मन, तू चार दिनो का पाहुना (प्राघुणक) हुआ है। आज या कल मे तू चल देगा, तो फिर अपने हाथों को क्यो नही सँवार लेता है ? पराई सौंज (संपत्ति) को तू न अपनाए, [मेरी] ऐसी [वात] तू सुन क्यों नहीं लेता है ? यह संसार, ऐ प्राणी, ऐसा है जैसा धूम्र का मेघ होता है (जिसमें जलन मात्र होती है, पानी नही होता है) । तनु, धन, और यौवन अंजली के जल है, इनके जाते वेला (देर) नही लगती है । तू सेंवल (शाल्मली) के फूलों [के जैसे धन-धाम] पर फूला हुआ, ऐ गँवार, क्यों गर्वित है ? खोटी साट (विनिमय-क्रिया) मे [पड़ कर] तूने खरा सौदा न लिया, साट (विनिमय) [करना] तूने कुछ भी न जाना । कवीर कहता है, तूने कुछ भी वाणिज्य नही किया, [जवकि] तू इस हाट मे आया हुआ था ।

मन रे रांम नांमहि जांनि ।
थरहरी थूंनी पर्यो मंदर, सूतौ खूंटी तांनि ॥टेक॥
सैंन तेरी कोई न संमझै, जीभ पकरी आंनि ।
पांच गज दोवटी मांगी, चूंन लीयौ सांनि ॥
बैसंदर खोखरी हांडी, चल्यौ लादि पलांनि ।
भाई बंध बौलाइ बहुरे, काज कीनौं आंनि ॥
कहै कबीर या मैं झूठ नांहीं, छाड़ि जीय की वांनि ।
रांम नांम निसंक भजि रे, न करि कुल की कांनि ॥१५॥

अर्थ—ऐ मन, तू राम-नाम को जान । थूनी थर्रा उठी, इसलिए मंदिर (भवन) गिर पड़ा है और तू (चद्दर की) खूट तान कर सो रहा है ! तेरा संकेत कोई नही समझता है, जव कि [यम ने] आकर [तेरी] जिह्वा पकड़ ली है । तूने पांच गज का दुपट्टा मांग लिया, और चून (चूर्ण—आटा) सान लिया, आग ले ली, ख़ाली हांडी ले ली और लाद-पलान कर तू [शव-यात्रा पर] चल पडा । भाई-बंधु तुझे बउला (पहुंचा) कर वापस हुए, और आकर उन्होने तेरा कार्य (क्रिया-कर्म) किया । कवीर कहता है, इसमें झूठ नही है,

तू अपनी जीव की बान (वणिका) छोड़ दे, और कुल की कानि न कर। निश्शंक भाव से राम-नाम भज।

थूनी प्राण है, मंदिर शरीर है, [चद्दर की] खूंट कफ़न है, दुपट्टा, सना हुआ आटा, आग, खाली हांडी आदि मृत के साथ श्मशान तक जाने वाले उपकरण हैं।

'प्राणीं लाल औसर चल्यौ रे वजाइ'[१]।
'मुठी येक मटिया मुठी येक कठिया'[२], संग काहू कै न जाई ॥टेक॥
देहली लग तेरी मिहरी सगी रे, 'फलसा'[३] लग सगी माइ।
मड़हट लूं सब लोग कुटंबी, हंस अकेलौ जाइ॥
'कहां वै लोग कहां पुर पटण'[४], वहुरि न मिलवौ आइ।
कहै कबीर जगनाथ भजहु रे, जनम अक्यारथ जाइ ॥१६॥

अर्थ—ऐ प्राणी, तू [अपना] लाल (रव-पूर्ण) अवसर (संगीत का कार्य-क्रम) बजा कर अब [वापस] चल पड़ा है (संसार से विदा हो रहा है)। एक मुट्ठी [शरीर का मांस] और एक मुट्ठी काठी (शरीर की अस्थियां) [भी] किसी के साथ नहीं जाती हैं। [घर की] देहली तक स्त्री सगी होती है और फलसा (?) तक माता सगी होती है। श्मशान तक ही समस्त लोक तथा कुटुंबी भी जाते हैं, हंस जीव तो अकेला ही जाता है। [फिर] वे लोग कहां [मिलते हैं] और कहां यह पुर-पट्टन मिलता है? कबीर कहता है, जग-न्नाथ का भजन करो, [क्योंकि अन्यथा] जन्म (जीवन) अकारथ (अकार्यार्थ) जा रहा है।

पाठान्तर—पं० केदारा ६। १. पं० में इसके स्थान पर है—चारि दिन अपनी नउबति चले वजाइ। औसर >अवसर—नृत्य-संगीतादि की सभा है और 'लाल' है लल्लक—रव-पूर्ण। राज० की यह क्लिष्ट किन्तु संगत उक्ति हटा कर पं० परंपरा में एक सुगम उक्ति रक्खी गई, यह स्पष्ट है।

२. पं० में यह है : इतनकु खटीआ गठीआ मटीआ संगि न कछु लै जाइ। राज० की संगति प्रकट है 'खटीआ गठीआ' की अपेक्षा 'मुठी एक कठिआ' ले जाने की असमर्थता का कथन अधिक संगत है।

३. पं० में 'फलसा' के स्थान पर पाठ 'दुआरै' है। 'फलसा' का अर्थ ज्ञात नहीं है। 'दुआरै' यदि मूल में होता, तो उसके स्थान पर 'फलसा' जैसा अस्पष्ट पाठ देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसलिए मूल पाठ या तो 'फलसा' होना चाहिए, या कोई अन्य क्लिष्ट शब्द जिससे विकृत होकर वह बना होगा।

४. पं० में यह है : वै सुत वै बित वै बित वै पुर पाटन बहुरि न देखै आइ। दोनों पाठ संगत हैं। अंतर का कारण स्पष्ट नहीं है।

रांम गति पार न पावै कोई ।
च्यंतामणि प्रभु निकट छाड़ि करि, भ्रंमि भ्रंमि मति बुधि खोई ।।टेक।।
तीरथ व्रत जपै तप करि करि, बहुत भांति हरि सोधै ।
सकति सुहाग कहौ क्यूं पावै, अछता कंत विरोधै ।।
नारी पुरिष वसैं इक संगा, दिन दिन जाइ अबोलै ।
तजि अभिमांन मिलै नहीं पीव कूं, ढूंढत वन वन डोलै ।।
कहै कबीर हरि अकथ कथा है, विरला कोई जांनै ।
प्रेम प्रीति वेधी अंतर गति, कहूं काहि को मांनै ।।१७।।

अर्थ—राम की गति का कोई पार नही पाता है । चिंतामणि (मनचाही वस्तुएँ देने वाली मणि) [सदृश] प्रभु को निकट ही छोड़ कर भटक-भटक कर तूने मति-बुद्धि खो दी है । तीर्थव्रत, जप, तप कर-कर तू अनेक भांति से हरि का शोध कर रहा है, किन्तु जबर्दस्ती सुहाग कहो कैसे कोई [स्त्री] पा सकती है जो अपने कांत के होते हुए उसका विरोध करती है ? नारी और पुरुष यदि एक-संग वसें और उनके दिन के दिन विना बोलचाल के जाएँ, [अथवा] स्त्री अभिमान त्याग कर प्रिय से न मिले और वन-वन उसको ढूंढती फिरे [यह इसी प्रकार की बात हुई] । कबीर कहता है कि हरि की कथा अकथनीय है, विरला ही कोई उसे जान पाता है । [मेरी] अन्तर्गति [उसके] प्रेम-प्रीति से विद्ध है, यह मैं किससे कहूं और कौन इसे मानेगा ?

'रांम विनां संसार धुंध कुहेरा'[1] ।
सिरि प्रगटचा जंम का पेरा ।।टेक।।
देव पूजि पूजि हिंदू मूये, तुरक मूये हज जाई ।
जटा बांधि बांधि जोगी मूये, इनमैं किनहूं न पाई ।।
'कवि कवीनैं'[2] कविता मूये, कापड़ी केदारौ जाई ।
केस लूंचि लूंचि मूये बरतिया, इनमैं किनहूं न पाई ।।
धन संचते राजा मूये, अरु ले कंचन भारी ।
बेद पढ़ैं पढ़ि पंडित मूये, रूप भूले मूई नारी ।।
जे नर जोग जुगति करि जांनै, खोजैं आप सरीरा'[3] ।
'तिनकूं मुकति का संसा नांहीं, कहत जुलाह कबीरा'[4] ।।१८।।

अर्थ—राम के विना संसार द्वन्द्वों का कुहासा है, और सिर पर यम (काल) का पेरा (पाश) प्रकट हो गया है । देवताओं की पूजा कर-कर हिन्दू मरे (मरते हैं) और तुर्क हज जा-जा कर मरे (मरते हैं), जटा बांध-बांध कर योगी मरे (मरते है), किन्तु इनमें से किसी ने भी [वह वस्तु] नहीं पाई । कवि (कव्य < काव्य) की कविना (रचना) करके कविता (काव्यवत्—काव्य वाले, कवि) मरे (मरते है), कापड़ी (कार्पटिक) साधु केदार जाकर मरे (मरते हैं), व्रत करने वाले जैन साधु केश नोच-नोच कर मरे (मरते है),

किन्तु उनमें से किसी ने भी [वह वस्तु] नही पाई। राजा धन का संचय करते-करते मरे (मरते हैं,) और भारी कंचन लेकर मृत हुए (मरते हैं); पंडित वेद पढ़-पढ़ कर मरे (मृत होते हैं), तथा नारी अपने रूप पर भूल कर मरी (मरती है)। जो मनुष्य योग की युक्ति करके उसको जानते हैं, वे अपने शरीर को ही (शरीर में ही उसको) खोजते हैं; उनको मुक्ति का संशय नही है, ऐसा जुलाहा कबीर कहता है।

पाठान्तर—पं० सोरठि १। १. पं० मे यह है : मन रे संसार अंध गहेरा। दोनों संगत लगते हैं। 'गहेरा' और 'कुहेरा' में से संगत राज० का 'कुहेरा' ही है, 'गहेरा' नहीं, यह स्वतः प्रकट है।

२. पं० मे यह है : कवित पड़े पढि कविता मूए। राज० इसकी तुलना में क्लिष्टतर है, यद्यपि संगत दोनों हैं। ऐसी दशा में राज० की संभावना मूल पाठ होने की अधिक है।

३-४. अंतिम चरण पं० में है—

राम नाम बिनु सभै बिगूते देखहु निरखि सरीरा।
हरि के नाम बिनु किनि गति पाई कहि उपदेसु कबीरा॥

पद के शेषांश में योग-युक्ति की बात नही आती है, पं० का 'बिगूते' भी क्लिष्ट होने के कारण बदला गया लगता है, इसलिए राज० पाठ परवर्ती ज्ञात होता है।

कहूं रे जे कहिबे की होइ।
नां को जानैं नां को मानैं, ताथैं अचिरज मोहि ॥टेक॥
अपनें अपने रंग के राजा, मांनत नांहीं कोई।
अति अभिमांन लोभ के घाले, चले अपनपौ खोई॥
मैं मेरी करि यहु तन खोयो, समझत नहीं गंवार।
भौजलि अधफर थाकि रहे हैं, बूड़े बहुत अपार॥
मोहि आग्या दई दयाल दया करि, काहू कूं समझाइ।
कहै कबीर मैं कहि कहि हार्‌यौ, अब मोहि दोस न लाइ ॥१९॥

अर्थ—[तब तो] मैं [कोई बात] कहूं जब वह कहने की हो। [मेरी] बात न कोई जानता है, न कोई मानता है, इसलिए मुझे आश्चर्य होता है। सभी अपने-अपने रंग (रुचि) के राजा हैं, इसलिए कोई (किसी की) मानता नहीं है; अत्यधिक अभिमान और लोभ के डाले हुए वे आत्मत्व खो कर चले (चलते) हैं। 'मैं' 'मेरी' कर तूने यह शरीर खो दिया और, ऐ गँवार, तू समझता नहीं है। भव-जल में [अनेक] आधे ही सफल हो कर थक रहते हैं, और अपार बहुतेरे [इसमें] डूब जाते हैं। मुझे दयालु ने दया कर आज्ञा दी कि किसी को न समझा, किन्तु कबीर कह-कह कर हार गया, अब मुझे कोई दोष न लगाए।

एक कोस बन मिलांननि मेला ।
बहुतकि भांति करैं फुरमाइस, है असवार अकेला ।।टेक।।
जोरत कटक जु घेरत सब गढ़, करतब्र झेली झेला ।
जोरि कटक गढ़ तोरि पातिसाह, खेलि चल्यौ एक खेला ।।
कूंच मुकांम जोग के घर मैं, कछू एक दिवस खटांनां ।
आसन राखि बिभूति साखि दे, फुनि ले मठी उड़ांनां ।।
या जोगी की जुगति जु जांनैं, सो सतगुर का चेला ।
कहै कबीर उनि गुर की कृपा थैं, तिनि सब भ्रम पछेला ।।२०।।३०६।।

अर्थ—एक कोस वन के भीतर [जा कर सैनिक ने] मिलानों (सैनिक पडावो) को छोड दिया । वहुत भांति की फ़रमाइश (अनुनय-विनय) वह कर रहा है, और वह सवार अकेला ही है । जो कटक जोडता और समस्त गढ़ को घेरता था और जिसका कर्त्तव्य ही आफ़तो को झेलना था, वह कटक जोड़ कर और [शत्रु] वादशाह के गढ़ को तोड कर एक खेल खेल चला था । कूच का मुक़ाम उसने योग के घर मे किया, और वहां कुछ-एक दिन उसके खटे (उपयोग मे आए), अपने आसन को वही रख कर और विभूति (राख) को साथी के रूप मे देकर, पुनः वह मठी को लेकर उड़ गया । इस योगी की युक्ति जो जाने, वह सद्गुरु का चेला है । कवीर कहता है कि उस सद्गुरु की कृपा से उसने समस्त भ्रम को पीछे छोड़ दिया ।

सवार जीव है, सेना संवंधी हैं, पड़ाव पुर-पट्टन है, वन पारमार्थिक साधना-भूमि है, शत्रु बादशाह और उसके गढ़ का भंजन सांसारिक सफलता है । योग के घर मे कुछ दिनों का खटना कुछ समय-पर्यन्त योग-साधन करना है । पुनः आसन को छोड़ कर विभूति को साक्षी के रूप में दे जाना और मठी को लेकर उड़ जाना उसका ब्रह्मलीन हो जाना है, यथा :

झल उठी झोली जली खपरा फूटिम फूटि ।
जोगी था सो रमि गया आसनि रही बिभूति ।। (४.४)

स्पष्ट ही इस पद में कबीर ने अपने पारमार्थिक जीवन-क्रम का उल्लेख किया है ।

(६) राग मारू

मन रे रांम सुमिरि रांम सुमिरि रांम सुमिरि भाई ।
रांम नांम सुमिरन बिनां बूड़त है अधिकाई ।।टेक।।
दारा सुत ग्रेह नेह, संपति 'अधिकाई'[१] ।
यामैं कछु नांहि तेरौ, काल अवधि आई ।।
अजामेल गज गनिका, पतित करम कीन्हां ।
तेऊ उतरि पारि गये, रांम नांम लीन्हां ।।

'स्वांन सूकर काग कीन्हा'[२], तऊ लाज न आई।
रांम नांम अंमृत छाड़ि, काहे विष खाई॥
तजि भरम क्रम विधि नषेद, रांम नांम लेही।
जन कबीर गुरु प्रसादि, रांम करि सनेही॥१॥

अर्थ—हे मन, 'राम' का स्मरण कर, 'राम' का स्मरण कर, हे भाई, 'राम' का स्मरण कर, क्योंकि 'राम' नाम के स्मरण के बिना तू [और] अधिक डूब रहा है। स्त्री, पुत्र, गृह के स्नेह तथा संपत्ति की अधिकता—इनमें तेरा कुछ भी नहीं है, क्योंकि [तेरी] काल की अवधि आ गई है। अजामिल, गज और गणिका ने पतित कर्म किये थे, किन्तु राम नाम जब उन्होंने लिया, वे भी पार उतर गए। [दारा, सुत और गृह से स्नेह के विषय में] तुझे [भगवान ने] श्वान, सूकर और काग किया (बनाया), फिर भी तुझे लज्जा नहीं आई (आती है)? तू राम-नाम के अमृत को छोड़ कर क्यों विष खाता है? भ्रम को छोड़ कर तथा कर्मों का विधि-निषेध छोड़ कर तू 'राम' नाम ले। जन कबीर कहता है, तू गुरु की कृपा से स्नेह कर।

पाठान्तर—पं० धनासिरी ५। १. पं० में 'अधिकाई' के स्थान पर 'सुख-दाई' है। राज० में पूर्ववर्ती चरण के अन्त में भी 'अधिकाई' है, इसलिए राज० में पुनरुक्ति प्रकट है। पं० पाठ इससे मुक्त है।

२. पं० में यह है: सूकर कूकर जोनि भ्रमे। राज० में कर्त्ता प्रच्छन्न है, पं० में व्यक्त है, अन्यथा दोनों पाठ एक-से हैं।

रांम नांम हिरदै धरि, निरमोलिक हीरा।
सोभा तिहूं लोक तिमर, जाय त्रिविधि पीरा॥टेक॥
त्रिसनां नै लोभ लहरि, कांम क्रोध नीरा।
मद मंछर कछ मछ, हरिष सोक तीरा॥१॥
कांमनी अरु कनक सुवर, बोये बहु बीरा।
जन कबीर नवका हरि, खेवट गुर कीरा॥२॥

अर्थ—हे, अमूल्य हीरे राम-नाम को हृदय में धारण कर, जिससे तीनों लोकों में तेरी शोभा हो, [तेरे मानस का] अन्धकार जाए और तेरी त्रिविध पीड़ाएँ (आधिभौतिक, आध्यात्मिक आधिदैविक) चली जाएं। [भव-सरिता में] तृष्णा तथा लोभ की लहरें हैं, काम-क्रोध का जल है, मद और मत्सर उसमें कच्छ-मच्छ हैं, हर्ष तथा शोक उसके दो तट हैं, कामिनी और कनक उसकी भँवरें हैं, जिन्होंने बहुतेरे वीरों को डुबाया (बोय् < ब्रोडय्) है। दास कबीर कहता है, [उससे पार जाने के लिए] नौका 'हरि' है, और केवट (कैवर्त्त) गुरु कीर 'शुकदेव' है।

चलि मेरी सखी हो वोलगन रांम राया।
जब तब काल बिनासैगी काया॥टेक॥
जब लग लोभ मोह की दासी। तीरथ ब्रति न छूटै जंम की पासी॥

आवैंगे जंम के घालैंगे बांटी । यहु तन जरि वरि होइगौ माटी ॥
कहै कबीर जे जन हरि रंगि राता । पायौ राजा रांम परंम पद दाता ॥
३॥३०९॥

अर्थ—हे मेरी सखी (आत्मा), तू राम राय की ओलगन (अवलग्नता में—सेवा मे) चल, क्योकि काल जभी-तभी काया का विनाश कर देगा। जब तक तू लोभ और मोह की दासी है, तीर्थ-व्रतादि से यम का पाश नहीं छूट सकता है। जब यम के [दूत] आएंगे, वे तुझे बांट (काट) कर रख देंगे, और [तेरी] यह शरीर जल-बल कर मिट्टी हो जाएगा। कबीर कहता है, जो जन हरि के रंग में रक्त (रंगे हुए) हैं, उन्होने उन राजा राम को प्राप्त कर लिया है जो परम पद के देने वाले हैं।

(७) राग टोड़ी

तूं पाक परमानंदे ।
पीर पैकंबर पनह तुम्हारी, मैं गरीब क्या गंदे ॥टेक॥
तुम्ह दरिया सबही दिल भीतरि, परमांनंद पियारे ।
नैंक नजरि हम ऊपरि नांहीं, क्या कमिबखत हंमारे ॥
हिकमति करैं हलाल बिचारैं, आप कहावैं मोटे ।
चाकरी चोर निवालै हाजिर, सांईं सेती खोटे ॥
दांइम दूवा करद बजावैं, मैं क्या करूं भिखारी ।
कहै कबीर मैं बंदा तेरा, खालिक पनह तुम्हारी ॥१॥

अर्थ—ऐ परमानंद, तू पाक (पवित्र) है। जब पीर और पैगंबर तेरी पनाह (शरण) में है, तो मै गरीब गदा (भिक्षुक) क्या हूं ? तुम [दया की] नदी हो और तुम सभी के हृदयों के भीतर हो, ऐ प्यारे परमानंद। मेरे क्या (कौन-से) बुरे भाग्य है कि मेरे ऊपर तुम्हारी नज़र जरा भी नहीं है ? लोग हिकमतें (युक्तियां) करते है और हलाल का (उन कर्मो का जो शरअ के अनुकूल हैं) विचार करते है, और अपने-आप को मोटे (बड़े) कहलाते है। वे तेरी चाकरी में चोरी करते है (कर्त्तव्य का पूरा-पूरा पालन नही करते हैं), यद्यपि तेरे निवाले (भोजन) में हाजिर हो जाते है, और वे तुम स्वामी से खोटे होते है। वे सदैव दुआएँ करते है, किन्तु करद (कतरनी या छुरी) बजाते है, मैं भिखारी क्या कर सकता हूं ? कबीर कहता है, मै तेरा बंदा (सेवक) हूं और ऐ ख़ालिक (सृष्टिकर्त्ता), मैं तेरी शरण में हूं।

अब हम जगत गौंहन तैं भागे ।
जग की देखि जु गति रांमहि ढुरि लागे ॥टेक॥
अयांनपनै थैं बहु बौरांनें । संमझि परी तब फिरि पछितांनें ॥
लोग कहौ जाकै जो मनि भावै । लहैं भवंगम कौंन डसावैं ॥
कबीर विचारि इहै डर डरिये । कहैं का हो इहां नैं मरिये ॥२॥३११॥

अर्थ—अब मैं जगत् के साथ से भाग निकला हूं। जगत् की जो गति है उसे देख कर, उससे ढुलक (हट) कर मैं राम से लग गया हूं। [अपने] अज्ञानपन से मैं बहुत बावला हुआ, और जब समझ में आई, तब पछताने लगा। लोग कहे जिसको जो भाए, भुजंग को प्राप्त कर लेने पर उससे कौन दंश कराता है? कबीर कहता है, विचार कर इसी डर से डरिए; [किसी के] कहने से क्या होता है, और यहां क्या (क्यों) मरिए?

(८) राग भैरूं

ऐसा ध्यान धरौ नरहरी।
सबद अनाहद च्यंतन करी ॥टेक॥

पहली खोजौ पंचे बाइ। बाइ व्यंद ले गगन समाइ॥
गगन जोति तहां त्रिकुटी संधि। रवि ससि पवनां मेलौ बंधि॥
मन थिर होइ त कवल प्रकास। कवला मांहि निरंजन बास॥
सतगुरु संपट खोलि दिखावै। निगुरा होइ तौ कहा बतावै॥
सहज लछिन ले तजौ उपाधि। आसण दिढ़ निद्रा पुनि साधि॥
पुहुप पत्र जहां हीरा मणीं। कहै कबीर तहां त्रिभुवन धणीं॥१॥

अर्थ—नरहरि का ऐसा ध्यान धारण करो, अनाहत शब्द का [ऐसा] चिंतन करो। पहले पंच-वायु (प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान) को खोजो और इन वायुओं और बिन्दु (सूक्ष्म शरीर) को ले कर गगन (ब्रह्मरंध्र) में समाओ। गगन की [दिव्य] ज्योति में वहां त्रिकुटी की संधि पर रवि-शशि (सूर्य और चंद्र नाडियां) को पवनों से मिला कर बांधो। मन के स्थिर होने पर कमल (चक्र) प्रकाशित होता है, और उस कमल (चक्र) में निरंजन (आत्माराम) का निवास होता है। वहीं पर सद्गुरु संपुट (डिब्बी) खोल कर [हीरामणि को] दिखाता है, यदि कोई निगुरा है, तो उसको वह क्या बताए? सहज का लक्षण ले कर तब समस्त उपाधियों (स्थूल जगत् के धर्मों) को छोड़ दो और दृढ़ आसन तथा निद्रा की साधना करो। जहां पर पुष्प-पत्र में हीरा-मणि होगी, वहीं पर, कबीर कहता है त्रिभुवन-धनी होगा।

इहि विधि सेविये श्री नरहरी।
मन की दुविध्या मन परहरी ॥टेक॥

जहां नहीं जहां तहां कछू जांणि। जहां नहीं तहां लेहु परवांणि॥
नांहीं देखि न जइये भागि। जहां नहीं तहां रहिये लागि॥
मन मंजन करि दसवै द्वारि। गंगा जमुनां संधि विचारि॥
नादहि व्यंद कि व्यंदहि नांद। नादहि व्यंद मिलै गोव्यंद॥
देवी न देवा पूजा नहीं जाप। भाई न बंध माइ नहीं बाप॥
गुण अतीत जस निरगुन आप। भ्रम जेवड़ी जग कीयौ साप॥

तन नांहीं कव जव मन नांहि। मन परतीत ब्रह्म मन मांहि ॥
परिहरि बकुला ग्रहि गुन डार। निरखि देखि निधि वार न पार ॥
कहै कबीर गुरु परम गियांन। सुंनि मंडल मैं धरौ धियांन ॥
प्यंड परें जीव जैसे जहां। जीवत हीं ले राखौ तहां ॥२॥

अर्थ—इस प्रकार से श्री नरहरि की सेवा मन की द्विधा को मन में छोड़ कर की जाती है। जहां पर [कुछ] नही है, वहा पर भी कुछ जान लो, और जहां पर [कुछ] नही है, वहां पर उसको प्रमाणित कर लो। उसको न देख कर भाग न जाइए, तहा (जहां) पर वह नही [ज्ञात होता] है, वहां पर भी आप उसमें लगे रहिए। दसवें द्वार (ब्रह्मरंध्र) में मन का मज्जन (मार्जन) कर गंगा-यमुना (चंद्र और सूर्य नाड़ियों) की संधि का विचार कीजिए। या तो नाद ही विंदु हो और या तो विंदु ही नाद हो, नाद और विंदु के मिल जाने पर ही गोविंद [की स्थिति होती] है। वहां पर न देवी-देवता होंगे, न पूजा-जाप होगी, न भाई-वंधु होंगे और न माता-पिता होंगे। वह निर्गुण जैसे स्वयं गुणातीत है, वैसे ही उसने जगत् मे भ्रम की जीवा (रस्सी) को सर्प कर दिया है। जव मन नही रहता है, तव तनु भी नही होता है, और तव मन की प्रतीति ब्रह्म-मानस में ही होती है। यदि तुम वक्कल (वल्कल : त्रिगुणात्मक आवरण) को छोड कर [तात्त्विक] गुणो की डाल को पकडो, और भली भांति देखो, तो [ज्ञात होगा कि] उस [ब्रह्म-] निधि का वार-पार (आदि-अंत) नहीं है। कवीर कहता है कि [इसके लिए] तुम्हारा गुरु परम ज्ञान हो, शून्य मंडल (ब्रह्मरंध्र) में तुम उसका ध्यान धारण करो और पिंड के पड़ने (शरीर-पात होने) पर जीव जिस प्रकार जहां जाता है, जीते ही ले जा कर उसको वहीं रख दो।

नाद सूक्ष्म जीव-तत्त्व है और विन्दु सूक्ष्म शरीर-तत्त्व है।

अलह अलख निरंजन देव।
किहि बिधि करौं तुम्हारी सेव ॥टेक॥
बिस्न सोई जाकौ बिस्तार। सोई कृस्न जिनि कीया संसार ॥
गोव्यंद ते ब्रह्मंडै गहै। सोई रांम जे जुगि जुगि रहै ॥
अलह सोई जिनि उमति उपाई। दस दर खोलै सोई खुदाई ॥
लख चौरासी रब परवरै। सोई करीम जे एती करै ॥
गोरख सोई ग्यांन गमि गहै। महादेव सोई मन की लहै ॥
सिध सोई जो साधै इती। नाथ सोई जो त्रिभुवन जती ॥
सिध साधू पैकंवर हूवा। जपै सु एक भेष [है] जूवा ॥
अपरंपार का नांउ अनंत। कहै कबीर सोई भगवंत ॥३॥

अर्थ—ऐ अल्लाह और अलक्ष्य निरंजन देव, मैं तुम्हारी सेवा किस प्रकार करू? विष्णु वह है जिसका विस्तार है, कृष्ण वह है जिसने संसार को [निर्मित] किया है। गोविन्द वह है जो ब्रह्मांड को ग्रहण किए रहता है, राम

वह है जो युग-युग तक रहता है, अल्लाह वह है जिसने उम्मत उत्पादित की (धर्म का निर्माण किया) है, जो दस द्वारों (शरीर के नव द्वार तथा ब्रह्मरंध्र) को खोलता है, वह खुदा है, जो चौरासी लक्ष जीवों की परवरिश करता है वही रब है, करीम वही है जो इतनी [कृपा] करता है, गोरख वह है जो ज्ञान-गम्य को ग्रहण करता है, महादेव वह है जो मन की [बात] प्राप्त कर लेता है, सिद्ध वह है जो इतनी साधना करता है, नाथ वह है जो त्रिभुवन में यती (संयतेन्द्रिय) रहता है। सिद्ध, साधु और पैगंबर जो हुए हैं, वे सभी उसी एक का जप करते हैं, [केवल] उनके भेष भिन्न-भिन्न [रहे] हैं। उस अपरम्पार के नाम अनंत है, और कबीर कहता है, वही भगवंत है।

तहां जौ रांम नांम ल्यौ लागै।
तौ जुरा मरण छूटै भ्रम भागै ॥टेक॥
अगम निगम गढ़ रचिले अवास। तहुवां जोति करै परकास ॥
चमकै बिजुरी 'तार अनंत'[१]। तहां प्रभू बैठे कवलाकंत ॥
'अखंड मंडल मंडित मंड। त्रि अस्नांन करै त्रीखंड'[२] ॥
अगम अगोचर अभिअंतरा। ताकौ पार न पावै धरणींधरा ॥
अरध उरध बिचि लाइले अकास। तहुवां जोति करै परकास ॥
टारयौ टरै न आवै जाइ। सहज सुंनि मैं रह्यौ समाइ ॥
अबरन बरन स्यांम नहीं पीत। 'हाहू जाइ न गावै गीत'[३] ॥
अनहद सबद उठै झणकार। तहां प्रभू बैठे संम्रथ सार ॥
कदली पुहुप दीप प्रकास। 'रिदा पंकज'[४] मैं लीया निवास ॥
द्वादस दल अभिअंतरि म्यंत। तहां प्रभू पाइसि करि लै च्यंत ॥
'अमिलन मलिन घांम नहीं छांहां। दिवस न राति नहीं है तांहां'[५] ॥
तहां न ऊगै सूर न चंद। आदि निरंजन करै अनंद ॥
ब्रह्मंडे सो प्यंडे जांनि। मांनसरोवर करि असनांन ॥
सोहं हंसा ताकौ जाप। ताहि न लिपै पुन्य न पाप ॥
काया मांहैं जांनैं सोइ। जो बोलै सो आपै होइ ॥
जोति 'मांहि'[६] जे मन थिर करै। कहै कबीर सो प्रांणी तिरै ॥४॥

अर्थ—वहां (आगे वर्णित स्थान) पर यदि राम-नाम में लय लगे, तो जरा-मरण छूट जाए और भ्रम भाग जाए। अगम्य और निर्गम्य गढ़ (कपाल) में एक आवास रचा हुआ है, और वहां पर एक [दिव्य] ज्योति प्रकाश करती है। वहां पर विद्युत् चमकती है और अनंत तारागण हैं; वहां पर प्रभु कमलाकान्त बैठे हुए होते हैं। वह मंड (रचना) अखंड-मंडल (आकाश) से मंडित है, उसके तीन खंडों में तीन स्नान करे। उसका अभ्यंतर अगम्य और अगोचर (इन्द्रियातीत) है, उसका पार धरणींधर (शेष) भी नहीं पाते हैं। अधस् और ऊर्ध्व के बीच आकाश लगाया हुआ है, वहां पर एक [दिव्य] ज्योति का प्रकाश होता है, वहां पहुंच कर हटाने से भी न हटे और न आए-जाए,

और सहज शून्य में समा रहे। जो न अवर्ण है, न वर्ण है, न श्याम है, न पीला है, जहां पर न हाहू (गंधर्व-विशेष) जाता है और न वह गीत गाता है, जहाँ पर अनाहत शब्द की ही झंकार उठती है, वहां पर समर्थ और सार (वास्तविक, मूल) प्रभु बैठे हुए होते है। जहां पर कदली-पुष्प [होता है और उस] में दीपक का प्रकाश होता है, वहां पर हृदय-पंकज में निवास ले (करे);(द्वादश) दलों [अनाहत चक्र] के अभ्यंतर, ऐ मित्र, वहां पर तू प्रभु को पाएगा, यह तू चिन्ता कर ले। जहां पर न अमालिन्य है, न मालिन्य है, न घाम है और न छाया है, वहा (जहां) पर दिन और रात्रि भी नही है, वहां (जहां) पर सूर्य और चंद्र भी नही उदित होते है, वहां पर आदि निरंजन आनंद करता है। जो ब्रह्माड में है, उसे पिंड (शरीर) में जान कर और [वहां के] मानसरोवर में स्नान कर जो 'सोऽहं' तथा 'अहं सः' मंत्र हैं उनका जप करता है, उसे न पुण्य और न पाप लिप्त करते हैं। उसको जो काया मे ही जान कर बोलेगा, वह आत्मा ही होगा। जो उस [दिव्य] ज्योति मे मन को स्थिर करता है, वह प्राणी, कबीर कहता है, [भव-जल को] तिर जाता है।

पाठान्तर—पं० भैरउ १६। १. पं० मे 'तार अनंत' के स्थान पर 'होइ अनंदु'। पूर्ववर्ती शब्दावली 'चमकै बिजुली' के संदर्भ में 'तार अनंत' ही मूल पाठ ज्ञात होता है, जिसकी क्लिष्टता के कारण सुगम पाठ 'होइ आनंद' आ गया।

२. पं० में यह है : खंडल मंडल मंडल मंडा। त्रिअ अस्थान तीनि त्रिअ षंडा। दोनों मे से पं० ही संगत ज्ञात होता है, क्योंकि तीन स्थानों पर तीन-तीन खंड (कुल नौ खंड) हैं। राज० का 'त्रि अस्नान' कदाचित् 'त्रि अस्थांन' की पाठ-विकृति है।

३. पं० मे यह है—

अवरन वरन सिउ मन ही प्रीति। हउमै गावनि गावहि गीत॥

राज० का अर्थ स्पष्ट है; पं० के 'हउमै' का अर्थ है 'स्वयमेव' (यथा—तउ मन माने जाते हउमै जईहै—पं० गउड़ी १०) : अतः उसके दूसरे चरण का आशय होगा कि वहां पर वह स्वयमेव (आत्म एव) ही गायक होता है और गीत गाता है। लगता है कि 'हउमै' ही अपनी क्लिष्टता के कारण राज० परंपरा में 'हाहू' में बदल गया।

४. पं० मे यह है 'रज पंकज'। प्रसंग चक्र-विशेष का है, जो कदाचित् 'अनाहत' है, इसलिए राज० के 'रिदा पंकज' की संगति प्रकट है। 'रज पंकज' संगत नही लगता है।

५. पं० में यह है : अवरन वरन घाम नही 'छाम'। अवर न पाइऔ गुर की 'साम'। 'साम' की संगति स्पष्ट नहीं है। राज० मे यह कठिनाई नही है।

६. पं० में यह है 'मंत्रि'। 'मंत्रि' असंगत है। कदाचित् 'मंधि' से 'मंत्रि' हो गया है। राज० 'मांहि' की संगति प्रकट है।

एक अचंभा ऐसा भया ।
करणीं थैं कारण मिटि गया ॥टेक॥
करणीं किया करम का नास । पावक मांहि पुहुप प्रकास ॥
पुहुप मांहि पावक प्रजरै । पाप पुंन दोऊ भ्रम टरै ॥
प्रगटी बास बासनां धोइ । कुल प्रगट्यौ कुल घाल्यौ खोइ ॥
उपजी च्यंत च्यत मिटि गई । भौ भ्रम भागा ऐसी भई ॥
उलटी गंग मेर कूं चली । धरती उलटि अकासहि मिली ॥
दास कबीर तत ऐसा कहै । ससिहर उलटि राह कौं गहै ॥५॥

अर्थ—एक अचंभा यह हुआ कि एक करणी से कारण (कर्म) मिट गया। करणी ने जो कर्म का नाश किया, यह ऐसा ही हुआ जैसे पावक मे पुष्प का प्रकाश (विकास) हुआ हो। [इस प्रकार] पुष्प में जब पावक प्रज्वलित होता है, तब पाप और पुण्य दोनों भ्रम चले जाते हैं। वासना को धोकर पुष्प की यह वास प्रकट हुई, और कुल को खो (डाल) कर [वास्तविक] कुल प्रकट हुआ! वह चिन्ता जब उत्पन्न हुई, तब [शरीरादि की] चिन्ता मिट गई और ऐसा हुआ कि भव-भ्रम भाग निकला। [विपरीत-करणी मुद्रा के द्वारा], गंगा उलट कर मेरु की ओर चल पड़ी और धरती उलट कर आकाश से मिल गई। दास कबीर ऐसा तत्त्व कहता है कि [इस स्थिति में] शशधर (चन्द्रमा) उलट कर राहु को ग्रसता है।

यह भी एक 'उलटवासी' है। पाप का नाश करने वाली करणी योग की साधना है। पावक में पुष्प का प्रकाश शरीर के भीतर विभिन्न चक्रों की स्थिति है। पुष्प मे पावक का प्रज्वलित होना चक्रों का तेज-संपन्न होना है। इनकी सुवास समस्त वासनाओं को समाप्त करके प्रकट होती है। योग की चिन्ता के प्रकट होने पर शरीरादि की चिन्ताएं मिट जाती हैं। गंगा का मेरु की ओर चलना कुंडलिनी का मूलाधार चक्र से उत्थित हो कर सहस्रार की ओर जाना है, धरती मूलाधार चक्र है आकाश ब्रह्मरंध्र के अन्तर्गत सहस्रार है। शशधर (चंद्रमा) अमृतत्व पूर्ण आत्मानुभव है, राहु मोह है।

है हजूरि क्या दूरि बतावै ।
दुंदर बांधै सुंदर पावै ॥टेक॥
सो मुलनां जो मन सूं लरै । 'अह निसि कालचक्र सूं भिरै'[१] ॥
कालचक्र का मरदै मांन । तां मुलना कौं सदा सलांम ॥
काजी सो जो काया बिचारै । 'अहनिसि ब्रह्म अगनि प्रजारै'[२] ॥
सुपिनै ब्यंद न देई झरनां । ता काजी कूं जुरा न मरणां ॥
सो सुलितान जु द्वै सुर तानैं । बाहरि जाता भीतरि आनैं ॥
गगन मंडल मैं लसकर करै । सो सुलितान छत्र सिरि धरै ॥
जोगी गोरख गोरख करै । हिंदू रांम नांम उच्चरै ॥
मुसलमांन कहै एक खुदाइ । कबीरा कौ स्वांमी घटि घटि रह्यौ
समाइ ॥६॥

अर्थ—वह हुजूर (सम्मुख) ही है, उसे दूर क्या (क्यों) बताते हो ? जो द्वन्द्वों को बांधता है, वही सुंदर को पाता है। मुलना (मौलाना) वह है जो मन से लड़ता रहता है और अहर्निश कालचक्र से भिडता रहता है; जो काल-चक्र का मान मर्दित कर दे, उस मौलाना को सदैव सलाम है। काज़ी वह है जो काया का विचार करे और अहर्निश ब्रह्माग्नि को प्रज्वलित करे; जो स्वप्न मे भी विन्दु (वीर्य) को न झडने दे, उस काजी को जरा-मरण नही [होते] है। सुल्तान वह है जो सुरों (इडा तथा पिंगला नाडियो रूपी दो शरों) को तानता है और बाहर जाते हुए पवनों (प्राणो) को भीतर ले आता है, जो सुल्तान गगन-मंडल (ब्रह्मरंध्र) में सेना [प्रस्तुत] करता है, वही सुल्तान सिर पर छत्र धारण करता है। योगी 'गोरख' 'गोरख' कहता है, और हिंदू 'राम' नाम का उच्चारण करता है, मुसलमान 'एक खुदा' कहता है, कबीर का स्वामी [इन अनेक नामो से] घट-घट में समा रहा है।

पाठान्तर—पं० भैरउ ११। १. प० मे यह है: 'गुर उपदेस काल सिउ जुरै'। राज० का 'कालचक्र' बाद वाली अर्द्धाली मे भी आता है, इसलिए उसमें अनावश्यक पुनरुक्ति है, जो पं० मे नही है।

२. पं० में यह है: 'काइआ की अगनि ब्रहमु परजारै'। 'काया की अग्नि' से तात्पर्य कदाचित् है 'काया को अग्नि करके'। किन्तु काया 'की' से यह अर्थ स्पष्ट नही था, कदाचित् इसीलिए 'काइआ की' के स्थान पर राज० परंपरा में 'अहनिसि' आ गया।

आऊंगा न जाऊंगा, मरूंगा न जीऊंगा।
गुरु के सबद मैं रमि रमि रहूगा ।।टेक।।
आप कटोरा आपैं थारी। आपैं पुरिखा आंपैं नारी।।
आप सदाफल आपैं नीबू। आपैं मुसलमान आपैं हिंदू।।
आपैं मछ कछ आपैं जाल। आपैं झींवर आंपैं काल।।
कहै कबीर हम नांहीं रे नांहीं। नां हम जीवत न मुयेले मांहीं ।।७।।

अर्थ—मैं न आऊँगा न जाऊंगा, न मरूंगा, न जीऊंगा गुरु के शब्दों में बार-बार रम रहूंगा। मै आप कटोरा हूं, आप ही थाली हूं, आप ही पुरुष हूं, आप ही नारी हूं, आप ही सदाफल हू, आप ही नीबू हूं, आप ही मुसलमान हूं, आप ही हिंदू हू; आप ही मच्छ-कच्छ हूं और आप ही [उनको फंसाने वाला] जाल भी हूं, मै आप ही धीवर (मछुवा) और आप ही काल हूं; कबीर कहता है [मुझमें] हम (अहम्) नही है, नही है, इसलिए न मैं जीवितों मे हूं और न मै मृतो में हूं।

हंम सब मांहि सकल हम मांही।
हम थैं और दूसरा नांहीं ।।टेक।।
तीनि लोक मै हमारा पसारा। आवागमन सब खेल हमारा।।

खट दरसंन कहियत हम भेखा। हमहीं अतीत रूप नहीं रेखा॥
हमहीं आप कबीर कहावा। हमहीं अपनां आप लखावा॥८॥

अर्थ—हम सभी में हैं, और सब हम में हैं, हम से अपर (भिन्न) कोई नहीं है। तीनों लोकों में हमारा प्रसार है, आवागमन (जन्म-मरण) का समस्त खेल हमारा है। षट्-दर्शन हमारे ही [विभिन्न] वेष कहे जाते हैं। हमीं अतीत हैं, जिसकी रूप-रेखा नहीं है। हमीं आप कबीर कहलाए, और हमीं ने अपना आत्म [नाना रूपों में] प्रदर्शित किया।

सो धंन मेरे हरि का नांउं।
गांठि न बांधौं बेचि न खांउं॥टेक॥
नांउं मेरे खेती नांउं मेरे बारी। भगति करौं मैं सरनि तुम्हारी॥
'नांउं मेरे सेवा नांउं मेरे पूजा'[1]। तुम्ह बिन और न जांनौं दूजा॥
नांउं मेरे बंधव नांउं मेरे भाई। 'अंत की बिरियां नांउं सहाई'[2]॥
'नांउं मेरे निरधन ज्यूं निधि पाई। कहै कबीर जैसैं रंक मिठाई'[3]॥९॥

अर्थ—[हे प्रभु] वह धन मेरे पास हरि-नाम है, न उसे मैं गांठ में बांधता हूं और न बेच कर खाता हूं। नाम ही मेरे खेती है, नाम ही मेरे बारी (वाटिका) है, मैं भक्ति करता हूं और तुम्हारी शरण में हूं। नाम ही मेरे सेवा है, नाम ही मेरे पूजा है, तुम्हारे अतिरिक्त मैं अपर द्वितीय को नहीं जानता हूं। नाम ही मेरे बांधव है, नाम ही मेरे भाई है, [क्योंकि] अंत की वेला में नाम ही [मेरा] सहायक होगा। मेरे लिए नाम वैसा ही है जैसे निर्धन ने निधि पाई हो, अथवा जैसे कबीर कहता है, रंक ने मिठाई पाई हो।

पाठान्तर—पं० भैरउ १। १. पं० में यह है : 'नाउ मेरे माइआ नाउ मेरे पूंजी।' पद में जीविका के अप्रस्तुतों के साथ नाम को प्रस्तुत के रूप में दिया गया है, इसलिए राज० की अपेक्षा पं० अधिक संगत है।

२. पं० में यह है : 'नाउ मेरे संगि अंति होइ सखाई।' दोनों पाठ संगत लगते हैं।

३. पं० में यह है : 'माइआ महि जिसु रखै उदासु। कहि कबीर हउ ताको दासु।' अंतिम पंक्ति पद के विषय को एक परिणाम पर पहुँचाते हैं, और पं० का यह औचित्य प्रकट है। राज० में यह विशेषता नहीं है। पुनः राज० में रंक के द्वारा मिठाई प्राप्त करने की उक्ति भी प्रस्तुत की गरिमा के अनुरूप नहीं है।

अब हरि हूं अपनीं करि लीनीं।
प्रेम भगति मेरौ मन भीनीं॥टेक॥
मेरे सरीर अंग नहीं मोरौं। प्रान जाइ तौ नेह न तोरूं॥
च्यंतामनि क्यूं पाइये तोली। मन दे रांम लीयौ निरमोली॥
ब्रह्मा खोजत जनम गंवायौ। सोइ रांम घट भीतरि पायौ॥
कहै कबीर छूटी सब आसा। मिल्यौ रांम उपज्यौ बिसवासा॥१०॥

अर्थ—अब [मैं यह कह सकता हूँ कि] हरि ने मुझे अपना कर लिया, [क्योंकि] मेरा मन प्रेम-भक्ति में भीगा हुआ [रहता] है। यदि [इसके लिए] मेरा शरीर जले तो भी मैं अपने अंग को न मोड़ूँगा, प्राण जाए तो भी मैं इस स्नेह को न तोड़ूँगा। चिंतामणि (वह मणि जो चिंतित वस्तु प्रदान करती है) क्यों तोल कर मिल सकती है? मैंने तो निर्मूल्य राम को मन दे कर लिया है। जिसे खोजते हुए ब्रह्मा ने जीवन गंवाया, उसी राम को मैंने अपने घट के भीतर पाया। कबीर कहता है कि [इसलिए जगत् की] समस्त आशाएं छूट गई; राम मिल गए तो [आत्म-] विश्वास उत्पन्न हो गया।

लोग कहैं गोबरधनधारी।
ताकौ मोहि अचंभौ भारी ॥टेक॥
अष्ट कुली परवत जाके पग की रैनां, । सातौं सायर अंजन नैंनां ॥
ऐ उपमा हरि किती एक ओपै। अनेक मेर नख ऊपरि रोपै ॥
धरनि अकास अधर जिनि राखी। ताकी मुगधा कहैं न साखी ॥
सिव बिरंचि नारद जस गावै। कहै कबीर वाकौ पार न पावै ॥११॥*

अर्थ—[हे प्रभु,] तुम्हे लोग गोवर्धन-धर कहते हैं, इसका मुझे बड़ा अचंभा है। अष्ट कुलों के पर्वत जिसके पैरों की धूल हैं, सातो सागर जिसके नेत्रों के अंजन हैं, यह उपमा उसके लिए, ऐ हरि, कितना ओप देती है, जिसके नखों पर अनेक मेरु आरोपित हैं? धरती और आकाश को जिसने अधर में (निरवलंब) रक्खा है, मुग्ध (मूर्ख) लोग उसका साक्ष्य नहीं कहते हैं। शिव, ब्रह्मा, नारद भी जो उसके गुणों का गान करते हैं, वे भी उसका पार नहीं पाते है, ऐसा कबीर कहता है।

अंजन अलप निरंजन सार।
इहै चीन्हि नर करहु बिचार ॥टेक॥
अंजन उतपति बरतनि लोई। बिना निरंजन मुकति न होई ॥

---

* यहाँ पर स० में निम्नलिखित पद और है जो वि० में नही है।

रांम निरंजन न्यारा रे,
अंजन सकल पसारा रे ॥टेक॥
अंजन उतपति वो उंकार। अंजन मांड्या सब विस्तार ॥
अंजन ब्रह्मा संकर इंद। अंजन गोपी संगि गोब्यंद ॥
अंजन वांणी अंजन वेद। अंजन कीया नांनां भेद ॥
अंजन विद्या पाठ पुरांन। अंजन फोकट कथहि गियांन ॥
अंजन पाती अंजन देव। अंजन की करै अंजन सेव ॥
अंजन नाचै अंजन गावै। अंजन भेष अनंत दिखावै ॥
अंजन कहौं कहा लग केता। दांन पुंनि तप तीरथ जेता ॥
कहै कबीर कोइ बिरला जागै। अंजन छाड़ि निरंजन लागै ॥११अ॥

अंजन आवै अंजन जाइ। निरंजन सब घटि रह्यो समाइ ॥
जोग ध्यांन तप सबै बिकार। कहै कबीर मेरे रांम अधार ॥१२॥

अर्थ—अंजन (त्रिगुण) चल है, सार वस्तु निरंजन (ब्रह्म) है, यही पहिचान कर, ऐ मनुष्यों, विचार करो। अंजन की उत्पत्ति और स्थिति लोक में है, किन्तु निरंजन के बिना मुक्ति नहीं होती है। अंजन आना-जाता रहता है, निरंजन समस्त घटों में समा रहा है। योग, ध्यान, तप [आदि] सभी विकार हैं, कबीर कहता है, मेरे आधार तो राम हैं।

एक निरंजन अलह मेरा।
हींदू तुरक दहूं नहीं नेरा ॥टेक॥
राखूं ब्रत न माह रमजांन। तिसही सुमिरौं जो रहै निदांन ॥
पूजा करौं न निमाज गुजारौं। एक निराकार हिरदै नमसकारौं ॥
नां हज जांऊं न तीरथ पूजा। एक पिछांण्यां तौ क्या दूजा ॥
कहै कबीर भरम सब भागा। एक निरंजन सूं मन लागा ॥१३॥

अर्थ—मेरा अल्लाह एक और निरंजन है, हिन्दू और तुर्क उसके निकट दोनों नहीं [पहुँच सके] हैं। न मैं व्रत रखता हूं और न रमज़ान [रोज़ा] रखता हूं। मैं तो उसी का स्मरण करता हूं जो अंत में रहता है। न मैं पूजा करता हूं, न नमाज़ गुजारता हूं; एक निराकार को ही हृदय में नमस्कार करता हूं। न मैं हज जाता हूं, न तीर्थ-पूजा करता हूं; जब उस एक को पहिचान लिया, तो दूसरा क्या (कहां) है? कबीर कहता है, समस्त भ्रम भाग गया है, [क्योंकि] एक निरंजन से मेरा मन लग गया है।

तहां मुझ गरीब की को गुदरावै।
मजलसि दूरि महल को पावै ॥टेक॥
सतरि सहंस सलार हैं जाकै। असी लाख पैकंबर ताकै ॥
सेख जु कहियै सहंस अठासी। छपन कोड़ि खेलिबे खासी ॥
कोड़ि तेतीसूं अरु खिलखांनां। चौरासी लख फिरैं दिवानां ॥
बाबा आदम पैं नजरि दिखाई। नबी भिस्त घणेरी पाई ॥
तुम्ह साहिब हम कहा भिखारी। देत जबाब होत बजगारी ॥
जन कबीर तेरी पनह समांनां। भिस्त नजीक राखि रहिमांनां ॥१४॥

अर्थ—वहां पर मुझ गरीब को कौन सेवा में गुजारे (पेश करे)? जब उसकी मजलिस ही दूर है, तो उसका महल (महत्व ?) कौन पा सकता है? जिसके पास सत्तर सहस्र [सिपह-] सालार (सेना-प्रधान) हैं, अस्सी लाख पैगम्बर (दूत) हैं, शेख जो कहे जाते हैं, वे अट्ठासी सहस्र हैं, छप्पन कोटि की उसकी खासों की फ़ौज (गिरोह) है, तैंतीस कोटि और भी उसके खिल्वत खाने (एकान्त निवास) में हैं, चौरासी-लक्ष उसके दीवाने फिरते हैं! बाबा आदम को उसने नजर दिखाई, तो उस नबी ने अनेक बिहिश्तों को प्राप्त किया। तुम साहिब हो, और हम क्या हैं? एक भिखारी [मात्र]; तुम्हारा उत्तर देते हुए,

बदकारी (बुराई) होती है। दास कबीर तेरी पनाह (शरण) में समा गया है; ऐ रहिमान (कृपालु), तू उसको बिहिश्त में [अपने] निकट रख।

पाठान्तर—भैरउ १५ : पं० में निम्नलिखित अर्द्धालियां और हैं जो राज० मे नहीं हैं—

दिल खलहलु जाकै जरदरु बानी। छोड़ि कतेब करै सैतानी।
दुनीआ दोसु रोसु है लोई। अपना कीआ पावै सोई।

इन पंक्तियों का न आशय स्पष्ट है और न इसलिए इनकी संगति। शेष पद में ईश्वर के असीम वैभव और अपनी अल्पता का उल्लेख करते हुए साधक द्वारा उससे अपने निकट रखने का निवेदन किया गया है। ऊपर उद्धृत पं० की पंक्तियां उक्त सन्दर्भ से संबंधित नहीं लगती है।

जौ जाचौं तौ केवल रांम।
आंन देव सूं नाहीं कांम ॥टेक॥
जाकै सूरिज कोटि करैं परकास। कोटि महादेव गिरि कविलास ॥
ब्रह्मा कोटि वेद ऊचरैं। दुर्गा कोटि जाकै म्रदन करैं ॥
कोटि चंद्रमां गहैं चिराक। सुर तेतीसूं जीमैं पाक ॥
नौग्रह कोटि ठाढ़े दरबार। 'धरमराइ'[1] पौली प्रतिहार ॥
कोटि कुमेर जाकै भरै भंडार। लछमीं कोटि करैं सिंगार ॥
कोटि पाप पुनि ब्यौहरैं। इंद्र कोटि जाकी सेवा करैं ॥
जगि कोटि जाकै दरबार। गंध्रप कोटि करैं जैकार ॥
बिद्या कोटि सबै गुण कहैं। पारब्रह्म कौ पार न लहैं ॥
बासिग कोटि सेज बिसतरैं। पवन कोटि चौबारैं फिरैं ॥
कोटि समुद्र जाकै पणिहार। रोमावली 'अठारह'[2] भार ॥
असंखि कोटि जाकै 'जंमावली'[3]। रांवण सेन्या जाथैं चली ॥
'सहसबांह के हरे परांण'[4]। जरजोधन घाल्यौ खैमांन ॥
'बावन कोटि जाके कुटवाल। नगरी नगरी खेत्रपाल'[5] ॥
लट छूटी खेलैं बिकराल। अनत कला नटवर गोपाल ॥
कंद्रप कोटि जाकें 'लांवन करैं'[6]। 'घट घट भीतरि'[7] मनसा हरैं ॥
दास कबीर भजि सारंगप्रांनि। देहु अभै पद मागौं दांनि ॥१५॥

अर्थ—यदि मैं याचना करता हूं तो केवल राम से, अन्य देवताओं से मुझे कोई काम (सरोकार) नही है। जिसके [यहां] कोटि सूर्य प्रकाश करते हैं, कोटि महादेव जिसके कैलास गिरि पर [रहते हैं], कोटि ब्रह्मा [जिसके यहां] वेदोच्चार करते है, कोटि दुर्गा जिसके [अंग-] मर्दन करती हैं, कोटि चंद्रमा जिसके यहां चिराग लिए रहते हैं, तैंतीसों सुर जिसके यहां पाक (रसोई) जीमते हैं, कोटि नवग्रह जिसके दरबार में खड़े रहते हैं, धर्मराज जिसकी पौलि पर प्रतिहारी है, कोटि कुबेर जिसके भांडार भरते हैं, कोटि लक्ष्मी जिसका शृंगार करती है, [जिसके यहां] कोटिक [धर्मराज] पाप और पुण्य

का व्यवहार (लिखा-जोखा) करते हैं, कोटि इन्द्र जिसकी सेवा करते हैं, कोटि यज्ञ जिसके दरबार में [होते] हैं, कोटि गन्धर्व जिसका जयकार करते हैं, कोटि विद्याएं जिसके समस्त गुण कहती हैं, [फिर भी] जिस परब्रह्म का वे पार नहीं पाती हैं, कोटि वासुकि जिसकी शैया के रूप में बिछते हैं, कोटि पवन [जिसके] चौबारे पर फिरते हैं, कोटि समुद्र जिसके पानी भरने वाले हैं, अठारह भार [वनराजी] जिसकी रोमावलियां हैं, जिसकी असंख्य कोटि यमों की सेना है, जिसके समक्ष रावण की सेना विचलित हुई थी, जिसने सहस्रबाहु के प्राण हरे थे, और दुर्योधन को जिसने क्षयमान [कर] डाला था, बावन कोटि जिसके कोटपाल हैं, और नगरी-नगरी में जिसके क्षेत्रपाल हैं, जिसकी विकराल लटें [सर्पों के रूप में] छूटी हुई खेला करती हैं, जो अनंत कलाओं का नटवर गोपाल है, कोटि कन्दर्प जिसका लावण्य [-प्रसाधन] करते हैं, और घट-घट के भीतर [प्रविष्ट हो कर] उसकी मनसा का अपहरण करते हैं, दास कबीर उस शार्ङ्गपाणि [राम] का भजन करता है, [और कहता है,] मुझे अभयपद दो, मैं तुमसे दान मे मांगता हूं।

पाठान्तर—पं० भैरउ २०। १. पं० में यह है : 'धरम कोटि'। जब महादेव और ब्रह्मा इस संदर्भ मे कोटि की संख्या में हैं, तब 'धरम' या धरमराट् को भी कोटि होना चाहिए, जैसे वे पं० में है।

२. पं० में यह है : 'कोटि अठारह'। उपर्युक्त कारण से यहां भी पं० अधिक संगत लगता है।

३. पं० यह है 'रोमावली'। 'रोमावली' से रावण की सेना छली नहीं जा सकती है, जैसा पं० मे है। इसलिए राज० ही संगत पाठ है।

४. पं० मे यह है : 'सहस कोटि बहु कहत पुरान'। राज० की संगति प्रकट है। पौराणिक योद्धाओं की गणना के प्रसंग में पुराण-वाचकों की गणना असंगत है।

५. पं० मे यह है : 'छपन कोटि जाकै प्रतिहार। नगरी नगरी खिअत अपार।' पं० का 'खिअत' स्पष्ट नहीं है। राज० का 'खेत्रपाल' स्पष्ट है और वह संगत भी है।

६. पं० मे यह है : 'लवै न धरहि'—लव मात्र भी [सौंदर्य] ? नहीं धारण करते हैं, जिसकी संगति प्रकट है। राज० का 'कंद्रप कोटि जाके लावन करहि' है : कोटि कंदर्प जिसका लावण्य करते हैं. दोनों पाठ संगत लगते हैं।

७. पं० में यह है 'अंतर अंतरि'। राज० के 'घट-घट भीतर' की तुलना में यह पाठ निरन्तर है, इसलिए इसके मूल के होने की संभावना अधिक है।

मन न डिगै तार्थं तन न डराइ।
'केवल रांम रहे ल्यौ लाइ'[१] ।।टेक।।
'अति अथाह जल गहर गंभीर'[२] । बांधि जंजीर जलि बोरे हैं कबीर ।।

'जल की तरंग उठि कटि है जंजीर'¹। हरि सुमिरन तट बैठे हैं कबीर॥
कहै कबीर मेरे संग न साथ। जल थल मैं राखै जगनाथ॥१६॥

अर्थ—[मेरा] मन डिगता नहीं है इससे [मेरा] तनु भी नहीं डरता है; वह केवल राम की लय लगाए रहता है। अति अथाह जल में जो गहरा और गंभीर है, जंजीर में बांध कर कबीर को जलमग्न कर दिया गया है, किन्तु [यह दिखाई पड़ता है कि] जल की तरंगों से उठ कर जंजीरें कटी हुई हैं और कबीर हरि-स्मरण में तट पर बैठे हुए हैं। कबीर कहता है, मेरे कोई संग-साथ (संगी-साथी) नहीं है, जल-स्थल में जगन्नाथ ही मेरी रक्षा करते है।

पाठान्तर—पं० भैरउ १८। १. पं० में यह है: 'चरन कमल चितु रहिओ समाइ।' प्रथम चरण में 'मन' तथा 'तन' आते हैं। उनके प्रसंग में 'चित' युक्त पं० उतना संभव नहीं लगता है जितना राज० का 'केवल राम', जो कि रचना में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।

२-३. इन दोनों चरणों में जलाशय के स्थान पर 'गंग' या 'गंगा' नाम आता है जो कि राज० में नहीं आता है; उसमें 'जल' मात्र मिलता है। 'गंगा' नाम के होने पर उसको हटा कर सामान्य शब्द 'जल' रखने का कोई कारण नहीं हो सकता था, इसलिए राज० का 'जल' अधिक संभव ज्ञात होता है।

भलैं नींदौ भलैं नींदौ भलैं नींदौ लोग।
तन मन रांम पियारे जोग॥टेक॥
मैं बौरी मेरे रांम भरतार। ता कारंनि रचि करौं स्यंगार॥
जैसैं धुबिया रज मल धोवै। हरत परत सब निंदक खोवै॥
न्यंदक मेरे माई बाप। जनम जनम के काटै पाप॥
न्यंदक मेरे प्रांन अधार। बिन बेगारि चलावैं भार॥
कहै कबीर न्यंदक बलिहारी। आप रहे जन पार उतारी॥१७॥

अर्थ—भले ही [मेरी] निंदा करो, भले ही [मेरी] निंदा करो, लोगो, भले ही [मेरी] निंदा करो, किन्तु मेरे तनु और मन प्यारे राम से योग (संयोग) में [संलग्न] रहते है। मैं बावली हूं और राम मेरे पति है, उन्हीं के कारण मैं रचना कर शृंगार करती हूं। जैसे धोबी वस्त्रों की रज और उनका मल धोता है, हरते-पड़ते (विविध प्रयत्नों से) निंदक भी हमारे सब [अवगुण] खो देता है। निंदक मेरे लिए मां-बाप है, वे मेरे जन्म-जन्म के पाप काटते है। निंदक मेरे प्राणाधार है, बिना बेगार (मजदूरी) के वे [पर-निंदा का] भार (बोझ) चलाते (ले चलते) है। कबीर कहता है कि निंदक की मैं बलिहारी हूं, हरि के जनों को पार उतार कर वह स्वयं [भवजल के इस] पार ही रह जाता है।

जौ मैं बौरा तौ रांम तोरा।
लोग मरम का जांनै मोरा॥टेक॥

'माला तिलक पहरि मनमांनां'[1] । लोगनि रांम खिलौनां जांनां ॥
'थोरी भगति बहुत अहंकारा । ऐसे भगता मिलैं अपारा'[2] ॥
लोग कहैं कबीर बौरांनां । कबीरा को मरम रांम भल जांनां ॥१८॥

अर्थ—मैं बावला हूं तो [भी], हे राम, मैं तुम्हारा हूं; लोक मेरा मर्म क्या जाने ? मनमाने माला-तिलकादि धारण करने के कारण लोगों ने मुझे, हे राम, खिलौना (खिलवाड़ की वस्तु) जान रक्खा है। जिनमें भक्ति थोड़ी है और अहंकार बहुत है, ऐसे भक्त अपार मिलते हैं। लोग कहते हैं, 'कबीर बौराया हुआ है', किन्तु कबीर का मर्म राम भली प्रकार से जानते हैं।

पाठान्तर—पं० भैरउ ६ । १. पं० में यह है : 'माथै तिलकु हथि माला बाना ।' राज० ने 'तिलक' को भी 'पहर्' क्रिया के कर्म के रूप में रक्खा गया है, और माला-तिलक का पहनना 'मनमांना' कहा गया है, जबकि वे संप्रदाय-विशेष की विधि के अनुसार धारण किए जाते थे। मूल पाठ पं० का लगता है, जिसमें ऐसी कोई त्रुटि नहीं है और जिसके 'बाना' < वर्णक को न समझने के कारण ही पाठ बदला गया लगता है।

२. राज० की अर्द्धाली २ पं० में नहीं है। वह संगत है क्योंकि 'थोड़ी भक्ति और बहुत अहंकार वाले' [तथाकथित] भक्त ही, जो बहुतायत से मिलते हैं, कबीर को खिलौना (खिलवाड़—विनोद की वस्तु) समझे हुए हैं। पं० में यह अर्द्धाली किसी कारण-वश छूटी हुई लगती है।

३. पं० में निम्नलिखित अर्द्धालियां और हैं, जो प्रं० में नहीं हैं—

तोरउ न पाती पूजउ न देवा । राम भगति बिनु निहफल सेवा ।
सतिगुरु पूजउ सदा मनावउ । ऐसी सेव दरगाह सुखु पावउ ।

पद राम को संबोधित है, इसलिए उनसे 'राम भगति बिनु निहफल सेवा' तथा 'सतगुरु पूजउ' कहना संभव नहीं माना जा सकता है। इन पंक्तियों में अपनी सेवा की प्रच्छन्न सराहना भी है, जो कबीर नहीं कर सकते थे।

हरिजन हंस दसा लीयें डोलै ।
निर्मल नांव चवै जस बोलै ॥टेक॥
मांन सरोवर तट के वासी । रांम चरन चित आंन उदासी ॥
मुकताहल बिन चंच न लावै । मोनि गहै कै हरि गुन गावै ॥
कऊवा कुबधि निकट नहीं आवै । सो हंसा निज दरसन पावै ॥
कहै कबीर सोई जन तेरा । खीर नीर का करै नबेरा ॥१९॥

अर्थ—हरि के जन हंसों की दशा लिए हुए डोलते (विचरण करते) हैं, वे [हरि के] निर्मल नाम का उच्चारण करते और उनका यश कहते हैं। वे मानसरोवर (मानस-सरोवर) तट के निवासी होते हैं, राम के चरणों में उनका चित्त होता है, अन्यों से वे उदासीन होते हैं। वे मुक्ताफल (मुक्तिपद) के अतिरिक्त किसी वस्तु पर चोंच नहीं लगाते हैं, वे या तो मौन ग्रहण करते हैं और या तो हरि-गुण गाते हैं। कुबुद्धि का काग जिनके निकट नहीं आता

है, ऐसे ही हंस आत्म-दर्शन प्राप्त करते है। कबीर कहता है, वही तेरा जन है, जो क्षीर-नीर (ज्ञान-अज्ञान) का निवेरा (निपटारा) कर दे।

'सति रांम'[1] सतगुर की सेवा।
पूजहु रांम निरंजन देवा ।।टेक।।
जल कै मंजनि जो गति होई, मींनां नित ही न्हावै।
जैसा मींनां तैसा नरा, फिरि फिरि जोनीं आवै ।।
मन मैं मैला तीरथि न्हावै, तिनि वैकुंठ न जांनां।
'पाषंड करि करि जगत भुलांनां'[2], नांहिन रांम अयांनां ।।
हिरदै कठोर मरै वानारसि, नरक न वंच्या जाई।
हरि कौ दास मरै जे 'मगहरि'[3], सेन्यां सकल तिराई ।।
'पाठ पुरांन वेद नहीं सुमृत'[4], तहां वसै निरकारा।
कहै कवीर एक हीं ध्यावो, वावलिया संसारा ।।२०।।

अर्थ—सत्य सदगुरु राम की सेवा [मात्र] है, इसलिए निरंजन देव राम की पूजा करो। यदि जल मे मज्जन (मार्जन) करने से गति हो, तो मछली नित्य ही न्हाती रहती है, किन्तु जैसे मीन वैसे ही मनुष्य भी [केवल स्नान करते रहने से] फिर-फिर संसार मे जन्म लेता है। जो मन में मलिन है और तीर्थ में स्नान करता है, उसने वैकुंठ को नहीं जाना; पाखंड कर-कर जगत् भूला हुआ है, किन्तु राम तो अज्ञ नही है। हृदय से कोई कठोर (निर्दय) हो और वाराणसी में वह मरे, तो भी नर्क से वह नहीं बचाया जा सकता है, और हरि का दास मगहर मे मरे, तो उसकी सारी सेना भी तिर जाती है। पुराणों, वेदो, स्मृतियों के पाठ मे निराकार निवास नहीं करता है। [इसलिए] कबीर कहता है, एक [हरि] का ही ध्यान, ऐ वावले संसार, तुम करो।

पाठान्तर—पं० आसा ३७। १. पं० में यह है : 'साचा नावणु'। 'नावणु': न्हावणु—स्नान है। वाद के चार चरणों मे तीर्थ-स्नान की भर्त्सना है, इसलिए पं० की संगति प्रकट है। 'नावणु' का अर्थ स्पष्ट न होने के कारण ही संभवत: राज० परंपरा में अन्य पाठ की कल्पना की गई, जो परवर्ती पंक्तियों के संदर्भ मे संगत नही है।

२. पं० में यह है : 'लोक पतीणे कछू न होवे।' यहां भी 'पतीण्'—विश्वास करना की क्लिष्टता के कारण राज० परंपरा मे पाठ वदला हुआ प्रतीत होता है। राज० उतना संगत भी नही है जितना पं०, क्योंकि चरण के दोनों आधों मे उसमें अंतर्संगति नही है।

३. पं० में 'मगहरि' के स्थान पर 'हाड़ंवै' है। 'हाड़ंवा' उसका सामान्य रूप होगा। पं० में 'मगहरि' अन्य पदो में भी आता है (गउडी १५, रामकली ३, धनासिरी ३), इसलिए पं० परंपरा के लिए 'मगहरि' अपरिचित नही था। यदि वह पाठ मूल में मिला होता, तो पं० में उसके स्थान पर 'हाड़ंवै' न होता। इसलिए मूल पाठ 'हाड़ंवा' ही लगता है, जिससे अपरिचित होने के कारण

राज० परंपरा में उसके स्थान पर सुपरिचित 'मगहरि' हो गया होगा। 'हाड़ंवा' 'हाड़' अस्थि से है, या कम से कम उससे व्युत्पन्न लगता है, इसलिए यह असंभव नहीं है कि उसके संबंध में उपर्युक्त प्रकार की प्रसिद्धि हो गई हो।

४. पं० में है : 'दिन गु न रैनि बेदु नही सासत्र ।' पद के शेषांश की दृष्टि से राज० अधिक संगत लगता है; पूरा पद सांप्रदायिक आचार-व्यवहार के विरोध का है, उसमें दिन और रैनि मे निराकार के न बसने का कथन कम संगत लगता है।

क्या ह्वै तेरे न्हाईं धोईं।
आतम रांम न चीन्हां सोईं ।।टेक।।
क्या घटि ऊपरि मंजन कीयैं, भीतरि मैल अपारा।
रांम नांम बिन नरक न छूटै, जे धोवै सौ बारा।।
का नट भेष भगवां वस्तर, भसम लगावै लोई।
ज्यूं दादुर सुरसरी जल भीतरि, हरि बिन मुकति न होई।।
परहरि कांम रांम कहि बौरे, सुनि सिख बंधू मोरी।
हरि कौ नांउं अभै पद दाता, कहै कबीरा कोरी ।।२१।।

अर्थ—तेरे न्हाने-धोने से क्या होता है, यदि तू ने उस आत्माराम को न पहिचाना? घट (शरीर) के ऊपर मार्जन करने से क्या हुआ, यदि उसके भीतर अपार मैल है? राम-नाम के बिना नर्क नहीं छूटता है, भले ही [शरीर को] सौ बार भी कोई धोए। लोक का नट का-सा वेष बनाकर भगवा-वस्त्र पहनना, और भस्म लगाना क्या है? जैसे दर्दुर (मेंढक) सुरसरि जल के भीतर होता है, [और उसकी मुक्ति नहीं होती है, वैसे ही] उसकी भी हरि के बिना गति नहीं होती है। कामों (कर्मों) को छोड़ कर, ऐ बावले, 'राम' कह; हे बंधु मेरी यह शिक्षा सुन; हरि का नाम अभय पद का देने वाला है, ऐसा कबीर कोरी कहता है।

पांणीं थै प्रकट भई चतुराई।
गुर प्रसादि परम निधि पाई ।।टेक।।
इक पांणीं पांणीं कूं धोवै। इक पांणीं पांणीं कूं मोहै।।
पांणीं ऊंचा पांणीं नींचा। ता पांणीं का लीजै सींचा।।
इक पांणीं थै प्यंड उपाया। दास कबीर रांम गुण गाया ।।२२।।

अर्थ—पानी से एक चतुराई प्रकट हो गई, गुरु की कृपा से परम निधि मिल गई। एक पानी (प्राणी) पानी (प्राणी) को धोता है (शुद्ध करता है), एक पानी (प्राणी) पानी (प्राणी) को मोहित करता (मोह में डालता) है। [एक] पानी ऊंचा है, और [एक] पानी नीचा है और उसी [ऊँचे] पानी का सींचा (आचमन) भी लिया जाता है। [पुनः] एक पानी (वीर्य) से पिंड उत्पादित है। दास कबीर ने [इसलिए] राम का गुण गाया।

भजि गोव्यंद भूलि जिनि जाहु ।
मनिषा जनम कौ एही लाहु ।।टेक।।
गुर सेवा करि भगति कमाई । जौ तैं मनिषा देही पाई ।
या देही कूं 'लौचैं'[1] देवा । सो देही 'करि'[2] हरि की सेवा ।।
जब लग जुह्रा रोग नहीं आया । तब (जब?) लग काल ग्रसै नहीं काया ।
जब लग हींण पड़ैं नहीं वांणीं । तब लग भजि मन सारंगप्रांणीं ।।
अब नहीं भजसि भजसि कब भाई । आवैगा अंत भज्यौ नहीं जाई ।
जे कछू करौ सोई तत सार । फिरि पछितावोगे वार न पार ।।
सेवग सो जो लागै सेवा । तिनहीं पाया निरंजन देवा ।
गुर मिलि जिनि के खुले कपाट । बहुरि न आवै जोनीं बाट ।।
यहु तेरा औसर यहु तेरी वार । घट ही भींतरि सोचि विचारि ।
कहै कबीर जीति भावै हारि । बहु विधि कह्यौ पुकारि पुकारि ।।२३।।

अर्थ—गोविंद का भजन करो, इसे भूल मत जाओ, मनुष्य-जन्म का यही लाभ है । गुरु की सेवा कर भक्ति कमा, यदि तू ने मनुष्य की देह पाई है । जिस देह को देवता लोग भी देखते (चाहते) हैं, उस देह से तू हरि की सेवा कर । जब तक जरा-रोग नहीं आया है, जब (?) तक काल तुम्हारी काया को नहीं ग्रसता है, जब तक तुम्हारी वाणी हीन नहीं पड़ती है, तब तक तू, ऐ मन, शार्ङ्गपाणि (राम) को भज ले । [यदि] अब [भी] नहीं भजता है, तो तू, हे भाई, कब भजेगा ? जब अंत आएगा, तब [तुझ से] भजा न जाएगा । तुम जो कुछ कर लो वही तत्त्व-सार है, [अन्यथा] फिर (बाद में) इतना पछताओगे कि उसका वार-पार (आदि-अंत) न होगा । सेवक वह है जो सेवा में लगे, उसी ने निरंजन देव को प्राप्त किया है । गुरु से मिल कर जिसके [हृदय के] कपाट खुल गए है, वह पुनः जन्म के मार्ग में नहीं आता है । यही तेरा अवसर है और यही तेरी बारी है, अपने घट के भीतर ही तू यह सोच-विचार ले । कबीर कहता है, चाहे तू जीते और चाहे तू हारे, [मैंने तुझ से] बहुत प्रकार से पुकार-पुकार कर कह दिया ।

पाठान्तर—पं० भैरउ ६ । १. पं० में पाठ 'सिमिरहि' है । देवताओं के लिए मानव देह स्मरण करने की वस्तु नहीं रही है, वांछा की ही वस्तु रही है, और 'वांछा' करने का आशय लोच् < रुच् से निकलता है, इसलिए राज० पाठ ही मान्य लगता है ।

२. पं० में पाठ 'भजु' है । 'सेवा' के लिए 'करना' ही क्रिया कदाचित् अधिक संगत होगी, 'भजना' उतनी नहीं होगी ।

ऐसा ग्यांन विचारि रे मनां ।
हरि किन सुमिरै दुख भंजनां ।।टेक।।
जब लग मैं मैं मेरी करै । तब लग काज एक नहीं सरै ।।
जब यहु मैं मेरी मिटि जाइ । तब हरि काज संवारै आइ ।।

जब लग स्यंघ रहै वन मांहि । तब लग यहु वन फूलै नांहि ॥
उलटि स्याल स्यंघ कूं खाइ । तब यहु फूलै सब बनराइ ॥
जीत्या डूबै हारा तिरै । गुर प्रसादि जीवत हीं मरै ॥
दास कबीर कहै समझाइ । केवल रांम रहौ ल्यौ लाइ ॥२४॥

अर्थ—ऐ मन, तू ऐसा ज्ञान-विचार कर दुःख-भंजन हरि का स्मरण क्यों नहीं करता है ? जब तक तू 'मैं' 'मैं' 'मेरी' करता है, तब तक [तेरा] एक भी कार्य नहीं होता है । जब यह 'मैं' 'मेरी' मिट जाती है, तब हरि आ कर कार्य संवार देता है । जब तक सिंह वन में रहता है, तब तक यह वन फूलता नहीं है, जब स्यार उलट कर सिंह को खा जाता है, तब यह समस्त वनराजी फूलती है । जीता हुआ डूबता है, हारा हुआ तिरता है, और गुरु की कृपा से जीवित [साधक] ही मृत (जीवन्मृतक) हो जाता है । दास कबीर यह समझा कर कहता है, वह केवल राम की लय लगाए हुए है ।

सिंह अहंकार है, शृगाल 'तत्त्वमसि' की भावना है ।

पाठान्तर—पं० ग्रन्थ १४ : दोनों के पाठ प्रायः अभिन्न हैं ।

जागि रे जीव जागि रे ।
चोरन कौ डर बहुत कहत हैं, उठि उठि पहरै लागि रे ॥टेक॥
ररा करि टोप ममां करि बखतर, ग्यांन रतन करि पाग रे ।
ऐसैं जौ अजराइल मारै, मस्तकि आवै भाग रे ॥
ऐसी जागणी जे को जागै, ता हरि देइ सुहाग रे ।
कहै कबीर जाग्या ही चहिये, क्या ग्रिह क्या बैराग रे ॥२५॥

अर्थ—ऐ जीव, जाग, तू जाग । यहां पर चोरों का डर बहुत कहा जाता है, इसलिए तू उठ, और उठ कर पहरे पर लग । [राम-नाम के दो अक्षरों में से] 'र' को टोप और 'म' को तू बख्तर कर और ज्ञान-रत्न को पाग में कर । ऐसे (इस वेष) में यदि अजराईल (मृत्यु का देवदूत) भी तुझे मारेगा, तो तेरे मस्तक पर भाग्य आएगा । ऐसी जाग जो कोई जागता है, उसको हरि सौभाग्य देता है । कबीर कहता है कि जागना ही चाहिए, क्या गृह (गृही) हो और क्या वैराग्य (विरागी) हो ।

इस पद में आए हुए 'अजराईल' संबंधी कथन से कबीर के इस्लामी संस्कारों का संकेत मिलता है ।

जागहु रे नर सोवहु कहा ।
जंम बटपारैं रूंधे पहा ॥टेक॥
जागि चेति कछू करौ उपाइ । मोटा बैरी है जंमराइ ॥
सेत काग आयें वन मांहि । अजहूं रे नर चेतै नांहि ॥
कहै कबीर तबै नर जागै । जंम का डंड मूंड़ मैं लागै ॥२६॥

अर्थ—ऐ मनुष्य, जाग, तू क्या (क्यों) सो रहा है ? यम बटमार ने पथ मेंड़ (मोड़) रूंधे हैं । जाग कर और चेत कर कुछ उपाय कर, क्योंकि

यमराज एक बड़ा वैरी है। वन में श्वेत काग आ गए है, और ऐ मनुष्य, तू अव भी नही चेत रहा है! कवीर कहता है, मनुष्य तभी जागता है जब यम (काल) का दंड [उसके] सिर में लगता है (मृत्यु उसे आ घेरती है)।

वन में श्वेत कागों का आगमन केशों का श्वेत होना है।

पाठान्तर—पं० गौड २। दोनो परम्पराओं में केवल अंतिम अर्द्धाली का पाठ एक है, शेप तीन अर्द्धालियों का भिन्न-भिन्न है। अंतिम अर्द्धाली की अप्रस्तुत-प्रधान शैली का निर्वाह पद के शेपाश में राज० में ही हुआ है, पं० में नही हुआ है, इसलिए राज० के मूल पाठ होने की संभावना अधिक है।

जाग्या रे नर नींद नसाई।
चित चेत्यौ च्यंतामणि पाई ॥टेक॥
सोवत सोवत वहुत दिन वीते। जन जाग्यां तसकर गये रीते।
जन जागे का ए सहिनांण। विप से लागैं वेद पुरांण॥
कहै कवीर अब सोवौं नांहि। रांम रतन पाया घट मांहि ॥२७॥

अर्थ—ऐ मनुष्य, यदि तू नींद नष्ट करके जाग गया और तू ने चित्त में चेत किया तो तुझे चिंतामणि मिल गई। सोते-सोते तुझे वहुत दिन व्यतीत हो गए, और, ऐ हरि-जन, तेरे जागने से तस्कर (चोर-डाकू) [अपने उद्देश्यों में] रीते (रिक्त—असफल) पड गए। ऐ हरि-जन, जागने का साभिज्ञान (चिह्न) यह है कि तुझे वेद-पुराण विप-से लगें। कवीर कहता है, अव मैं नही सोता हूँ, [क्योकि] अपने घट मे मैंने राम-रत्न प्राप्त कर लिया है।

संतनि एक अहेरा लाधा।
म्रिघनि खेत सबनि का खाधा ॥टेक॥
या जंगल मैं पांचौ मृगा। एई खेत सबनि का चरि गा॥
पारधीपनों जे साधै कोई। अध खाधा सा राखै सोई॥
कहै कबीर जो पंचौं मारै। आप तिरै और कूं तारै ॥२८॥

अर्थ—संतों ने एक अहेर (आखेट—शिकार) प्राप्त किया है, इन मृगों ने सवों का खेत खा डाला था। इस जंगल मे ये पांचों मृग थे, और इन्होने ही सब के खेत चर डाले थे। जो कोई पापर्धिक-पन (वधिक-पन) साध ले, वही आधे खाए हुए [उस खेत] को रख सकता है। कबीर कहता है जो इन पांचों को मार लेता है, वह स्वयं तिर जाता है और औरों को भी तार देता है।

पंच मृग पंच विकार है : काम, क्रोध, लोभ, मद और मत्सर।

हरि कौ विलोवनौं विलोइ मेरी माई।
अैसें बिलोइ जैसैं तत न जाई ॥टेक॥
तन करि मटुकी मनहि बिलोइ। ता मटुकी मैं पवन समोइ॥
इला प्यंगुला सुषमन नारी। बेगि बिलोइ ठाढ़ी छछिहारी॥
कहै कबीर गुजरी बौरांनीं। मटुकी फूटी जोति समांनीं ॥२९॥

अर्थ—ऐ सखी, हरि का विलोवना विलो, और ऐसा बिलो जैसे तत्त्व

(नवनीत) न जाए। तन की मटकी कर मन को बिलो, और उस मटकी में पवन (पंच प्राणों) को समो। इड़ा, पिंगला, और सुषुम्ना नाड़ियां—ये छाछ लेने वाली नारियां खड़ी हैं, इनके लिए बिलो। कबीर कहता है गजरी (ग्वालिन) बावली हो गई, उसकी मटकी फूट गई और वह ज्योति में समा गई।

मटकी शरीर है, शेष प्रतीक पद में दिए हुए हैं।

पाठान्तर—पं० आसा १०। राज० की प्रथम दो अर्द्धालियां ही पं० में हैं, शेष दो नहीं हैं। इसी प्रकार, पं० की निम्नलिखित तीन अर्द्धालिया राज० में नहीं हैं—

सनक सनद अंतु न पाइआ। बेद पड़े पड़ि ब्रहमे जनमु गवाइआ ॥
हरि का बिलोवना मन का बीचारा। गुर प्रसादि पावै अंम्रित धारा ॥
कहु कबीर नदरि करे जे मीरा। राम नाम लगि उतरे तीरा ॥

पद की प्रथम दो अर्द्धालियों में जो रूपक है, उस का निर्वाह राज० में ही हुआ है, पं० में नहीं हुआ है। इसलिए राज० ही मूल का लगता है।

आसण पवन कियें दिढ़ रहु रे।
मन का मैल छाड़ि दै बौरे ॥टेक॥
क्या सींगी मुद्रा चमकायें। क्या बिभूति सब अंगि लगायें ॥
सो हिंदू सो मुसलमांन। जिसका दुरस रहै ईमांन ॥
सो ब्रह्मा जो कथैं ब्रह्म गियांन। काजी सो जांनैं रहिमांन ॥
कहै कबीर कछू आंन न कीजै। रांम नांम जपि लाहा लीजै ॥३०॥

अर्थ—पवन (पंचप्राणों) का आसन दृढ़ किए रह और मन का मैल, ऐ बावले, तू छोड़ दे। शृंग और मुद्रा को चमकाने से क्या [लाभ], और समस्त अंगों में विभूति लगाने से क्या [लाभ] ? वही हिन्दू और वही मुसलमान है, जिसका ईमान दुरुस्त रहे। वही ब्रह्मा (ब्राह्मण) है जो ब्रह्म-ज्ञान का कथन करता है, और काजी वह है जो रहिमान (कृपालु ईश्वर) को जानता है। कबीर कहता है, अन्य कुछ न कीजिए, राम-नाम को जप कर लाभ लीजिए।

तायें कहिये लोकाचार।
बेद कतेब कथैं व्यौहार ॥टेक॥
जारि बारि करि आवै देहा। मूंवां पीछैं प्रीति सनेहा ॥
जीवत पित्रहि मारहि डंगा। मूंवां पित्र ले घालैं गंगा ॥
जीवत पित्र कूं अन न ख्वांवैं। मूंवा पाछैं प्यंड भरावैं ॥
जीवत पित्र कूं बोलैं अपराध। मूंवा पीछैं देहि सराध ॥
कहि कबीर मोंहि अचिरज आवै। कऊवा खाइ पित्र क्यूं पावै ॥३१॥

अर्थ—इसीलिए इसे लोकाचार कहा जाता है कि वेद और धर्म-ग्रन्थ इस व्यवहार (लौकिक आचरण) का कथन करते हैं। जब [मृत का] देह जला कर लौट आते हैं, उसकी मृत्यु के बाद वे [उस मृत से] प्रीति और स्नेह करते हैं। जीवितावस्था में पितृ को वे डंगा (लकड़ी-यष्टि) मारते हैं, और मरने पर

पितृ को लेकर गंगा में डालते है ! जीविनावस्था मे पितृ को अन्न नहीं खिलाते है, और उसके मृत होने के अनंतर उसे पिंड भराते है ! जीवितावस्था में पितृ को अपराध के शब्द कहते है और उसके मृत होने के अनंतर उसे श्राद्ध देते है ! कबीर कहता है, मुझे आश्चर्य आता है, जब कौवा खाता है तब उसे पितृ क्यों (कैसे) प्राप्त करता है !

बाप रांम सुनि वीनती मेरी ।
तुम्ह सूं प्रगट लोगनि सूं चोरी ।।टेक।।
पहलै कांम मुगध मति कीया । ता भै कंपै मेरा जीया ।।
रांम राइ मेरा कह्या सुनीजै । पहले वकसि अब लेखा लीजै ।।
कहै कबीर बाप रांम राया । अब हूं सरनि तुम्हारी आया ।।३२।।

अर्थ—हे पिता राम, मेरी विनती सुनो, तुम से यह प्रकट है, यद्यपि औरों से चोरी (प्रच्छन्न) है । पहले काम ने मेरी मति मुग्ध की थी, उसी भय से मेरा जी काँपता है । हे रामराय, मेरा कहा हुआ सुनिए, पहले क्षमा-दान देकर अब (तब) लेखा लीजिए । कबीर कहता है, हे पिता राम राय, अब मैं तुम्हारी शरण आया हूं ।

अजहूं बीच कैसै दरसंन तोरा ।
बिन दरसंन मन मांनैं क्यूं मोरा ।।टेक।।
हमहि कुसेवग क्या तुम्हहि अजांनां । दुह मैं दोस कहौ किन रांमां ।।
तुम्ह कहियत त्रिभवन पति राजा । मनवंछित सब पुरवन काजा ।।
कहै कबीर हरि दरस दिखावौ । हमहि बुलावौ कै तुम्ह चलि आवौ ।।३३।।

अर्थ—आज भी अंतर है, तब कैसे तेरा दर्शन हो, और बिना दर्शन के मेरा मन क्यो (कैसे) माने ? मैं ही कुसेवक हूं, अथवा तुम ही अज्ञ हो ? दोनो मे दोष है, हे राम, यह कहते क्यों नही हो ? तुम्हे त्रिभुवनपति राजा कहा जाता हैं, और तुम मन-वांछित समस्त कार्य पूरे करने वाले हो । कबीर कहता है, हे हरि, दर्शन दो, या तो मुझे बुलाओ और या तो तुम्हीं चले आओ !

क्यूं लीजै गढ़ बंका भाई ।
दोवर कोट अरु तेवर खाई ।।टेक।।
कांम किवार दुख सुख दरबांनीं, पाप पुन्य दरवाजा ।
क्रोध प्रधान 'लोभ'[1] बड़ दूंदर, मन मैवासी राजा ।।
स्वाद सनाह टोप ममिता का, कुबधि कमांण चढ़ाई ।
त्रिसनां तीर रहे तन भींतरि, 'सुबधि हांथि नहीं आई'[2] ।।
प्रेम पलीता सुरति 'नालि करि'[3], गोला ग्यांन चलाया ।
ब्रह्म अग्नि 'ले दिया पलीता'[4], एकै चोट ढहाया ।।
सत संतोष ले लरनैं लागे, तोरे 'दस'[5] दरवाजा ।
साध संगति अरु गुर की कृपा थैं, पकरयौ गढ़ का राजा ।।

भगवंत भीर सकति सुमिरण की, काटि काल की पासी।
दास कबीर चढ़े गढ़ ऊपरि, 'राज दिया' अविनासी ॥३४॥

अर्थ—इस बांके (वक्र) गढ़ को, हे भाई, कैसे लिया जाए? इसका कोट (परकोटा) दुहरा और इसकी खाई तिहरी है। काम के इसके कपाट हैं, सुख-दुःख इसके दरबान (द्वार-रक्षक) हैं, और पाप-पुण्य इसके द्वार हैं, क्रोध यहाँ का प्रधान है, लोभ बड़ा द्वन्द्व (युद्ध) करने वाला [योद्धा] है और मन ही इसका मवासी राजा है। स्वाद का [इस राजा का] सन्नाह है, टोप इसका ममता का है, कुबुद्धि की कमान इसने चढ़ा रक्खा है, इसके तृष्णा के तीर तन के भीतर हैं, जो सुबुद्धि के हाथ नहीं आते हैं। [मेरी ओर] प्रेम का पलीता है, सुरति की नाल (तोप) है, और ज्ञान का गोला है। जब ब्रह्माग्नि ले कर मैंने पलीता दिया, तो एक ही चोट (प्रहार) से उस गढ़ को गिरा दिया। सत्य और संतोष [के अस्त्र] ले कर जब मैं लड़ने लगा, मैंने दस द्वार (नव द्वार शरीर के और ब्रह्मरंध्र) तोड़ डाले, तथा साधु-संगति और गुरु की कृपा से गढ़ के राजा को पकड़ लिया। भगवान के भय और उसके स्मरण की शक्ति से काल का पाश काट कर दास कबीर गढ़ के ऊपर चढ़ गया और अविनाशी ने [उसे गढ़ का] राज्य दे दिया।

गढ़ शरीर है, शेष प्रतीक पद में दिए हुए हैं।

पाठान्तर—पं० भैरउ १७। १. पं० में यह है: 'मढ़ा'। पं० के 'मढ़ा' तथा 'बड़' समानार्थी हैं, इसलिए उसमें पुनरुक्ति है, जो राज० में नहीं है।

२. पं० में यह है: 'इउ गढु लीओ न जाई'। राज० अधिक संदर्भ सापेक्ष लगता है, यह सुगमता से देखा जा सकता है।

३. पं० में 'नालि करि' के स्थान पर 'हवाई' है। ठीक पाठ 'हवाई' ही है, तोपें कबीर के मरणानंतर बाबर के साथ आई थीं। 'हवाई' गोलों को फेंकने का एक यंत्र होता था, जिसका उल्लेख इतिहास में नालों के प्रचलन के पूर्व पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

४. पं० में यह है: 'सहजे परजाली'। पूर्ववर्ती चरण में 'प्रेम पलीता' आ चुका है, इसलिए राज० में पुनरुक्ति है, जो पं० में नहीं है।

५. पं० में यह है: 'दुइ'। द्वार रचना भर में नौ या दस कहे गए हैं, इसलिए राज० ही संगत लगता है।

६. पं० में यह है. 'राज लीओ'। राज लेना : गोद लेना तथा उत्तराधिकारी बनाना है। पंक्ति का अर्थ होगा—अविनाशी ने उसे गोद लिया और उसे अपना उत्तराधिकारी बनाया। यह अर्थ सर्वथा संदर्भ-सापेक्ष है। ऐसा लगता है कि 'राज लीओ' का अर्थ न समझ पाने के कारण ही राज० परंपरा में अन्य पाठ आ गया।

रैनि गई मत दिन भी जाइ।
भवर उड़े बग बैठे आइ ॥टेक॥

कांचै करवै रहै न पांनीं। हंस उड़्या काया कुमिलांनीं ॥
थरहर थरहर कंपै जीव। नां जांनूं का करिहै पीव ॥
कऊवा उड़ावत मेरी वहियां पिरांनीं। कहै कवीर मेरी कथा सिरांनी ॥३५॥

अर्थ—रात चली गई, दिन भी न चला जाए। भंवर चले गए, बगले आ बैठे। कच्चे करवे में पानी नहीं रहता है, हंस उड़ा और काया कुम्हला गई। जीव भी थरथराता हुआ कांप रहा है कि प्रिय न जाने क्या करेगा। काग उड़ाते-उड़ाते मेरी बाहें पीड़ित हो रही हैं [फिर भी प्रिय नहीं आ रहा है] और कबीर कहता है मेरी कथा समाप्त हो रही है।

भंवरों का जाना काले केशों का समाप्त होना है और बगो का आ बैठना श्वेत केशो का आगमन है।

पाठान्तर—पं० सूही २ : पं० मे निम्नलिखित अर्द्धाली और है—

कुआर कंनिआ जैसे करत सींगारा। किउ रलीआ मानै बाझु भतारा।
अर्थात्—कुमारी कन्या जैसे शृंगार करती हो, तो वह भर्तार से रले (मिले) विना क्यों (कैसे) [संतोष] मान सकती है ? [मेरी भी यही दशा हो रही है।] पद की अंतिम पंक्ति के संदर्भ में, जिसमें पत्नी पति को बुलाने के लिए कौए उड़ा रही है, पं० का 'कुंआर कंनिआ' पाठ असंगत है।

काहे कूं भीति बनाऊं टाटी।
का जांनूं कहां परिहै माटी ॥टेक॥
काहे कूं मंदिर महल चिणांऊं। मूवां पीछैं घड़ी एक रहण न पाऊं ॥
काहे कूं छाऊं ऊंच उंचेरा। साढ़े तीनि हाथ घर मेरा ॥
कहै कवीर नर ग्रव न कीजै। जेता तन तेती भुइ लीजै ॥३६॥३४७॥

अर्थ—क्यो भीत और टट्टी वनाऊं ? मैं क्या जानूं कि [मेरी] मिट्टी कहां पडेगी (मेरा शरीर-पात कहां होगा) ? क्यों मंदिर (प्रासाद) और महल चिनाऊं, जव मरने के वाद [उनमें] एक घड़ी भी न रहने पाऊंगा ? मैं ऊंचा ऊंचहरा (उच्चगृह) क्यो छाऊं, जव साढ़े तीन हाथों का ही मेरा घर है ? कवीर कहता, ऐ मनुष्य, गर्व न किया जाना चाहिए; जितना बड़ा शरीर है, उतनी ही भूमि ली जानी चाहिए।

(९) राग विलावल

वार बार हरि का गुण गावै।
गुर गमि भेद 'सहर'[1] का पावै ॥टेक॥
आदित करै भगति आरंभ। काया मंदिर मनसा थंभ ॥
अखंड अहनिसि सु रख्या जाइ। अनहद बेन सहज मैं बाइ ॥
सोमवार ससि अंमृत झरै। चाखत वेगि 'तवै निसतरै'[2] ॥
वांणीं रोक्यां रहै दुवार। मन मतिवाला पीवनहार ॥
मंगलवार ल्यौ मांहीत। 'पंच लोक की छाड़ौ'[3] रीत ॥

घर छाड़ै जिनि बाहिरि जाइ। नहीं तर खरौ रिसावै राइ ॥
बुधवार करै बुधि प्रकास। हिरदा कवल मैं हरि का बास ॥
गुर गमि दोऊ एक समि करै। ऊरध पंकम (पंकज) थै सूधा धरै॥
ब्रिसपति बिषिया देइ बहाइ। तीनि देव एकै संगि लाइ ॥
तीनि नदी तहां त्रिकुटी माहि। कुसमल धोवै अहनिसि न्हांहि ॥
'सुक्र सुधा ले'[4] इहि ब्रति चढ़ै। 'अह निसि'[5] आप आप सूं लड़ै ॥
सुरषी पच राषिये सबै। तौ दूजी द्रिष्टि न पैसै कबै ॥
थावर थिर करि घट मैं सोइ। जोति दीवटी मेल्है जोइ ॥
बाहरि भीतरि भया प्रकास। तहा भया सकल करम का नास ॥
जब लग घट मैं दूजी आण। तब लग महलि न पावै जांण ॥
रमिता राम सूं लागै रंग। कहै कबीर ते निर्मल अंग ॥१॥

अर्थ—प्रत्येक वार को कोई हरि का गुण गाए तो, गुरु की कृपा से सहचर (आत्माराम) का भेद पा जाए। आदित्यवार को भक्ति का आरंभ (आयोजन) करे, काया का मंदिर हो और मनसा (संकल्प) का स्तम्भ हो, वह आरंभ अहर्निश अखंड रखा जाए, अनाहत वेणु हो और सहज-मय वायु हो [जिससे वह वेणु बजाया जाए]; तब सोमवार को शशि अमृत झड़ेगा, जिसको चखते ही तत्काल [त्रि-]ताप से निस्तार होगा। [उसको रोक रखने के लिए] वाणी को द्वार पर रोके रहे, तब मतवाला मन उसका पान करने वाला होगा। मंगलवार को लय में रहे, पंच लोक (पंच-विकारों) की रीति छोड़ रखे, घर (घट) छोड़ कर बाहर न जाए, नहीं तो राजा बहुत रुष्ट होगा। बुधवार को बुद्धि प्रकाश करती है, और हृदय-कमल में हरि का निवास [होता है], गुरु की कृपा से दोनों (इड़ा और पिंगला) को एक सम करे और पंकज (कमल—सहस्रार) को ऊर्ध्व के स्थान पर सीधा धरे। बृहस्पति को विषयों को फेंक दे और तीनों देवों (त्रिगुण) को एक संग लगा ले, वहां त्रिकुटी में तीन नदियां हैं (इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा); वहां अहर्निश स्नान कर अपने कल्मष (पाप) धो डाले। शुक्रवार को सुधा लेकर इसी व्रत (संकल्प) में चढ़े, अहर्निश अपने-आप से लड़ता रहे और समस्त पांच [कर्मेन्द्रियों] को सुरक्षित (नियंत्रित) रखे, तब दूसरी दृष्टि कभी प्रविष्ट न हो। स्थावर को (शनिवार) को स्थिर करके घट में सो जाए, ज्योति की दीवटि (दीप-यष्टि) को ज्योतित करके छोड़ (रख) दे, तब बाहर और भीतर उससे जो प्रकाश होगा, उससे समस्त कर्मों का नाश हो जाएगा। जब तक घट में दूसरी आन रहती है, तब तक कोई उस महत्ता (?) को नहीं जान पाता है। जब ['राम'] रमण करते हुए राम से रंग (अनुराग) लग जाता है, कबीर कहता है, तब (उसका) अंग (शरीर) निर्मल हो जाता है।

पाठान्तर—दे० गउड़ी ३७। १. पं० में यह है: 'सु हरि का'। राज० सहर<सहचर<सहचर—आत्माराम है। कबीर ने आत्माराम को प्रायः

दोस्त कहा है, इसलिए राज० संगत है। 'सु हरि' उसका सुगमतर पर्याय ज्ञात होता है।

२. पं० में 'सगल बिख हरैं' है। दोनों संगत हैं, किन्तु राज० 'तवै निसतरैं' क्लिष्टतर है, इसलिए उसके मूल के होने की संभावना अधिक है।

३. पं० मे यह है : 'पंच चोर की जाणैं रीति'। 'पंच लोक' से आशय पंच विकारों से है। पंच चोरो की रीति छोड़ने के लिए कहने में ध्वनि यह है कि पहले से ही उसने पंच चोरो की रीति अपना रक्खी है, जो कि कवि का अभीष्ट नहीं लगता है, इसलिए राज० अधिक संगत है।

४. पं० में यह है 'सुक्रितु सहारैं'। 'सुक्रितु सहारैं' पाठ लेने पर 'शुक्रवार' पद में नहीं रह जाता है, किन्तु राज० की 'सुधा' कहां से ली जाए, यह भी पद में नही आता है। इसलिए दोनों पाठों में त्रुटि ज्ञात होती है।

५. पं० में यह 'अनदिन' है। 'अहर्निश' मे पुनरुक्ति है, क्योंकि वह ऊपर वाले चरण मे आ चुका है, पं० का 'अनदिन' इस त्रुटि से मुक्त है।

राम भजै सो जांणिये, जाके आतुर नांहीं।
सत संतोष लीयैं रहै, धीरज मन मांहीं ॥टेक॥
जन कौं कांम क्रोध व्यापै नहीं, त्रिश्नां (स्नां) न जरावै।
प्रफुलित आनंद मैं, गोब्यंद गुण गावै ॥
जन कौं पर निंद्या भावै नहीं, अरु असति न भाषै।
काल कलपनां मेटि करि, चरनूं चित राखै ॥
जन समद्रिष्टी सीतल सदा, दुबिधा नहीं आनैं।
कहै कबीर ता दास सूं, मेरा मन मानैं ॥२॥

अर्थ—उसको राम-भजन करता हुआ जानिए जिसके आतुरता नही है, जो सत्य, संतोष और धैर्य को मन में लिए रहता है। [राम के] जन को काम तथा क्रोध व्याप्त नही होते हैं, और उसे तृष्णा नहीं जलाती है; वह आनंद में प्रफुल्लित होकर गोविन्द का गुण गाता है। [राम के] जन को पर-निंदा नहीं भाती है और न वह असत्य-भाषण करता है, वह काल की कल्पना मिटा कर [हरि के] चरणों में चित्त को रखता है। [राम का] जन सदैव समदृष्टि और शीतल होता है और वह द्विधा मन में नही लाता है। कबीर कहता है, उसी [राम के] दास से मेरा मन मानता है।

माधौ सो न मिलै जासूं मिलि रहिये।
ता कारनि बर बहु दुख सहिये ॥टेक॥
छत्रधार देखत ढरि जाइ। अधिक गरब थैं खाक मिलाइ ॥
अगम अगोचर लषी न जाइ। जहां का सहज फिरि तहां समाइ ॥
कहै कबीर झूठे अभिमांन। सो हम सो तुम्ह एक समांन ॥३॥

अर्थ—हे माधव, वह [आत्मा] नहीं मिलता है जिससे मिल कर रहा जाए, बल्कि उसी कारण बहुत दुःख सह रहा हूं। जो [आज] छत्रधारी [राजा] है, वह

देखते-देखते दह (मृत हो) जाता है, अधिक गर्व से वह मिट्टी में ही मिलता है। जो अगम्य और अगोचर [आत्मा] है, वह देखा नहीं जाता है, जहां का वह है, वहीं सहज में वह समा भी जाता है। कबीर कहता है [सभी प्रकार के] अभिमान झूठे हैं, जो हम हैं वही तुम हो—दोनों एक समान हैं।

अहो मेरे गोव्यंद तुम्हारा जोर।
काजी बकिवौ हस्ती तोर ।।टेक।।

बांधि भुजा 'भलै करि'[1] डारचौ। हस्ती कोपि मूंड मैं मारचौ ।।
भागे हस्ती चीसां मारी। वा मूरति की मैं बलिहारी ।।
महावत तोकों 'मारूं सांटी'[2]। इसहि मराऊं 'घालौं काटी'[3] ।।
हस्ती न तोरै धरै धियांन। वाकै हिरदै बसै भगवांन ।।
कहा अपराध संत हौ कीन्हां। बांधि पोट कुंजर कौं दीन्हां ।।
कुंजर पोट बहु बंदन करै। अजहूं न सूझै काजी अंधरै ।।
तीनि बेर 'पतियारा'[4] लीन्हां। मन कठोर अजहूं न पतीनां ।।
कहै कबीर हमारै गोव्यंद। चौथे पद ले जन का ज्यद ।।४।।

अर्थ—अहो मेरे गोविन्द, वह तुम्हारा बल था जब कि क़ाजी बक रहा था, "इसे हस्ती से तोड़ो"। जब मेरी भुजाएं बांध कर और भेला (?) बना कर मुझे [हाथी के सामने] डाल दिया गया था, तब तुमने कुपित होकर हाथी के सिर में चोट दी थी, और वह हाथी चीख़ मार कर भाग निकला था, तुम्हारी उस मूर्ति की बलिहारी हूं। [क़ाज़ी ने कहा था,] "ऐ महावत, मैं तुझको सांटियां लगाता हूं और इस [हाथी] को मरवाता और काट डालता हूं।" किन्तु [फिर भी] हस्ती मुझे नहीं तोड़ रहा था, वह तुम्हारा ध्यान धर रहा था, क्योंकि उसके हृदय में [तुम] भगवान बस रहे थे। [लोगों ने कहा,] "इस संत ने क्या अपराध किया था कि इसका पोटला बना कर इसे तुमने कुंजर को दे दिया ?" कुंजर [मेरे] उस पोटले की बहुत वंदना करता था, किन्तु अंधे क़ाज़ी को आज (अब) भी नहीं सूझ रहा था। [इस प्रकार] तीन बार उसने प्रतीति ली, किन्तु मन के कठोर होने के कारण आज (अब) भी उसने प्रतीति न की। कबीर कहता है, हे मेरे गोविन्द, इस जन के जिंद (जीव) को चौथे पद (सायुज्य) पर ले (स्वीकार कर)।

चार पद : सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य हैं।

पाठान्तर—पं० गौड़ ४। १. पं० में यह है : 'भिला करि।' 'भिला' है 'भेला'—पिंड, जो कि संगत है। लगता है कि इस शब्द से अपरिचय के कारण ही राज० परंपरा में पाठ 'भलै करि' हो गया।

२-३. पं० में इनके स्थान पर क्रमशः है : 'डारउ काटि' तथा 'घालहु साटि'। पं० का 'घालउ साटि' संगत नहीं लगता है। राज का आशय स्पष्ट और संगत है।

४. पं० में 'पतियारा' के स्थान पर है 'पतीआ भरि', जो निरर्थक लगता है। 'पतियारा' 'प्रत्यय' है, और वह संगत ही है।

कुसल खेम अरु सही सलांमति, ए द्वै काकौं दीन्हां रे।
आवत जात दहूंघा लूटे, श्रब (स्रव) तत हरि लीन्हां रे ॥टेक॥
माया मोह मद मैं पीया, मुगध कहैं यहु मेरी रे।
दिवस चारि भलै मन रंजै, यहु नांहीं किस केरी रे॥
सुर नर मुनि जन पीर अवलिया, मीरां पैदा कीन्हां रे।
कोटिक भये कहां लूं वरनूं, सबनि पयानां दीन्हां रे॥
धरती पवन अकास जाइगा, चंद जाइगा सूरा रे।
हम नांही तुम्ह नांहीं रे भाई, रहे रांम भरपूरा रे॥
कुसलहि कुसल करत जग खीना, पड़े काल भौ पासी [रे]।
कहै कबीर सबै जग विनस्यां, रहे रांम अविनासी रे ॥५॥

अर्थ—कुशल-क्षेम और सही-सलामत, ये दोनों प्रभु ने किसको दिए जबकि [इस संसार मे] आते और [यहां से] जाते समय— दोनों ओर से हम लूटे गए और हमारा समस्त तत्त्व हर लिया गया? मैंने माया-मोह का मद पिया, और मुग्ध (मूर्ख) कहते हैं, 'यह मेरी है'! चार दिन कोई भले ही [इससे] मन बहला ले, किन्तु यह [माया] किसी की नही है। सुर, नर, मुनि-जन, पीर, औलिया और मीरों को [उसने] पैदा किया; करोड़ों हुए, कहां तक उनका वर्णन करूं? और सभी ने प्रयाण दिया (कूच किया)। धरती, पवन और आकाश जाएँगे, चंद्र और सूर्य जाएँगे, हे भाई, न हम रहेंगे, और न तुम रहोगे, [केवल] राम भरपूर रहेगा। 'कुशल' ही 'कुशल' करते-करते जगत् क्षीण हुआ है, और इसी से काल और भव (जन्म-मरण) का पाश [उसके गले में] पडा है। कबीर कहता है, समस्त जगत् विनष्ट हुआ है, एकमात्र अविनाशी राम रहे है।

मन बनजारा जागि न सोई।
लाहे कारनि मूल न खोई ॥टेक॥
लाहा देखि कहा गरबांनां। गरब न कीजै मूरिख अयांनां॥
जिनि धन संच्या सो पछितांनां। साथी चलि गये हम भी जांनां॥
निसि अंधियारी जागहु बंदे। छिटकन लागे सबही संधे॥
किसका बंधू किसकी जोई। चल्या अकेला संगि न कोई॥
ढरि गए मंदिर टूटे बंसा। सूके सरवर उड़ि गये हंसा॥
पंच पदारथ भरिहैं खेहा। जरि बरि जाइगी कंचन देहा॥
कहत कबीर सुनहु रे लोई। रांम नांम बिन और न कोई ॥६॥

अर्थ—ऐ मन बनजारे, तू जाग, सो मत; लाभ के कारण मूल को [भी] न खो। लाभ देख कर तू क्या गर्वित है? ऐ मूर्ख और अज्ञ, तुझे गर्व न करना चाहिए। जिसने भी धन का संचय किया, वही पछताया; साथी चले गए,

और हमें भी जाना है। यह अँधेरी रात है, इसमें ऐ [हरि के] बंदे, जाग; [तेरे] सभी संध (जोड़-संबंध) छिटकने लगे हैं। कौन किसका बंधु है, कौन किसकी जोई (योजिता—स्त्री) है? [जीव] अकेला चला (जाता) है और कोई उसके संग नहीं होता है! मंदिर (प्रासाद) ढल (ढह) गए, वंश टूट गए, सरोवर सूख गए और हंस उड़ गए! पंच पदार्थ (तत्त्व) खेह मिट्टी भरेंगे और यह कंचन की देह जल-बल जाएगी! कबीर कहता है, ऐ लोगो सुनो; राम नाम के बिना और कोई नहीं [रहता] है।

मन पतंग चेते नहीं जल अंजुरी समांन।
बिषिया लागि बिगूचिये, दाझिये निदांन ॥टेक॥
काहे नैंन अनंदियै, सूझत नहीं आगि।
जनम अमोलिक खोइयै, सापनि संगि लागि॥
कहै कबीर चित चंचला गुरि कह्यौ समझाइ।
भगति हींन जरई जरै, भावै तहां जाइ ॥७॥

अर्थ—ऐ मन पतिंगे, तू नहीं चेतता है कि [जीवन] अंजली के जल के समान है। विषयों में लग कर तू अपने को विगुप्त (बर्बाद करेगा) और अंत में [अपने को] दग्ध करेगा। तू नेत्रों से क्यों आनंदित होता है? तुझे आग नहीं सूझती है? तू [माया-] सर्पिणी के साथ लग कर अमूल्य जन्म खो रहा है। कबीर कहता है, चित्त चंचल है, ऐसा गुरु ने समझा कर कहा है, भक्ति के बिना वह जलता ही जलता है और जहां उसे भाता है, वह चला जाता है।

स्वादि पतंग जरै जरि जाइ।
अनहद सौं मेरौ चित न रहाइ ॥टेक॥
माया कै मदि चेति न देख्या। दुबिध्या मांहि एक नहीं पेख्या॥
भेष अनेक किया बहु कीन्हां। अकल पुरिस एक नहीं चीन्हां॥
केते एक मूये मरहिगे केते। केनेक मुगध अजहू नहीं चेते॥
तंत मंत सब ओषद माया। केवल राम कबीर दिढ़ाया ॥८॥

अर्थ—[जिस प्रकार इंद्रिय-] स्वाद के कारण पतिंगा जलता और जल ही जाता है, [इस प्रकार] अनाहत से मेरा चित्त नहीं रहता (लगता) है [और विषयों में जा लगता है]। मैंने माया के मद में चेत कर न देखा और द्विधा में [पड़ कर] उस एक को न देखा। वेष मैंने अनेक किए और बहुतेरा [कर्म] किया किन्तु एक और अकल (अखंडित) पुरुष को नहीं पहिचाना! कितने ही मर गए, और कितने ही मरेंगे भी, किन्तु कितने ही मुग्ध (मूर्ख) आज भी नहीं चेते हैं। तंत्र-मंत्र और ओषधियां सभी माया है, कबीर ने [इसलिए] केवल राम को दृढ़ किया है।

एक सुहागनि जगत पियारी।
सकल जीव जंत की नारी ॥टेक॥
खसम मरै वा नारि न रोवै। उस रखवाला औरै होवै॥

रखवाले का होइ बिनास। उतहि नरक इत भोग विलास ॥
सुहागनि गलि सोहै हार। संतनि विष विलसै संसार ॥
'पीछैं लागी फिरै पचि हारी'[१]। संत की ठठकी फिरै विचारी ॥
संत भजै वा पाछी पड़ै। गुर के सबदूं मारचौं डरै ॥
साषत कै यहु प्यंड परांइनि। हमारी द्रिष्टि परै जैसें डांइनि ॥
अब हम इसका पाया भेव। होइ कृपाल मिले गुरदेव ॥
कहै कबीर इब बाहरि परी। संसारी कै आंचलि टिरी ॥९॥

अर्थ—एक सुहागिनी है जो जगत् [भर] की प्यारी है, और वह समस्त जीव-जंतु की नारी है। स्वामी मरता है, किन्तु वह नारी नही रोती है, क्योंकि उसको रखने वाला और ही हो जाता है। उस रखने वाले का फिर विनाश होता है, यहां [भले ही] भोग-विलास मिले, वहां उसे नर्क ही [मिलता] है। उस सुहागिनी के गले में हार शोभा देता है। वह संतों के लिए विष है, [यद्यपि] संसार उसका विलास करता है। वह [संतों के] पीछे लगी हुई हार कर थक गई, और वह संतों की ठिठकी (रोकी) हुई बेचारी फिरती है। जब संत भागता है, वह [उसके] पीछे पड़ जाती है और गुरु के शब्दों से मारे जाने को डरती है। शाक्त के यहां यह [उसका] परायण होने वाला पिंड है (वह नारी है जिसके माध्यम से वह वामाचार की साधना करता है), मेरी दृष्टि में तो वह डाकिनी जैसी पड़ती है। अब मैंने इसका भेद पाया, जब गुरुदेव कृपालु होकर मुझे मिले। कबीर कहता है, अब यह बाहर पड़ी हुई है, और सांसारिक जनों के अंचलों में हट गई है।

यह सुहागिनी माया है, जिसका सब से गर्हित रूप योग की साधना में नारी मानी गई है। इसका स्वामी विषय-विमुग्ध मनुष्य है।

पाठान्तर—पं० गौंड ७। १. पं० में यह है: 'करि सीगारु वहै पखिआरी'—अर्थात् वह श्रृंगार करके [गले मे] पखिआरी (आभरण-विशेष) धारण करती है। किन्तु पूर्ववर्ती अर्द्धाली में हार का शोभित होना आ चुका है, इसलिए पं० पाठ की संभावना कम है। राज० का 'पचि हारी' इस त्रुटि से मुक्त और संगत है।

पारोसंनि मांगै कंत हमारा।
पीव क्यूं बौरी मिलहिं उधारा ॥टेक॥
मासा मांगै रती न देऊं। घटे मेरा प्रेम तौ कासनि लेऊं ॥
राखि परोसनि लरिका मोर। जे कछु पाऊं सु आधा तोर ॥
बन बन ढूंढौं नैन भरि जोऊं। पीव न मिलै तौ बिलखि करि रोऊं ॥
कहै कबीर यहु सहज हमारा। बिरली सुहागनि कंत पियारा ॥१०॥
३५७॥*

* यहां पर स० में निम्नलिखित पद और है जो वि० में नही है:
राम चरन जाकै हिरदै बसत है, ता जंन कौ मन क्यूं डोलै ॥
मानौं 'आठ सिध्य'[१] नव निधि ताकै, 'हरषि हरषि'[२] जस बोलै ॥टेक॥

अर्थ—तू पड़ोसिन [मुझ से] मेरा कांत मांगती है, किन्तु, ऐ बावली, प्रिय क्यों (कैसे) उधार मिलता है ? तू माशा भर मांग रही है, और मैं रत्ती भर भी नहीं दूंगी, क्योंकि यदि मेरा प्रेम (मुझ पर उसका प्रेम) घट गया, तो वह किससे लूंगी ? ऐ पडोसिन, तू मेरा लड़का रख ले, और जो-कुछ पाऊंगी, उसका आधा तेरा [होगा]। मैं वन-वन ढूंढती हूं और नेत्रों [की शक्ति] भर उसे जोवती हूं; प्रिय नहीं मिलता है तो बिलख कर रोती हूं। कबीर कहता है, यह मेरा सहज (मुझे सहज मिला हुआ सौभाग्य) है; विरली ही सुहागिनों का कान्त उनका प्रिय भी होता है।

पड़ोसिन माया है। नारी आत्मा है, कान्त ईश्वर है। लड़का परम पद है।

(१०) राग ललित

राम ऐसौ ही जांनि जपौ (पौं) नरहरी।
माधवे मदसूदन वनवारी ॥टेक॥

जहां जहां जाइ तहां सच पावै, माया ताहि न झोलै।
वारंवार वरजि विषिया तैं[३], लै नर जौ मन तोलै ॥
ऐसी जे उपजै या जीय कै, कुटिल गांठि सब खोलै।
'कहै कबीर जब मन परचौ भयौ, रहै रांम के बोलै'[४] ॥१०अ॥

पाठान्तर—पं० बिलावल १२। १-२. पं० में 'आठ सिधि' के स्थान पर 'सभ सुख' तथा 'हरषि हरषि' के स्थान पर 'सहजि सहजि' है। मध्य युग की रचनाओं में 'नव निधि' के साथ 'आठ सिधि' प्रायः आता है। किन्तु 'आठ सिद्धि' के स्थान पर अकारण ही 'सभ सुख' कर दिया गया हो, यह भी कम ही संभव है। 'हरषि हरषि' तथा 'सहजि सहजि दोनों संभव हैं किन्तु 'सहजि सहजि' कबीर के प्रयोगों के अधिक निकट आता है—वह अन्यत्र भी आया है।

३. पं० में यह है 'माइआ ते अटकै' है। राज० पाठ में किंचित् दुरूहता होने के कारण पं० पाठ आया हुआ ज्ञात होता है।

४. पं० में यह है : 'कहि कबीर मेरा मनु मानिआ राम प्रीति को ओलै देव'। पं० में 'राम प्रीति की ओलै' का संबंध स्पष्ट नहीं है राज० पाठ में यह त्रुटि नहीं है और वह संगत भी है।

जंगल मैं का सोवनां, औघट है घाटा ॥
स्यंघ बाघ गज प्रजलै, अरु लंबी बाटा ॥टेक॥

निस बासुरि पेड़ा पड़ै, जमदांनी लूटै।
सूर धीर सांचै मतै, सोई जन छूटै ॥
चालि चालि मन माहरा, पुर पटण गहिये।
मिलिये त्रिभुवन नाथ सूं, निरभै होइ रहिये ॥
अमर नहीं संसार मैं, बिनसै नर देही।
कहै कबीर बेस्वास सूं, भजि रांम सनेही ॥१०आ॥

अनदिन ग्यान कथैं घरियार। धूवां धौरहर है संसार॥
जैसैं नदी नाव कर संग। असी हीं मात पिता सुत अंग॥
सेवहि नल दुलमल(?) फल कीर। जल बुदबुदा ऐसो आहि सरीर॥
जिभ्या रांम नांम अभ्यास। कहत कबीर तज ग्रभं बास॥१॥

अर्थ—हे राम, ऐसा जान कर मैं नरहरि, माधव, मधुसूदन, बनवारी—[आदि नामो] का जप करता हूं। अनुदित घडियाल [बज कर] यह ज्ञान कहते (देते) हैं कि संसार धूएं का धवलगृह (प्रासाद) है। जैसे नदी में नावों का संग होता है, इसी प्रकार का माता, पिता, पुत्र [आदि] का अंग (संबंध) है। [यथा] शुक नल दुलमल फल (?) का सेवन करता है, और यथा जल का बुद्‌बुदा होता है, इसी प्रकार का यह शरीर है। [इसलिए] जिह्वा से राम-नाम का अभ्यास करता हुआ कबीर कहता है, वह गर्भवास (भव) का त्याग कर रहा है।

'नल दुल मल फल' में पाठ-विकृति ज्ञात होती है।*

रसनां रांम गुन रमि रमि पीजै॥
गुन अतीत निरमोलिक लीजै॥टेक॥
निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाई। जा सुमिरत सुधि बुधि मति पाई॥
बिष तजि रांम न जपसि अभागे। का बूड़े लालच के लागे॥
ते सब तिरे रांम रस स्वादी। कहै कबीर बूड़े बकबादी॥२॥

अर्थ—ऐ रसना, तू राम-गुण को रमण करती हुई पी, और उस गुणातीत और अमूल्य [पदार्थ] को ले। हे भाई, निर्गुण ब्रह्म कहो, जिसके स्मरण मे शुद्धि, बुद्धि और मति मिल जाए। [विषय-] विष को छोड़ कर, ऐ अभागे, तू राम को नहीं जप रहा है? [झूठी] लालच में पड़ कर तू क्यों [भव-जल मे] बूड़ (<ब्रुड्—डूबना) रहा है? जो राम-रस-स्वादी रहे हैं, वे सभी तिरे हैं; कबीर कहता है, बकवादी ही डूबे है।

निबरक सुत ल्यौ कोरा।
रांम मोहि मारि कलि बिष बोरा॥टेक॥
उन देस जाइबौ रे बाबू, देखिबौ रे लोग किन किन खैबू लो।
उड़ि कागा रे उन देस जाइबा, जासूं मेरा मन चित लागा लो॥
हाट ढूढि ले पटनपुर ढूंढि ले, नहीं गांव कै गोरा लो।
जलबिन हंस निसह बिन रबू, कबीर कौ स्वांमी पाइ परिकैं मनैंबू लो॥३॥३६०॥

अर्थ—[कांत,] तुम इस निबरक (जो बरकता न हो—अलग न होता हो) पुत्र को गोद में ले लो; हे राम, कलि ने मुझे मार कर विष (विषयों) मे बोर (<ब्रोडय्—डुबाना) दिया है। बाबुओ (भद्र महाशयो), तुम्हें उन्हीं

* स० मे भी यह पाठ-विकृति इसी प्रकार मिलती है।

के देश को जाना है और देखना है कि वहां लोग क्या-क्या खाते हैं। ऐ काग, उड़ कर उस देश को तुझे जाना है, जिससे मेरा मन लगा हुआ है। हाट ढूंढ लेना, पट्टन-पुर को ढूंढ लेना, गांव अथवा गोले (गिरांव—छोटी बस्ती) को मत छूटना। जल के बिना हंस और रवि के बिना रात्रि जैसे होते हैं, कबीर के स्वामी से कहना [कि कबीर की दशा भी इसी प्रकार की है] और उसके पैरों में पड़ कर उसे मनाना (अनुकूल करना)।

निबरुक मूत ईश्वर-प्रेम है। उस देश को जाने वाले भद्र जन इस संसार के हैं, जो जीवन-यात्रा समाप्त कर उस देश को प्रस्थान करते हैं। 'उस देश में लोग क्या-क्या खाते हैं' जैसे प्रश्न में संकेत उस देश की रहन-सहन के अज्ञात होने का है।

(११) राग बसंत

सो जोगी जाकै सहज भाइ।
अकल प्रीति की भीख खाइ ॥टेक॥
सबद अनाहद सींगी नाद। काम क्रोध बिषिया न बाद॥
मन मुद्रा जाकै गुर को ग्यांन। त्रिकुट कोट मैं धरत ध्यान॥
मनहीं करन कौ करै सनांन। गुर कौ सबद ले ले धरै धियांन॥
काया कासी खोजै बास। तहां जोति सरुप भयौ परकास॥
ग्यांन मेखली सहज भाइ। बंक नालि कौ रस खाइ॥
जोग मूल कौ देइ बंद। कहि कबीर थिर होइ कंद॥१॥

अर्थ—योगी वह है जिसके [भीतर] सहज से ही भाव (अनुराग) है, जो अकल (अखंडित) की प्रीति की भिक्षा खाता है, जो अनाहत शब्द का शृंग-नाद करता है, जो काम-क्रोध आदि विषयों तथा वादों से रहित है, मन ही जिसकी मुद्रा और गुरु का जिसका ज्ञान है, जो त्रिकुटी के कोट (गढ़) में ध्यान धरता है, जो मन और कर्णों का ही स्नान करता है, [शरीर का नहीं], जो गुरु के शब्द को ले ले कर ध्यान धरता है, जो काया-काशी में निवास खोजता है, जहां [जहां] ज्योति : स्वरूप का प्रकाश हुआ है, जो ज्ञान की मेखली सहज भाव से धारण करता है, जो वंकनाल (मेरुदण्ड के ऊपर की एक वक्र नलिका) का रस खाता है, और जो मूलाधार को बांध देता है, कबीर कहता है, वही कंद [के जैसा] स्थिर होता है।

मेरौ हार हिरांनौ मैं लजाउं।
सास दुरासनि पीव डरांव (डराउं) ॥टेक॥
हार गुह्यौ मेरौ रांम ताग। बिचि बिचि मान्यक एक लाग॥
रतन प्रवालै परम जोति। ता अंतरि अंतरि लागे मोति॥
पंच सखी मिलि है सुजांन। चलहु त जइये त्रिवेणी न्हांन॥

न्हाइ धोइ कैं तिलक दीन्ह। नां जानूं हार किनहूं लींन्ह ॥
हार हिरांनौ जन बिमल कीन्ह। मेरौ आ हि परोसनि हार लीन्ह ॥
तीनि लोक की जांनैं पीर। सब देव सिरोमनि कहि (कहै)
कबीर ॥२॥*

अर्थ—मेरा हार गुम हो गया है, मैं लज्जित हो रही हूं [क्योंकि] सास दुराचनी (क्रुद्ध होने वाली) है और प्रिय को मैं डरती हूं। मेरा हार राम के तागे से गूथा हुआ था, बीच-बीच में एक [एक] माणिक लगा हुआ था। उसमें रत्नों और प्रवालों की परम ज्योति थी, और उनके बीच-बीच में मुक्ता फल लगे हुए थे। सुजान पांच सखियां मिली हैं, [और आग्रह कर रही है,] 'चलो तो त्रिवेणी-स्नान के लिए चला जाए।' न्हा-धो कर हमने तिलक दिया, [तब तक] न जाने हार किसने ले लिया। हार गुम हो गया तो [हो गया,] इससे [हरि ने इस] जन को विमल कर दिया। मेरा हार तो [मेरी] उसी पड़ोसिन ने ले लिया। [हरि] तीनों लोकों की पीड़ा को जानता है, और सब देवताओं का शिरोमणि है, ऐसा कबीर कहता है।

हार साधुवेष है, सास दुनिया है, प्रिय ईश्वर है। राम का तागा हरि-नाम का स्मरण है, मणि-माणिक्य तथा रत्न-प्रवाल उसके मूल्यवान् उपकरण हैं, मुक्ता मुक्ति है, पांच सखियां पंचप्राण (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) है, त्रिवेणी इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्णा का त्रिकुटी में होने वाला संगम है और पडोसिन आत्मानुभूति है।

* यहा पर स० मे निम्नलिखित पद और है जो वि० में नही हैं—

नही छाड़ौ बाबा रांम नांम;
मोहि और पढन सू कौन कांम ॥टेक॥

प्रहलाद पधारे पढ़न साल। संग सखा लीयें बहुत बाल ॥
मोहि कहा पढ़ावै आल जाल। मेरी पाटी में लिखि दे श्री गोपाल ॥
तब संनामुरकां कह्यौ जाइ। प्रहिलाद बंधायौ बेगि आइ ॥
तूं राम कहन की छाडि बांनि। बेगि छुडाऊं मेरौ कह्यौ मांनि ॥
मोहि कहा, 'डरावै'[1] बार बार। जिनि जल थल गिर कौ कियौ प्रहार ॥
बांधि मारि भावै देह जारि। जे हूं रांम छाडों तो मेरे गुरहि गारि ॥
तब काढ़ि खड़ग कोप्यो रिसाइ। तोहि राखनहारौ मोहि बताइ ॥
'खंभा मैं प्रगट्यौ गिलारि'[2]। हरनाकस मार्‌यौ नख बिदारि ॥
महापुरुष देवाधिदेव। नरस्यंघ प्रकट कियौ भगति भेव ॥
कहै कबीर कोई लहै न पार। प्रहिलाद ऊबार्‌यौ अनेक बार ॥२अ॥

पाठान्तर—पं० बसंत ४। १. पं० में यह 'सतावहु' है। दोनों संगत हैं।

२. में यह है: 'प्रभ थंभ ते निकसे कै त्रिसथार।' राज० का 'गिलारि' 'गर्जना करके' है। दोनों संगत है, फिर भी क्लिष्टतर होने के कारण राज० अधिक संभव लगता है।

३. पं० में यह 'ऊधारै' है। राज० अधिक संगत है, क्योंकि उबारना है 'बचाना'; 'उधारे'—'उद्धार किया' 'अनेक बार' के साथ संगत नहीं लगता है।

हरि कौ नांउं तत त्रिलोक सार।
लैलीन भये जे उतरे पार ॥टेक॥
इक जंगम इक जटाधार। इक अंगि विभूति करैं अपार ॥
इक मुनियर इक मन हूं लीन। ऐसैं होत होत जग जात खीन ॥
इक आराधैं सकति सीव। इक परदा दे दे बधैं जीव ॥
इक कुलदेव्या कौ जपहि जाप। त्रिभवनपति भूले त्रिवधि ताप ॥
अंन छाड़ि इक पीवहि दूध। हरि न मिलै विन हिरदै सूध ॥
कहि (कहै) कबीर ऐसैं विचार। राम विना को उतरै पार ॥३॥

अर्थ—हरि का नाम तीनो लोकों का सार तत्त्व है, [अतः] जो इसमें लय-लीन हुए, वे [भव-जल से] पार उतर गए। एक जंगम हैं, एक जटाधारी हैं, एक अंग में अपार विभूति करते हैं, एक मुनिवर हैं, एक मन में लीन होते हैं, इस प्रकार होते-होते जगत क्षीण होता जाता है; एक शक्ति-शिव की आराधना करते हैं, और एक परदा दे-दे कर जीव-वध करते हैं, एक कुलदेवियों का जप जपते है, किन्तु त्रिविध-ताप में [पड़ कर] त्रिभुवनपति को भूल बैठे हैं; एक अन्न छोड कर दूध पीते है, [यद्यपि] हरि विना शुद्ध हृदय के नही मिलते हैं। [इसलिए] कबीर कहता है कि [उसके] इस प्रकार के विचार हैं कि राम के विना कौन [भव-जल से] पार उतर सकता है ?

हरि बोलि सूवा बार बार।
तेरी ढिग मींनीं कछू करि पुकार ॥टेक॥
अंजन मंजन तजि विकार। सतगुरु समझायौ तत्त सार ॥
साध संगति मिलि करि वसंत। भौ बंध न छूटैं जुग जुगंत ॥
कहै कबीर मन भया अनंद। अनत कला भेटे गोव्यंद ॥४॥

अर्थ—ऐ शुक, तू बार-बार 'हरि' बोल, क्योंकि तेरे पास मीनी (बिल्ली) कुछ पुकार कर रही है! अंजन (लेप) तथा मार्जनादि का विकार त्याग दे, सद्गुरु ने सार तत्त्व समझा दिया है; साधु-संगति में मिल कर वसंत [का उत्सव] कर, [अन्यथा] भव-बंधन युग-युगांत तक नहीं छूटते हैं। कबीर कहता है, मन को आनंद हुआ जब अनंत कलाओं के गोविन्द उसे मिले।

शुक मनुष्य है। मीनी (बिल्ली) काल है।

बनमाली जांनै बन की आदि।
रांम नांम बिन जनम बादि ॥टेक॥
फूल जु फूले रुति बसंत। जामैं मोहि रहे सब जीव जंत ॥
फूलनि मैं जैसैं रहत बास। यूं घटि घटि गोव्यंद हरि निवास ॥
कहै कबीर मनि भया अनंद। जगजीवन मिलियौ परमानंद ॥५॥

अर्थ—वन-माली वन का मर्म जानता है, राम-नाम के बिना जन्म (जीवन) व्यर्थ है। वसंत ऋतु में जो फूल फूले हैं, उनमें समस्त जीव-जन्तु मोहित हो रहे हैं। फूलों में जैसे वास रहती है, इसी प्रकार घट-घट में गोविन्द

हरि का निवास है। कबीर कहता है, मन को आनंद हुआ जब परमानंद [-स्वरूप] जग-जीवन (ईश्वर) मिला।

पाठान्तर—पं० गउडी २०। दोनों में केवल अंतिम अर्द्धाली समान है, शेष अर्द्धालियां एक-दूसरे से भिन्न हैं। राज० के पद का विषय गोविंद की सर्व-व्यापकता है, और पं० के पद का विषय जीवन्मृत अवस्था का गुण-कथन है। राज० के पद में कबीर की जो वचन-वक्रता-पूर्ण शैली है, पं० के पद में नहीं है। इसलिए दोनों के एक-दूसरे से स्वतंत्र होने की संभावना यथेष्ट है।

मेरे अैसे बनिज सौं कवन काज।
मूल घटै सिरि बधै ब्याज ॥टेक॥
नाइक एक बनिजारे पांच। बैल पचीस कौ 'संग साथ'[1] ॥
नव बहियां दस गवनि (गौनि) आहि। कसनि बहतरि लागे ताहि ॥
सात सूत मिलि बनिज कीन्ह। करम 'पियादौ'[2] संगि लीन्ह ॥
तीन जगाती करत रारि। 'चल्यौ है बनिजवा बनज झारि'[3] ॥
बनिज खुंटानौं पूंजी टूटि। 'खाडू'[4] दह दिसि गयौ फूटि ॥
कहै कबीर यहु जनम बाद। सहजि समांनूं रही लादि ॥६॥

अर्थ—मुझे ऐसे वाणिज्य से कौन-सा कार्य है [जिसमें] मूलधन घटे और सिर पर ब्याज बढ़े? एक नायक है, पांच बनजारे हैं, पचीस बैलों का संग में सार्थ (कारवां) है, नौ बहियां हैं और दस गूने है, जिनमें बहत्तर कसनियां लगी हुई हैं। सात सूतों ने मिल कर वाणिज्य किया है और कर्म-पदातिको को उन्होंने साथ लिया है, तीन जगाती (ज़कात—चुंगी लेने वाले) झगड़ा कर रहे हैं और बनजारा वाणिज्य को झाड़ (गिरा) कर चल पड़ा है। जब वाणिज्य [का सौदा] समाप्त हुआ, पूंजी टूट गई और दस दिशाओ में खाडू (सार्थ के व्यापारी) फूट गए। कबीर कहता है, यह जन्म व्यर्थ [हुआ] है। इस प्रकार [मेरी] लदाई (प्ररोहणों पर लाद कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर सौदे ले जाने की जीविका) रह गई और मैं सहज में समा रहा।

नायक जीव है, पंच बनजारे पंच ज्ञानेन्द्रियां है, पचीस बैल प्रत्येक इंद्रिय के पंचतत्त्व है, नौ बहियां शरीर के नवद्वार हैं, दश गूनें दश वायु हैं (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान; नाग, कूर्म; कृकर, देवदत्त तथा धनंजय), बहत्तर कसनियां बहत्तर नाड़ियां है, सात सूत सप्त धातु (अस्थि, पक्वाशय का रस रुधिर, मांस, मेद, मज्जा और वीर्य) है, तीन जगाती त्रिगुण हैं।

'खाडू' यथा :

दइ दइ संवन सुनी इक बाता। आवा टांडु खाडु सै साता ॥

(चांदायन ३४०.१)

पाठान्तर—पं० बसंत ६। १. पं० में यह है 'संगु काच'। 'कच्चा संग', 'अस्थायी संग' संग है। राज० का 'संग साथ'—'सग में सार्थ है' है। दोनों संगत है।

२. पं० में 'पयादौ' के स्थान पर 'भावनी' है, जो स्पष्ट नही है। एक शब्द 'भंवरी' या 'भांवरी' है, यह विक्रेय वस्तुओं के उस गट्ठर को कहते हैं जिसे सिर, पीठ या किसी प्रवहण पर ले कर वेचने वाले गांव-गांव तथा घर-घर फिरते हैं। 'भावनी' संभवतः इसी 'भा (भा) वरी' के 'र' को 'न' पढ़ने के कारण बना है और 'भांवरी' प्रस्तुत सदर्भ में संगत है। राज० का 'पियादा' : पदाति सेना का अंग होता है, और वह उतना संगत नही है। कदाचित् वह 'भांवरी' के अपरिचय के कारण उसके स्थान पर आ गया है।

३. पं० मे यह है : 'चलो वनजारा हाथ झारि ।' राज० के पाठ मे पुनरुक्ति तो है ही, 'वनिज' या 'वनज' झाड़ कर चलने की वस्तु भी नही है। पं० का 'हाथ झाड़ कर', अर्थात् हाथ मे जो कुछ हो उसे मूल्य के रूप में दे कर चलना ही सगत है।

४. पं० में 'टांडो' है। 'खाडू' है वनजारा और 'टांडा' है वनजारों का 'सार्थ'। दोनों संगत हैं, किन्तु 'खाडू' के कदाचित् कुछ अप्रचलित होने के कारण उसके स्थान पर अधिक प्रचलित 'टांडा' वाद मे रखा गया हो, यह संभावना अवश्य है।

माधौं दारन दुख सह्यौ न जाइ।
मेरी चपल बुधि तातैं कहा बसाइ ॥टेक॥
तन मन भीतरि बसै मदन चोर। जिनि ग्यांन रतन हरि लीन्ह मोर॥
मैं अनाथ प्रभू कहूं काहि। अनेक विगूचे मैं को आहि॥
सनक सनंदन सिव सुकादि। 'आपण कवलापति भये ब्रह्मादि'[१] ॥
जोगी जंगम जती जटाधार। 'अपनैं औसरि सब गये है हारि'[२] ॥
'कहै कबीर रहु संग साथ। अभिअंतरि हरि सूं कही बात'[३] ॥
'मन ग्यांन जांनि कैं करि विचार। रांम रमत भौ तिरिबौ पार'[४] ॥७॥

अर्थ—हे माधव, दारुण दुःख सहा नहीं जाता है; मेरी बुद्धि चपल है, उससे क्या वश चले? तनु और मन के भीतर मदन चोर वसता है, जिसने मेरा ज्ञान-रत्न हर लिया है। मैं अनाथ हूं, हे प्रभु, किससे कहूं? [उस चोर से] अनेक विगुत (बर्बाद) हुए, मैं कौन हूं? सनक, सनंदन, शिव, शुकादि, कमलापति तथा ब्रह्मादि उसके अर्पण हुए हैं! योगी, जंगम और जटाधारी अपने-अपने अवसरों पर सभी उससे हार गए हैं! कबीर कहता है, [हरि के] संग-साथ में रहो, और अभ्यंतर के हरि से [अपनी] बात कहो। मन में ज्ञान जान कर विचार करो, तो 'राम'-रमण करते हुए भव के पार तिर जाओगे।

पाठान्तर—पं० बसंत ५। १. पं० में यह है : 'नाभिकमल जाने ब्रमादि।' पं० पाठ की संगति अस्पष्ट है। राज० की स्पष्ट है।

२. पं० में यह है : 'सभ आपन अउसर चले सारि।' 'अवसर' रचना भर में 'ज्ञान-ध्यान-योग-समाधि' के लिए प्रयुक्त हुआ है। उस पर 'हारने' का कोई

प्रश्न नहीं उठता है। 'सार्' है 'चलाना', 'निभाना' इसलिए पं० पाठ की संगति प्रकट है।

३-४. पं० में पंक्तियाँ हैं—

तू अथाहु मोहि थाह नांहि। प्रभ दीनानाथ दुखु कहउ काहि।
मोरो जनम मरन दुखु आथि धीर। सुखसागर गुन रउ कबीर।

दोनों पाठ समान रूप से संगत लगते हैं।

उकरी डर क्यूंन (कौंन) करै गुहारि।
तूं विन पंचाननि श्री मुरारि ।।टेक।।
तन भींतरि वसै मदन चोर। तिनि श्रवस(स्त्रव्वस)लीनौं छोरि मोर।।
मांगै देइ न बिनै मांन। तकि मारै रिदा मैं कांम वांन ।।
मैं किहि गुहरांऊं आप लागि। उकरी डर वड़े वड़े गये हैं भागि।।
ब्रह्मा बिष्न अरु सुर मुयंक। किहि किहि नहीं लावा कलंक।।
जप तप संजम सुंचि ध्यान। बंदि परे सव सहति ग्यांन।।
कहि कबीर उबरै द्वै तीनि। जा परि गोब्यंद कृपा कीनि ।।८।।

अर्थ—उस (मदन) के डर से कोई, हे श्री मुरारि, तुम पंचानन (सिंह) के अतिरिक्त किससे गुहार (पुकार) करे? तनु के भीतर मदन चोर वसता है, उसने मेरा सर्वस्व छीन लिया है! मांगने पर वह विनय और मान नहीं देता है, और वह ताक-ताक कर हृदय में काम-बाण मारता है! मैं आप से लग कर (आप के आश्रित होते हुए) किसे पुकारूं [जब] उसके डर से बड़े-बड़े भाग गए है? ब्रह्मा, विष्णु, देवताओं तथा मृगांक—किसको-किसको उसने कलंक नहीं लगाया है? जप, तप, संयम, शुचिता, ध्यान और ज्ञान सहित सभी बंदी पड़े है। कबीर कहता है, ऐसे दो-तीन ही उबर (बच) पाए हैं जिन पर [तुम] गोविन्द ने कृपा की है।

अैसो देखि चरित मन मोह्यौ मोर।
ताथैं निस बासुरि गुन रमौं तोर ।।टेक।।
इक पढ़हि पाठ इक भ्रमैं उदास। इक नगिन निरंतर रहैं निवास।।
इक जोग जुगुति तन हूंहि खींन। अैसें रांम नांम संगि रहैं न लीन।।
इक हूंहि दीन इक देहि दांन। इक करैं कलापी सुरा पांन।।
इक तंत मंत ओषद बांन। इक सकल सिध राखैं अपांन।।
इक तीर्थ ब्रत करि काया जीति। अैसें रांम नांम सूं करैं न प्रीति।।
इक धोम घोटि तन हूंहि स्यांम। यूं मुकति नहीं बिन रांम नांम।।
सतगुरि तत कह्यौ बिचार। मूल गह्यौ अनभै बिस्तार।।
जुरा मरण थैं भये धीर। रांम कृपा भई कहि कबीर ।।९।।

अर्थ—ऐसा चरित देखकर मेरा मन मोह में पड़ गया, इससे मैं रात-दिन तुम्हारा गुण रमता हूं। एक पाठ पढ़ते हैं, एक उदासीन फिरते हैं, एक निवासों पर निरंतर नग्न रहते हैं, एक योग-युक्ति के कारण तन से क्षीण होते हैं, ऐसे

[साधक] राम-नाम के संग लीन नहीं रहते हैं। एक दीन होते हैं, एक दान देते हैं, एक कलापी (कलाप—मयूरपिच्छ धारण करने वाले ?) सुरापान करते हैं, एक तंत्र-मंत्र तथा औषधियों का बाना (वर्ण) [रखते हैं], एक संपूर्ण रूप से सिद्ध हो कर अपान (आत्म) को रखते हैं, एक तीर्थ-व्रत करके काया को जीतते हैं, ऐसे [साधक] राम नाम मे प्रीति नहीं करते हैं। एक धूप की घूंटें ले कर शरीर से श्याम होते है, [किन्तु] बिना राम-नाम के इस प्रकार से मुक्ति नहीं है। सद्गुरु ने विचार करके तत्त्व कहा है, अनुभव का विस्तार कर मूल [तत्त्व] को ग्रहण करो। कबीर कहता है, राम की ऐसी कृपा हुई कि मैं जरा-मरण से धीर (निश्चिन्त) हो गया।

सब मदि माते कोई न जाग।
ताथैं संग ही चोर घर मुसन लाग ॥टेक॥
पंडित माते पढ़ि पुरांन। जोगी माते धरि धियांन ॥
संन्यासी माते अहंमेव। तपा जु माते तप कैं भेव ॥
जागे सुक उधव अक्रूर। हणवंत जागे लै लंगूर ॥
संकर जागे चरन सेव। कलि जागे नांमां जैदेव ॥
'ए अभिमांन सब मन के कांम। ए अभिमांन नहीं रहैं टांम'[1] ॥
'आतमां रांम कौ मन विश्रांम (विस्रांम)। कहि कबीर भजि रांम नांम'[2] ॥१०॥*

अर्थ—सब मद में मत्त हैं, कोई जाग नही रहा है, इससे साथ-साथ चोर घर मूसने (उनकी वस्तुएँ चुराने) लगे हैं। पंडित पुराण पढ़ कर मत्त हैं, योगी ध्यान धर कर मत्त हैं, संन्यासी 'अहमेव' में मत्त हैं, तपस्वी तप के भेद में मत्त हैं। शुक, उद्धव और अक्रूर जागे है, हनुमान लांगूल ले कर जागे है, शंकर [हरि की] चरण-सेवा में जागे हैं, कलि में नामदेव और जयदेव जागे हैं। ये अभिमान मन के कर्म हैं, इन [विभिन्न] अभिमानों से [साधक] [अपने] स्थानों पर नहीं रह पाते हैं। [इसलिए] आत्मारामों के मन का जो विश्राम है, कबीर कहता है, उस राम-नाम को भजो।

---

* यहां पर स० में निम्नलिखित पद और है जो वि० मे नहीं है—

चलि चलि रे भवरा कवल पास।
भवरी बोलै अति उदास ॥टेक॥

तैं अनेक पुहप कौ लियौ भोग। सुख न भयौ तब बढ़्यौ है रोग ॥
हौं ज कहत तोसूं बार बार। मैं सब बन सोध्यौ डार डार ॥
दिनां चारि के सुरंग फूल। तिनहि देखि कहा रह्यौ है भूल ॥
या बनासपती मैं लागैगी आगि। तब तूं जैहौ कहां भागि ॥
पहुप पुरांने भए सूक। तब भवरहि लागी अधिक भूख ॥
उड़्यौ न जाइ बल गयौ है छूटि। तब भवरी रूंनी सीस कूटि ॥
दह दिसि जोवै मधुप राइ। तब भवरी ले चली सिर चढ़ाइ ॥
कहै कबीर मन कौ सुभाव। रांम भगति बिन जम कौ डाव ॥१०अ॥

पाठान्तर—पं० वसंत २ । १-२. पं० में अर्द्धाली ६-७ हैं—

जागत सोवत बहु प्रकार । गुरमुखि जागै सोई सारु ॥
इसु देही के अधिक काम । कहि कबीर भजि रामनाम ॥

दोनों पाठ समान रूप से संगत लगते हैं ।

आवध रांम सबै क्रम करिहूं ।
सहज समाधि न जंम थें डरिहूं ॥टेक॥
कुभरा ह्वै करि बासन घरिहूं, धोबी ह्वै मल धोऊं ।
चमरा ह्वै करि रंगौं अधौरी, जाति पांति कुल खोऊं ॥
तेली ह्वै तन कोल्हू करिहौं, पाप पुंनि दोऊ पीरौं ।
पंच बैल जब सूध चलाऊं, रांम जेवरिया जोरूं ॥
क्षत्री ह्वै करि खड़ग संभालूं, जेग जुगति दोऊ साधूं ।
नऊ (नऊवा) ह्वै करि मन कूं मूंड़ूं, बाढ़ी ह्वै क्रम बाढ़ूं ॥
अवधू ह्वै करि यह मन धूतौं, बधिक ह्वै मन मारूं ।
बनिजारा ह्वै तनि कूं बनिजूं, जूवारी ह्वै जंम हारूं ॥
तन करि नवका मन करि खेवट, रसना करऊवा डारूं ।
कहि कबीर भौ सागर तरिहूं, आप तिरूं बप तारूं ॥११॥३७१॥

अर्थ—हे राम, मैं सभी कर्मों को आयुध करूँगा, [और] सहज समाधि में मैं यम से न डरूंगा । कुंभकार हो कर मैं [मिट्टी के] बर्तन गढूंगा, धोबी होकर [वस्त्रों का] मल धोऊंगा, चर्मकार होकर मैं अधौरी (चप्पलें) रँगूँगा और जाति-पांति तथा कुल गँवाऊँगा, तेली होकर तनु को कोल्हू करूंगा, और उसमे पाप तथा पुण्य दोनों को पेलूंगा, पंच बैलों (पंच प्राणों) को जब शुद्ध (सीधा) करके चलाऊँगा, इसके लिए उन्हें राम की जीवा (रस्सी में) जोड़ूंगा, क्षत्रिय होकर खड्ग सँभालूंगा और [साथ-साथ] योग-युक्ति को साधूंगा, नापित होकर मैं मन का मुंडन करूँगा, बढ़ई (वर्धकि) होकर कर्मों को काटूंगा, अवधूत होकर इस तन को धोऊँगा, वधिक होकर मन को मारूँगा, बनजारा होकर इस तनु का वाणिज्य करूँगा, जुवाड़ी होकर जन्म (भव) को हारूँगा, तनु को नौका और मन को उसका खेवट (खेने वाला) कर रसना को उसके करउवा (करवार—पतवार) के रूप में डालूंगा, कबीर कहता है इस प्रकार मैं [स्वयं] भव-सागर तिरूँगा और अपने वपु (शरीर) को तारूँगा ।

(१२) राग मालीगौड़ा

पंडिता मन रंजिता, भगति हेत ल्यौ लाइ रे ।
प्रेम प्रीति गोपाल भजि नर, और कारण जाइ रे ॥टेक॥
दांम छै पणि कांम नांहीं, ग्यांन छै पणि धंध रे ।
श्रवण (स्रवण) छै पणि सुरति नांहीं, नैन छै पणि अंध रे ॥

जाकै नाभि पदम सुं उदित ब्रह्मा, चरन गंग तरंग रे।
कहै कबीर हरि भगति बांछूं, जगत गुर गोव्यंद रे ॥१॥

अर्थ—ऐ मन में रंजित (राग-रंग से रंगा हुआ) पंडित, तू भक्ति के लिए लय लगा; प्रेम-प्रीति से, हे नर, गोपाल को भज, और कारण (उपाय) व्यर्थ के हैं। [तेरे पास] दाम है पर उसका कोई काम (उपयोग) नहीं है, ज्ञान है किन्तु द्वन्द्व भी है, श्रवण है किन्तु श्रुति (सुनने की शक्ति) नहीं है, नेत्र हैं पर वे अंधे हैं। जिसकी नाभि के पद्म से ब्रह्मा उदित (उत्पन्न) है, जिसके चरणों से गंगा की तरंगें [उत्पन्न] हैं, कबीर कहता है, मैं उन हरि की भक्ति की वांछा करता हूं; गोविन्द ही जगद्गुरु है।

बिष्न ध्यांन शनांन (स्नांन) करि रे, बाहरि अंग म धोइ रे।
साच बिन सीझसि नहीं, कांई ग्यांन दृष्टैं जोइ रे ॥टेक॥
जंजाल मांहिं जीव राखै, सुधि नहीं सरीर रे।
अभिअंतरि भेदै नहीं, कांई बाहरि न्हावै नीर रे ॥
निहक्रम नदी ग्यांन जल, सुंनि मंडल मांहि रे।
औधूत जोगी आतमां, कांई एणैं संजमि न्हाहि रे ॥
इला प्यंगुला सुषमनां, पछिम गंगा बालि रे।
कहै कबीर कुसमल झड़ैं, कांई मांहिलौ अंग पपालि रे ॥२॥

अर्थ—विष्णु के ध्यान का स्नान कर, बाहर से अंग को मत धो। सत्य के बिना तू सिद्ध नहीं होता है, [फिर] तू क्या (क्यों) [पुस्तक-] ज्ञान की दृष्टि से देखता है? जंजाल में तू अपने जीव को रखता है, तुझे शरीर की शुद्धि (खबर) नहीं है, अभ्यंतर को जो भेदता नहीं है, उस जल से तू बाहर से क्या (क्यों) स्नान करता है? शून्य-मंडल (ब्रह्मरंध्र) में नैष्कर्म्य की नदी में ज्ञान का जल है, [फिर] ऐ अवधूत, योगी अथवा आत्मा [-राम], तू क्या (क्यों) इस संयम [के जल] में स्नान करता है? इडा, पिंगला, सुषुम्णा के पश्चिम (पृष्ठ भाग में) [एक दिव्य] गंगा का वारि (जल) है। कबीर कहता है कि [उसमें स्नान करने से] कल्मष झड़ जाते हैं, फिर तू, ऐ माहिल ([illegible]) क्या (क्यों) [बाहर से] अंग को प्रक्षालित करता है?

भजि नारदादि सुकादि वंदित, चरन पंकज भांमिनीं।
भजि भजिसि भूपन पीय मनोहर, देव देव सिरोवनीं ॥टेक॥
बुधि नाभि चंदिन चरचिता, तन रिदा मंदिर भीतरा।
राम राजिसि नैन बांनीं, सुजान सुन्दर सुन्दरा ॥
बहु पाप परवत छेदणां, भौ ताप दुरित निवारणां।
कहै कबीर गोव्यंद भजि, परमानंद वंदित कारणां ॥३॥३७४॥

अर्थ—हे भामिनी (आत्मा), तू नारदादि, शुकादि द्वारा वंदित चरण-पंकजों का भजन कर। तू [अपने] आभूषण, प्रिय, मनोहर और देव-देव-शिरोमणि (आत्माराम) को भज। बुद्धि की नाभि को तू चंदन से चर्चित कर और

तनु के हृदय-मंदिर के भीतर उन राम से नेत्रों और वाणी को राच (प्रसन्न कर), जो सुन्दरों के सुन्दर है, जो बहुतेरे पाप-पर्वतो का छेदन करने वाले और भव-ताप तथा दुरित (पाप) का निवारण करने वाले हैं। कबीर कहता है तू, गोविन्द का भजन कर, जो परमानंद और कारणों (सृष्टि के तत्त्वों) द्वारा वंदित है।

(१३) राग कल्याण

अैसैं मन लाई लैं रांम सनां।
कपट भगति कीजै कौंन गुनां ।।टेक।।
ज्यूं मृग नादैं वेध्यौ आइ। प्यंड परै वाकौ ध्यांन न जाइ ।।
ज्यूं जल मीन हेत करि जांनि। प्रांन तजै बिसरै नहीं बांनि ।।
भ्रिंगी कीट रहै ल्यौ लाइ। ह्वै लै लीन भ्रिंग ह्वै जाइ ।।
रांम नांम निज अमृत सार। मुहड़ै बांध्या मरै गंवार ।।
कहै कबीर दासनि कौ दास। अब नहीं छाड़ौं चरन निवास ।।१।।३७५।।

अर्थ—[ऐ मनुष्य,] राम से तू इस प्रकार मन को लगा ले; कपट-भक्ति तू किस गुण (लाभ) के लिए कर रहा है? जैसे मृग नाद [के आकर्षण] से आकर विद्ध होता है और शरीर-पात होने से भी उसका ध्यान [उससे] नहीं जाता (हटता) है, जिस प्रकार जल से मछली प्रेम करना जान-कर प्राण-त्याग करती है, किन्तु अपनी बानि (वणिका—स्वभाव) नही छोड़ती है, भृङ्गी जिस प्रकार कीड़े को लगा रखता है और वह उसमें कीट लय-लीन होकर भृङ्गी हो जाता है, [इसी प्रकार तू भी राम से मन को लगा]। राम का नाम निजु (ठीक-ठीक) अमृत-सार है, तू गँवार [उसका आस्वादन नही करता है और] मुहड़े को बांधे हुए मर रहा है। दासों का दास कबीर कहता है, अब मैं हरि के चरणों का निवास नही छोड़ता हूं।

(१४) राग सारंग

यहु ठग ठगत सकल जग डोलै।
गवन करै तब मुखहु न बौलै ।।टेक।।
तूं मेरौ पुरिषा हौं तेरी नारी। तुम्ह चलतैं पाथर थैं भारी ।।
बालपनां के मीत हमारे। छाड़ि कत चले हो निनारे ।।
हम सूं प्रीति न करि री बौरी। तुम्ह से केते लाये ढौरी ।।
हम काहु सगि गये न आये। तुम्ह से गढ़ हम बहुत बसाये ।।
माटी की देही पवन सरीरा। ता ठग सूं जन डरै कबीरा ।।१।।*३७६।।

---

* यहां पर स० में निम्नलिखित पद और है जो वि० में नही है :

धंनि सो घरी महूरत्य दिनां।
जब ग्रिह आये हरि के जनां ।।टेक।।
दरसन देखत यहु फल भया। नैनां पटल दूरि है गया ।।

अर्थ—यह ठग समस्त जगत् को ठगता फिरता है, और जब जाता है तब मुख से नहीं बोलता है। "तू मेरा पुरुष है और मैं तेरी स्त्री हूं, [फिर भी] पत्थर से भी भारी (कठोर) होकर तू जा रहा है ! तुम मेरे बाल्यावस्था के मित्र हो, तब तुम मुझे छोड़ कर कहां अलग जा रहे हो ?" "हम से, ऐ बावली, तू प्रीति न कर, तेरे जैसे कितनों को हमने अपने साथ लगाया है। किन्तु हम किसी के संग गए-आए नहीं है, और तुम्हारे जैसे गढ़ हमने बहुतेरे बसाए है।" जिसकी मिट्टी की देह और जिसका पवन का शरीर है, उस ठग से जन कबीर डरता है।

नारी देह है, ठग जीव है, जिसका पवन (पंचप्राणो) का शरीर है। प्रसंग जीव के देह छोड़ कर प्रयाण करने का है।

(१५) राग मल्हार

जतन बिन मृगनि खेत उजारे।
टारे टरत नहीं निस बासुरि, बिडरत नहीं बिडारे ॥टेक॥
अपनें अपनें रस के लोभी, करतब न्यारे न्यारे।
अति अभिमान बदत नहीं काहू बहुत लोग पचि हारे ॥
बुधि मेरी किरषी गुर मेरी बिझुका, अखिर दोइ रखवारे।
कहै कबीर अब खान न देहूं, बरियां भली संभारे ॥१॥

अर्थ—यत्न के बिना (अभाव में) मृगो ने खेत को उजाड़ डाला। ये हटाने से रात-दिन हटते नही हैं, और बिडारने (छिन्न-भिन्न करने) से बिडरते नहीं हैं (छिन्न-भिन्न नहीं होते हैं)। ये अपने-अपने रस के लोभी हैं, इनके कार्य भी न्यारे-न्यारे है। अति अभिमान से ये किसी को बदते (गिनते) नहीं हैं, बहुतेरे लोग थक कर हार गए। मेरी बुद्धि कृषि है, मेरा गुरु बिझुका (खेत में जंतुओं को डराने के लिए खड़ा किया हुआ पुतला) है और ['राम' नाम के] दो अक्षर [खेत के] रखवाले हैं। कबीर कहता है, मैं [अपने खेत को] अब खाने न दूंगा, भली बेला में मैंने संभार कर लिया है।

खेत जीवन है, मृग मन के विविध-विकार काम-क्रोधादि हैं।

हरि गुन सुमरि रे नर प्रांणीं।
जतन करत पतन ह्वै जैहै, भावै जांण म जांणीं ॥टेक॥
छीलरि नीर रहै धूं कैसै, को सुपिनैं सच पावै।
सूकिक पांन परत तरवर थैं, उलटि न तरवरि आवै ॥
जल थल जीव डहके इन माया, कोई जन उबर न पावै ॥
रांम अधार कहत हैं जुगि जुगि, दास कबीरा गावै ॥२॥३७८॥

सबद सुनत संसा सब छूटा। श्रवन कपाट बजर था तूटा ॥
गगन पाट फेरि करि घट्या। काया कर्म सकल झड़ि पड़्या ॥
कहै कबीर मंन भन भाया। नकल सिरोमनि घट मैं पाया ॥१७॥

अर्थ—ऐ नर-प्राणी, हरि-गुण का स्मरण कर; यत्न करने से पतन हो जाएगा, चाहे तू इसे जाने चाहे न जाने। छिल्लर (छोटे पल्वल या तालाव) में जल कैसे [वना] रह सकता है? स्वप्न में कौन सच (सुख) पाता है? शुष्क पर्ण तरुवर से जब गिर पड़ता है, तब उलट कर वह तरुवर में नहीं आता (लगता) है। इस माया ने जल-स्थल के जीवों को ठगा है, कोई भी जन इससे उबर (बच) नही पाता है। राम ही को युग-युग में आधार कहा जाता है, ऐसा दास कबीर गाता है।

(१६) राग धनाश्री

जपि जपि रे जियरा गोब्यंदा, हित चित परमांनंदौ रे।
बिरही जन कौ बालहौ, सब सुख आनंदकंदौ रे ॥टेक॥
धन धन झांखत तन गयौ, सो धन मिल्यौ न आये रे।
ज्यूं बन फूली मालती, जन्म अबिरथा जाये रे॥
प्रांणी प्रीति न कीजिये, इहि झूठै संसारौ रे।
धूंवां केरा धौलहर, जात न लागै बारो रे॥
माटी केरा पूतला, काहे ग्रब कराये रे।
दिवस चारि कौ पेखनौं, फिरि माटी मिलि जाये रे॥
कांमीं रांम न भावई, भावैं बिषै बिकारो रे।
लोह नाव पाहन भरी, बूड़त नांहीं बारो रे॥
नां मन मूवा न मरि सक्या, नां हरि भजि उतरचा पारो रे।
कबीरा कंचन गहि रह्यो, कांच गह्यो संसारो रे ॥१॥

अर्थ—हे जीव, तू गोविन्द को जप, जो तेरे हितकारी, चैतन्य-स्वरूप और परमानन्द है, जो विरही [भक्त-] जन के वल्लभ और समस्त सुख और आनन्द के कन्द (मूल) है। धन-धन के लिए झंखते (आकांक्षा करते) शरीर चला गया, किन्तु वह धन आकर न मिला, और जिस प्रकार वन में फूली हुई मालती [व्यर्थ की होती है], उसी प्रकार तेरा जन्म (जीवन) भी वृथा जा रहा है! ऐ प्राणी, इस झूठे संसार से प्रीति न की जानी चाहिए, [क्योकि] यह धुएँ का धवलगृह (प्रासाद) है, और इसको जाते वेला (देरी) नहीं लगती है। मिट्टी का जो पुतला है, वह [शरीर] तुझसे क्यों गर्व कराता है? यह तो चार दिनों का प्रेक्षणक (तमाशा) है और फिर यह मिट्टी में मिल जाता है। कामी को राम नहीं भाते हैं, उसे विषय-विकार भाते है, जो [देह] पाषाण भरी लोहे की नौका है, उसको बूड़ते (ब्रुड्—डूबना) हुए वेला (देर) नही है। मन न मृत हुआ है, न मर सका है, और तू हरि भजन कर [भव जल के] पार भी नहीं उतरा है। कबीर ने तो कंचन पकड़ लिया है, [जबकि] संसार ने कांच पकड़ा है।

न कछू रे न कछू रांम विनां।
सरीर धरे की इहै परंम गति, साध संगति रहनां ॥टेक॥
मंदिर रचत मास दस लागे, विनसत एक छिनां।
झूठे सुख के कारंनि प्रांणीं, परपंच करत घनां॥
तात मात सुत लोग कुटंब में फूल्यो फिरत मनां।
कहै कबीर रांम भजि बौरे, छांड़ि सकल भ्रमनां॥२॥

अर्थ—राम के बिना कुछ भी नहीं, कुछ भी नहीं है। शरीर धारण करने की यही परम गति है कि साधु-संगति में रहना हो। जिस मंदिर (भवन) का निर्माण करने दस मास लगते हैं, वह एक क्षण में विनष्ट हो जाता है। [फिर भी] झूठे सुख के लिए प्राणी घने प्रपंच करता है, और वह पिता, माता, पुत्र, लोक तथा कुटुंब में मन से फूला फिरता है! कबीर कहता है, बावले, समस्त भ्रमना (भटकना) छोड़ कर राम को भज।

कहा नर गरबसि थोरी बात।
मन दस नाज टका दस गंठिया, टेढ़ौ टेढ़ौ जात ॥टेक॥
कहा लै आयो यहु धन कोऊ, कहा कोऊ लै जात।
दिवस चारि की है पतिसाही, ज्यूं बनि हरियल पात॥
'राजा भयौ गांव सौ पाये, टका लाख दस ब्रात'[1]।
'रावन होत लंक कौ छत्रपति, पल मैं गई बिहात'[2]॥
माता पिता लोक सुत बनिता, अंति न चले संगात।
कहै कबीर रांम भजि बौरे, जनम अकयारथ जात॥३॥

अर्थ—ऐ नर, तू क्यों थोड़ी सी बात पर गर्व करता है? [तेरे पास] दस मन नाज (अन्न) है, और दस टके तेरी गांठ में हैं, और [इतने ही पर] तू टेढ़ा-टेढ़ा जाता है। क्या इस धन को कोई लाया है, और क्या कोई इस धन को ले जाता है? यह तो चार दिनों की बादशाही है, जैसे वन पत्तों में [कुछ ही समय तक] हरित रहता है [और पतझड़ होने पर खंखड़ हो जाता है], जो तू राजा हुआ और सौ गांव तूने पाए, [अथवा] दस लाख टके, ऐ व्रात्य (संस्कार-हीन नीच प्राणी), तूने पाए रावण लंका का छत्रपति था, किन्तु पल भर में [माया] उसे त्याग कर चली गई। माता, पिता, लोक, पुत्र तथा स्त्री अंत में साथ नहीं चले हैं। कबीर कहता है, ऐ बावले, [इसलिए] तू राम भज, [देख कि] तेरा जन्म (जीवन) अकारथ (अकार्यार्थ) जा रहा है।

पाठान्तर—पं० सारंग १। १ पं० में यह है: 'बहुत प्रताप गांउ सउ पाए, दुइ लख टका (टका) बरात।' दोनों पाठ समान रूप से संगत लगते हैं।

२. पं० में यह है: 'रावनहू ते अधिक छत्रपति खिन महि गए बिलात।' पं० के 'रावन से भी अधिक छत्रपति' की अपेक्षा राज० का 'रावन होत लंक कौ छत्रपति' अधिक युक्ति-संगत है, क्योंकि फिर जो अधिक हुआ होता, उसका नाम आना चाहिए था।

नल पछिताहुगे अंधा ।
चेति देखि नल जंमपुरि जैहै, क्यूं बिसर्‌यौ गोव्यदा ।।टेक।।
ग्रभ कुंडि नल जब तूं बस्ता (बसता), उरध ध्यांन ल्यौ लाया ।
उरध ध्यांन मृत मंडलि आया, नरहरि नांव भुलाया ।।
बाल बिनोद छहूं रस भीनां, छिन छिन मोह बियापै ।
बिष अंमृत पहिचांनन लागौ, पांच भांति रस चाखै ।।
तरण तेज परत्रिय मुख जोवै, सर अपसर नहीं जांनैं ।
अति उदमादि महामदि मातौ, पाप पुंनि न पिछांनैं ।।
प्यडर केस कुसम भये धौला, सेत पलटि गई बांनीं ।
गया क्रोध मन भया जु पावस, कांम पियास मंदांनीं ।।
तूटी गांठि दया ध्रम उपज्या, काया कवल कुमिलांनां ।
मरती वेर बिसूरन लागौ, फिरि पीछैं पछितांनां ।।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, धन माया कछू संगि न गया ।
आई तलब गोपाल राइ की, धरती सैं न भया ।।४।।

अर्थ---ऐ अंधे मनुष्य, तुम पछताओगे । ऐ मनुष्य, चेत कर देखो, तुम यमपुरी जाओगे, तुम क्यों गोविंद को विस्मृत कर रहे हो ? ऐ मनुष्य, जब तू गर्भकुंड में निवास कर रहा था, तब तूने उर्ध्व ध्यान का लय लगाया, और उस ऊर्ध्वध्यान से तू मृत्यु लोक मे आया, तो तूने नरहरि का नाम भुला दिया ! बाल-विनोद मे तू [भोजन के] षट् रसों मे भीना (सिक्त) रहा, और क्षण प्रतिक्षण तुझे मोह व्याप्त होता रहा, फिर विष और अमृत पहिचानने लगा और पाँच भांति के (पंच ज्ञानेन्द्रियों के) रसों को चखने लगा । तारुण्य के तेज मे तू पर-स्त्री का मुख देखता था और तू सर-अपसर (गम्यागम्य) नही जानता था, अति उन्माद के महामद में मत्त पाप और पुण्य को नही पहिचानता था । केश धवल श्वेत कुसुम जैसे पांडुर हो गए, वाणी बदल गई । क्रोध चला गया और मन पावस (प्रावृट्—वर्षा)[जैसा आर्द्र] हो गया, काम-पिपासा मंद हो गई । जब [माया की] गाँठ त्रुटित हो गई, तब दया-धर्म उत्पन्न हुआ, और काया-कमल कुम्हला गया । मरते समय तू विसूरने (चिंता करने) लगा, और फिर पीछे पछताने लगा । कबीर कहता है, हे संतो, सुनो, धन और माया कुछ भी [किसी के] संग नही गए है; जब भी गोपाल राम की तलब (आदेश-पत्रिका) आई (आती) है, [प्राणी] धरती के साथ नही हो (रह) सका है ।

'लोका मति के भोरा रे'[१] ।
जौ कासी तन तजै कबीरा, तौ रांमहि कहा निहोरा रे ।।टेक।।
'तब हम वैसे अब हम अैसे, इहै जनम का लाहा'[२] ।
'ज्यूं जल मैं जल पैसि न निकसै, यूं ढुरि मिल्या जुलाहा'[३] ।।
रांम भगति परि जाकौ हित चित, ताकौ अचिरज कहा (काहा) ।
गुर प्रसाद साध की संगति, जग जीतें जाइ जुलाहा ।।

कहत कबीर सुनहु रे संतो, भ्रमि परे जिनि कोई।
जस कासी तस मगहर ऊसर, हिरदै रांम मति होइ ॥५॥

अर्थ—रे लोगो, तुम मति के भोले (भ्रमित) हो, [क्योंकि] यदि कबीर काशी में तनु त्यागे; तो राम को [उसके उद्धार का] क्या निहोरा (यश) रहा? तब मैं वैसा था, अब ऐसा हूं, यही जन्म [लेने] का लाभ है। जिस प्रकार जल में प्रविष्ट होकर पुनः जल नहीं निकलता है, इसी प्रकार यह जुलाहा भी ढुलक कर [राम में] मिल गया है। राम-भक्ति पर जिसके चित्त में प्रेम है, उसके लिए यह क्या आश्चर्य है? गुरु की कृपा और साधु-संगति से जुलाहा जगत् को जीते जा रहा है! कबीर कहता है, हे संतों, सुनो, भ्रम में कोई न पड़े, यदि हृदय में राम के प्रति सत्य हो, तो जैसे काशी है वैसे ही ऊसर (अनुर्वर) मगहर भी है।

पाठान्तर—पं० धनासिरी ३। १. पं० में यह है—

हरि के लोगा मैं तउ मति का भोरा।

संबोधन हरि के लोगो को, जैसा वह पं० में है, अधिक संगत है, क्योंकि टेक का दूसरा ही चरण है—

जउ काशी तन तजहि कबीरा रमईऐ कहा निहोरा।

और 'लोक' को इससे वास्ता नहीं कि कबीर और राम के संबंध परस्पर कैसे हैं।

२-३ राज० के चरण ३-४ पं० में नहीं हैं। इन चरणों में कबीर की उदाहरण-प्रधान परिचित शैली मिलती है, इसलिए ये मूल के लगते हैं और किसी कारण-वश पं० में छूटे हुए लगते हैं।

ऐसी आरती त्रिभुवन तारै।
तेज पुंज तहां प्रांन उतारै ॥ टेक॥
पाती पंच पहुप करि पूजा। देव निरंजन और न दूजा।
तनमन सीस समरपन कीन्हां। प्रगट जोति तहां आतम लीनां॥
दीपक ग्यांन सबद धुनि घंटा। परंम पुरिष तहां देव अनंता।
परम प्रकास सकल उजियारा। कहै कबीर मैं दास तुम्हारा ॥६॥ ३८४॥

अर्थ—ऐसी आरती त्रिभुवन को तारती है, जहाँ वह तेज-पुंज है, वहाँ प्राणों को उतारे। पंच-तत्त्वों तथा पुष्पों से उसकी पूजा की जाए; [पूज्य] देव निरंजन (निर्लिप्त—ब्रह्म) ही है, और द्वितीय नहीं है। तन-मन-शिर समर्पण किया जाए और जहाँ पर ज्योति प्रकट है, वहाँ पर आत्म-लीन हुआ जाए। [इस आरती के लिए] जहाँ पर ज्ञान का दीपक हुआ, [अनाहत] शब्द घंटे की ध्वनि हुआ, वहीं पर परम पुरुष अनंत देव भी [मिले]। उनके परम प्रकाश से समस्त [जगत्] प्रकाशित हो गया, और कबीर कहता है, [हे देव] मैं तुम्हारा दास हूं।

३. रमैंणी*

[राग सूहौ]

तूं सकल गहरा, सफ सफा दिलदार दीदार,
तेरी कुदरति किनहूं न जांनीं, पीर मुरीद काजी मुसलमांनीं।
देवी देव सुर नर, गण गंध्रप ब्रह्मा देव महेसुर,
तेरी कुदरति तिनहूं न जांनी ॥टेक॥

(१) एकपदी रमैंणीं†

काजी सो जो काया बिचारै। तेल दीप मैं बाती जारै॥
तेल दीप मैं बाती रहै। जोति चीन्हि जे काजी कहै॥
मुलनां बंग देइ सुर जांनीं। आप मुसला बैठा तांनीं॥
आपुन मैं जे करै निवाजा। सो मुलनां सरवत्तरि गाजा॥
सेष सहज मैं महल उठावा। चंद सूर बिचि तारी लावा॥
अर्ध उर्ध बिचि आनि उतारा। सोइ सेष तिहूं लोक पियारा॥
जंगम जोग बिचारै जहूंवां। जीव सीव करि एकै ठऊवां॥
चित चेतनि करि पूजा लावा। तेतौ जंगम नांउं कहावा॥
जोगी भसम करै भौ मारी। सहज गहै बिचार बिचारी॥
अनभै घट परचा सूं बोलै। सो जोगी निहचल कदे न डोलै॥
जैंन जीव का करहु उबारा। कौंण जीव का करहु उधारा॥
कहां बसै चौरासी का देव। लहौ मुकति जे जांनौ भेव॥
भगता तिरण मतै संसारी। तिरंण तत ते लेहु बिचारी॥
प्रीति जांनि रांम जे कहै। दास नांउं सो भगता लहै॥
पंडित चारि वेद गुंण गावा। आदि अंति करि पूत कहावा॥
उतपति परलै कहौ बिचारी। संसा घालौ सबै निवारी॥
अरधक उरधक ए संन्यासी। ते सब लागि रहै अविनासी॥
अजरावर कौं डिढ करि गहै। सो संन्यासी उन्मन रहै॥
जिहि घर चाल रची ब्रह्मंडा। पृथमीं मारि करी नव खंडा॥
अविगत पुरिस की गति लखी न जाइ। दास कबीर अगह रांम रहे ल्यौ लाइ॥१॥

*यहां पर शीर्षक वि० में है 'सकल गहगरा ग्रंथ' जो स्पष्ट ही अशुद्ध है।
† वि० तथा स० में यहाँ पर कोई शीर्षक नहीं है। प्रस्तुत शीर्षक कल्पित है और रमैंणी के अन्य शीर्षकों के अनुकरण में रक्खा गया है।

शब्दार्थ—पद १ : मुसला : मुसल्ला—वह दरी जिस पर नमाज़ पढ़ी जाती है। सरवत्तरि : सर्वत्र। तारी : त्राटिका। अर्ध : अधस्। उर्ध : ऊर्ध्व। सीव : शिव—ईश्वर। कदे : कदापि—कभी। अजरांवर : अजर+अमर।

(२) सतपदी रमैंणीं

कहन सुनन कौं जिहि जग कीन्हां। जग भुलांन सो किनहूं न चीन्हा ॥
सत रज तम थैं कीन्हीं माया। आपण मांहैं आप छिपाया ॥
ते तौ आहि अनंद सरूपा। गुन पलव बिस्तार अनूपा ॥
साखा तत थैं कुसम गियांनां। फल सो आछा रांम का नांमां ॥
सदा अचेत चेत जीव पंखी, हरि तरवर करि बास ॥
झूठे जगि जिनि भूलसि जीयरे, कहन सुनन की आस ॥१॥
सूक बिरख यहु जगत उपाया। समझि न परै बिषम तेरी माया ॥
साखा तीनि पत्र जुग चारी। फल दोइ पाप-पुन्य अधिकारी ॥
स्वाद अनेक कथ्या नहीं जांहीं। कीया चरित सो इन मैं नांहीं ॥
तेतौ आहि निनार निरंजना, आदि अनादि नहीं आंन।
कहन सुनन कौं कीन्ह जग, आपैं आप भुलांन ॥२॥
जिनि नटवै नटसारी साजी। जो खेलै सो दीसै बाजी ॥
मो बपरा थैं जोगति ढीठी। सिव बिरंचि नारद नहीं दीठी ॥
आदि अंति जे लीन भये हैं। सहजै जांनि संतोषि रहे हैं ॥
सहजै रांम नांम ल्यौ लाई। रांम नांम कहि भगति दिढाई ॥
रांम नांम जाका मन मांनां। तिन तौ निज सरूप पहिछानां ॥
निज सरूप निरंजना, निराकार अपरंपार अपार।
रांम नांम ल्यौ लाइसि जीयरे, जिनि भूलै बिस्तार ॥३॥
करि बिस्तार जग धंधै लाया। अंध काया थैं पुरिष उपाया ॥
जिहि जैसी मनसा तिहि तैसा भावा। ताकूं तैसा कीन्ह उपावा ॥
तेतौ माया मोह भुलांनां। खसम रांम सो किनहूं न जांनां ॥
जिनि जांन्यां ते निरमल अंगा। नहीं जांन्यां ते भये भुजंगा ॥
ता मुखि बिष आवै बिष जाई। ते बिष ही बिष मैं रहे समाई ॥
माता जगत भूत सुधि नांहीं। भ्रंमि भूले नर आवैं जांहीं ॥
जांनि बूझि चेतै नहीं अंधा। करम जठर करम के फंधा ॥
करम का बांध्या जीयरा, अहनिसि आवै जाइ।
मनिषा देही पाइ करि हरि बिसरै, तौ फिर पीछैं पछिताइ ॥४॥
तौ करि त्राहि चेति जा अंधा। तजि परकीरति भजि चरन गोब्यंदा ॥
उदर कूप तजौ ग्रभ बासा। रे जीव रांम नांम अभ्यासा ॥
जगि जीवन जैसैं लहरि तरंगा। खिन सुख कूं भूलसि बहु संगा ॥
भगति की हीन जीवन कछू नांहीं। उतपति परलै बहुरि समांहीं ॥

अगति हीन अस जीवनां, जनम मरन बहु काल।
आश्रम अनेक करसि रे जियरा, रांम बिना कोई न करै प्रतिपाल ॥५॥
सोई उपाव करि यहु दुख जाई। ए सब परहरि बिषै सगाई ॥
माया मोह जरै जग आगी। ता संगि जरसि कवन रस लागी ॥
त्राहि त्राहि करि हरी पुकारा। साध संगति मिलि करहु विचारा ॥
रे रे जीवन नहीं बिश्रांमां। सब दुख खंडण रांम को नांमां ॥
रांम नांम संसार मैं सारा। रांम नांम भौ तारन हारा ॥

सुम्रित बेद सबै सुनैं, नहीं आवैं कृत काज।
नहीं जैसें कुंडिल बनित मुख, मुख सोभित बिन राज ॥६॥
अब गहि रांम नांम अविनासी। हरि तजि जिनि कतहूं कै जासी ॥
जहां जाइ तहां तहां पतंगा। अब जिनि जरसि समझि बिष संगा ॥
चोखा रांम नांम मनि लीन्हां। भिंग्री कीट भ्यंन नहीं कीन्हां ॥
भौसागर अति वार न पारा। ता तिरबे का करहु बिचारा ॥
मनि भावै अति लहरि बिकारा। नहीं गमि सूझै वार न पारा ॥
भौसागर अथाह जल, तामैं बोहिथ रांम अधार।
कहै कबीर हम हरि सरन, तब गोपद खुर बिस्तार ॥७॥

(२) शब्दार्थ—पद १ : निनार—ख़ालिस, अमिश्रित।

पद ३ : नटवा : नर्त्तक। बपरा : बप्पुड़ा—बेचारा। जोगति : युक्ति।

पद ४ : माता : मत्त।

पद ५ : चंध : चुंधरा, जिसे प्रकाश न सहन होने के कारण नेत्रों से स्पष्ट न दिखाई देता हो। प्रकीरतिः प्रकृति।

(३) बड़ी अष्टपदी रमैंणीं

एक बिनांनीं रच्या बिनांनं। सब अयांन ओ आपै जांनं ॥
सत रज तम थैं कीन्हीं माया। चारि खानि बिस्तार उपाया ॥
पंच तत ले कीन्ह बंधानं। पाप पुंनि मांनं अभिमांनं ॥
अहंकार कीन्हें माया मोहू। संपति बिपति दीन्हीं सब काहू (कोहू?) ॥
भले रे पोच अकुल कुलवंता। गुणी त्रिगुणीं धनं नीधनवंता ॥
भूख पियास अनहित हित कीन्हां। हेत मोर तोर करि लीन्हां ॥
पंच स्वाद ले कीन्हां बंधू। बंधे क्रम ओ आहि अबंधू ॥
अवर जीव जंत जे आही। संकुट सोज बियापै ताहीं ॥
निंद्या अस्तुति मांन अभिमांना। इनि झूठै जीव हत्या गियांना ॥
बहु बिधि करि संसार भुलावा। झूठै दोजगि साच लुकावा ॥
माया मोह धन जोवनां, इनि बंधे सब लोइ।
झूठै झूठ बियापिया कबीर, अलख न लखई कोइ ॥१॥

झूठनि झूठ साच करि जांनां। झूठनि मैं सब साच लुकानां॥
धंध बंध कीन्ह बहुतेरा। क्रम विवर्जित रहै न नेरा॥
षट दरसंन आश्रम षट कीन्हां। षट रस खाटि कांम रस लीन्हां॥
चारि बेद छह सास्त्र बखानैं। विद्या अनंत कथै को जानैं॥
तप तीरथ केन्हें (कीन्हें) ब्रत पूजा। धरम नेम दान पुंन्य दूजा॥
और अगम कीन्हें ब्यौहारा। नहीं गमि सूझै वार न पारा॥
लीला करि करि भेख फिरावा। ओट बहुत कछू कहत न आवा॥
गहन ब्यंद कछू नहीं सूझै। आपन गोप भयौ आगम बूझै॥
भूलि पर्‌यो जीव अधिक डराई। रजनी अंध कूप ह्वै आई॥
माया मोह उनवैं भरपूरी। दादुर दांमिनि पवनां पूरी॥
तरिपै बरिषै अखंड धारा। रैनि भांमनीं भया अंधियारा॥
तिहि वियोग तजि भए अनाथा। परे निकुंज न पावै पाथा॥
बेद न आहि कहूं को मानै। जानि बूझि मैं भया अयानै॥
नट बहु रूप खेलै सब जांनैं। कला केर गुन ठाकुर मानैं॥
ओ खेलै सब ही घट मांहीं। दूसर कै लेखै कछु नांहीं॥
जाके गुन सोई पै जांनै। और को जानैं पार अयांनै॥
भलै रे पोच औसर जब आवा। करि सनमांन पूरि जन पावा॥
दांन पुन्य हम दिहूं निरासा। कब लग रहूं नटारंभ काछा॥
फिरत फिरत सब चरन तुरांनैं। हरि चरित अगम कथै को जानैं॥
गण गंध्रप मुनि अंत न पावा। रह्यौ अलख जग धंधै लावा॥
इहि बाजी सिव बिरंचि भुलांनां। और बपुरा को क्यंचित जांनां॥
त्राहि त्राहि हम कीन्ह पुकारा। राखि राखि सांई इहि बारा॥
कोटि ब्रह्मंड गहि दीन्ह फिराई। फल कर कीट जनम बहुताई॥
ईस्वर जोग खरा जब लीन्हां। टर्‌यो ध्यांन तप खंड न कीन्हां॥
सिध साधिक उनथै कहु कोई। मन चित अस्थिर कहु कैसैं होई॥
लीला अगम कथै को पारा। बसहु समीप कि रहौ निनारा॥

खग खोज पीछैं नहीं, तूं तत अपरंपार।
बिन परचै का जांनियै कबीर, सब झूठे अहंकार॥२॥

अलख निरंजन लखै न कोई। निरभै निराकार है सोई॥
सुंनि असथूल रूप नहीं रेखा। द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं पेखा॥
बरन अबरन कथ्यौ नहीं जाई। सकल अतीत घट रह्यौ समाई॥
आदि अंति ताहि नहीं मधे। कथ्यौ न जाई आहि अकथे॥
अपरंपार उपजै नहीं बिनसै। जुगति न जांनियें कथिये कैसे॥
जस कथियै तस होत नहीं, जस है तैसा सोइ।
कहत सुनत सुख ऊपजै, अरु परमारथ होइ॥३॥

मृगत्रिस्नां दिन दिन ऐसी, अब मोहि कछु न सोहाइ।
अनेक जतन करियै टारियै कबीर, करंम पासि नहीं जाइ ॥५॥

रे रे मन बुधिवंत भंडारा। आप आप ही करहु बिचारा ॥
कवन सयांन कौंन बौराई। किहि दुख पाइये किहि दुख जाई ॥
कवन हरिष को बिषमै जांनां। को अनहित को हित करि मांनां ॥
कवन सार को आहि असारा। को अनहित को आहि पियारा ॥
कवन साच कवन है झूठा। कवन करू को लागै मीठा ॥
किहि जरियै किहि करियै अनंदा। कवन मुकति को गल के फंदा ॥
रे रे मन मोहि ब्यौरि कहि, हौं तत पूछौं तोहि।
संसै सूल सबै भई कबीर, समझाई कहि मोहि ॥६॥

सुंनि हंसा मैं कहौं बिचारी। त्रिजुग जोनि सबै अंधियारी ॥
मनिषा जनम उत्तिम जौ पावा। जांन्यूं रांम तौ सयांन कहावा ॥
नहीं चेतै तौ जनम गंमावा। पर्‌यौ बिहांन तब फिरि पछतावा ॥
सुख कर मूल भगति जौ जांनैं। और सबै दुख या दिन आंनै ॥
अमृत केवल रांम पियारा। और सबै बिष के भंडारा ॥
हरिष आहि जौ रमियै रांमां। और सबै बिसमा के कांमां ॥
सार आहि संगति निरबांनां। और सबै असार करि जांनां ॥
अनहित आहि सकल संसारा। हित करि जांनियैं रांम पिया[रा] ॥
सांच सोई जे थिरहं रहाई। उपजै बिनसै झूठ ह्वै जाई ॥
मीठा सो जो सहजैं पावा। अति कलेस थैं करू कहावा ॥
नां जरियै नां कीजै मैं मोरा। तहां अनंद जहां रांम निहोरा ॥
मुकति सो ज आपा पर जांनैं। सो पद कहा जु भ्रमि भुलानैं ॥
प्रांननाथ जग जीवनां, दुरलंभ रांम पियार।
सुत सरीर धन प्रग्रेह (प्रग्रह) कबीर, जीय तरवर पंख बसियार ॥७॥

रे रे जीव अपनां दुख न संभारा। जिहि दुख ब्याप्या सब संसारा ॥
माया मोह भूले सब लोई। क्यंचित लाभ मांनिक दीयौ खोई ॥
मैं मेरी करि बहुत बिगूता। जननीं उदर जनम का सूता ॥
बहुतैं रूप भेष बहु कीन्हां। जुरा मरन क्रोध तन खीनां ॥
उपजै बिनसै जोनि फिराई। सुख कर मूल न पावै चाही ॥
दुख संताप कलेस बहु पावै। सो न मिलै जे जरत बुझावै ॥
जिहि हित जीव राखिहै भाई। सो अनहित ह्वै जाइ बिलाई ॥
मोर तोर करि जरै अपारा। मृग त्रिस्नां झूठी संसारा ॥
माया मोह झूठ रह्यौ लागी। का भयौ इहां का ह्वै है आगी ॥
कछु कछु चेति देखि जीव अबहीं। मनिषा जनम न पावै कबहीं ॥
सार आहि जे संग पियारा। जब चेतै तब ही उजियारा ॥

त्रिजुग जोनि जे आहि अचेता । मनिषा जनम भयौ चित चेता ।।
आतमां मुरछि मुरछि जरि जाई । पिछले दुख कहतां न सिराई ।।
सोई त्रास जे जानैं हंसा । तौ अजहूं न जीव करै संतोसा ।।
भौसागर अति वार न पारा । ता तिरिबे का करहु विचारा ।।
जा जल की आदि अंति नहीं जानियें । ताकौ डर काहे न मानियें ।।
को बोहिथ को खेवट आही । जिहि तरिये सो लीजै चाही ।।
समझि विचारि जीव जब देख्या । यहु संसार सुपिन करि लेखा ।।
भई बुधि कछू ग्यांन निहारा : आप आप हीं किया विचारा ।।
आपण मैं जे रह्या समाई । नेडै दूरि कथ्यौ नहीं जाई ।।
ताके चीन्हें परचौ पावा । भई संमझि तासूं मन लावा ।।
भाव भगति हित बोहिया, सतगुर खेवणहार ।
अलप उदिक तब जांणिये कबीर, जब गोपदखुर बिस्तार ।।८।।

(३) शब्दार्थ—पद १ : विज्ञान < विज्ञान । चारि खानि : चार प्रकार के जीव : अंडज, पिंडज, उष्मज और जरायुज । त्राकुट : संकट ।

पद ३ : नेड़ा/नेरा . निकट । औसर/अवसर—दरबार, नृत्य-संगीत सभा । नटारंभ : नाट्यारंभ—नाट्य का आयोजन ।

पद ४ . दरव् : द्रव्—द्रवित होना, दया करना ।

पद ५ : विषहर : विषधर—सर्प । पारधी : पापर्द्धिक—वधिक । अछ्—होना । सिराना : समाप्त होना ।

पद ६ : मैंगल : मद-गलित—मदोन्मत्त हाथी । करू कटुक—कड़वा ।

पद ७ : त्रिजुग तिर्यक्—पशु-पक्षी आदि प्राणी । तावर ' ताव : तावत्—तब तक ।

पद ८ : विला : वि+ली—विलीन होना ।

(४) दुपदी रमैंणीं

भया दयाल बिषहर जरि जागा । गहगहांन प्रेम बहु लागा ।।
भया आनंद जीव भये उलहासा । मिले, रांम मनि पूगी आसा ।।
मास असाढ़ रवि धरनि जरावै । जरत जरत जल आइ बुझावै ।।
रुति सुभाइ जिमीं सब जागी । अंमृत धार होइ झर लागी ।।
जिमीं मांहि उठी हरियाई । बिरहनि पीव मिले जन जाई ।।
मनि कांमनि कै भये उछाहा । कारनि कौन बिसारी नाहा ।।
खेल तुम्हारा मरन भया मोरा । चौरासी लख कीन्हां फेरा ।।
सेवग सुत जे होइ अनिआई । गुन औगुन सब तुम्हि समाई ।।
अपने औगुन कहूं न पारा । इहै अभाग जे तुम्ह न संभारा ।।
दरवो नहीं कांइ तुम्ह नाहा । तुम्ह बिछुरे मैं बहु दुख चाहा ।।
मेघ न बरिखै जांहि उदासा । तऊ न सारंग सागरआसा ।।

अनहद मह्यौ ताहि नहीं आवै। कै मरि जाइ कै उहै पिरावै ॥
मिल्हु रांम मनि पुरवहु आसा। तुम्ह बिछुरयां मैं सकल निरासा ॥
मैं रे निरासा जब निधि पाई। रांम नांम जीव जाग्या जाई ॥
नलनीं कै ज्यूं नीर अधारा। तिन बिछुरयां थैं रवि प्रजारा ॥
रांम बिनां जीव बहुत दुख पावै। मन पतंग जगि अधिक जरावै ॥
माघ मास रुति कवलि तुसारा। भयौ बसंत तब बाग संभारा ॥
अपनैं रंगि सब कोइ राता। मधुकर बास लेहि मैमंता ॥
बन कोकिला नाद गहगहांना। रुति बसंत सब कै मनि मानां ॥
बिरहन्य रजनीं जुग प्रति भइया। बिन पीव मिलैं कलप टलि गइया ॥
आतमां चेति समझि जीव जाई। बाजी झूठ रांम निधि पाई ॥
भया दयाल निति बाजहि बाजा। सहजैं रांम नांम मन राजा ॥

जरत जरत जल पाइया, सुख सागर कर मूल।
गुर प्रसादि कबीर कहि, भागी संसै सूल ॥१॥

रांम नांम निज पाया सारा। अबिरथा झूठ सकल संसारा ॥
हरि उतंग मैं जाति पतंगा। जंबकु केहरि कै ज्यूं संगा ॥
क्यंचित ह्वै सुपिनैं निधि पाई। नहीं सो तारौं धरौं लुकाई ॥
हिरदै न समाइ जांनियैं नहीं पारा। लागै लोभ न और हकारा ॥
सुमिरत हूं अपनैं उनमानां। क्यंचित जोग रांम मैं जांनां ॥
मुखां साध का जानियैं असाधा। क्यचित जोग रांम मैं लाधा ॥
कुबजि होइ अंमृत फल बंछ्या। पहुंचा तब मन पूगी इंछ्या ॥
नियर थैं दूरि दूरि थैं नियरा। रामचरित न जानियैं जियरा ॥
सीत थैं अगिन फुनि होई। रवि थैं ससि ससि थैं रवि सोई ॥
सीत थैं अगिन परजरई। जल थैं निधि निधि थैं जल करई ॥
बज्र थैं तिण खिण भीतरि होई। तिण थैं कुलिस करै फुनि सोई ॥
गिरवर छार छार गिरि होई। अविगति गति जानैं नहीं कोई ॥
जिहि दुरमति डोल्यौ संसारा। परे असूझि वार नहीं पारा ॥
बिख अमृत एकै करि लीन्हां। जिन चीन्हां सुख तिहकूं हरि दीन्हां ॥
सुख दुख जिनि चीन्हां नहीं जांनां। ग्रासे काल सोग रुति मांनां ॥
होइ पतंग दीप मैं परई। झूठैं स्वादि लागि जीव जरई ॥
कर गहि दीपक परहि जु कूपा। यहु अचरज हम देखि अनूपा ॥
ग्यांनहीन ओछी मति बाधा। मुखां साध करतूति असाधा ॥
दरसन समि कछु साध न होई। गुर समांन पूजियैं सिध सोई ॥
भेष कहा जे बुधि बिसूधा। बिन परचैं जग बूडनि बूडा ॥
जदपि रवि कहियै सुर आही। झूठैं रवि लीन्हां सुर चाही ॥
कबहूं हुतासन होइ जरावै। कबहूं अखंड धार बरिषावै ॥
कबहूं सीत काल करि राखा। तिहूं प्रकार बहुत दुख देखा ॥

ताकूं सेवि मूढ़ क्यूं सुख पावै। दौरे लाभ कूं मूल गंवावै॥
अछित राज दिनै दिन होई। दिवस सिराइ जनम गये खोई॥
मृत काल किनहूं नहीं देखा। माया मोह धन अगम अलेखा॥
झूठै झूठ रह्यौ उरझाई। साचा अलख जग लखया न जाई॥
साचै नियरै झूठै दूरी। विष कूं कहैं सजीवन मूरी॥
कथ्यौ न जाइ नियरै अरु दूरी। सकल अतीत रह्या घट पूरी॥
जहां देखौं तहां रांम समांनां। तुम्ह बिन ठौर और नहीं आंनां॥
जदपि रह्या सकल घट पूरी। भाव बिनां अभिअंतरि दूरी॥
लोभ पाप दोऊ जरै निरासा। झूठै झूठै झूठि लागि रही आसा॥
जहुवां ह्वै निज प्रगट बजावा। सुख संतोष तहां हम पावा॥
नित उठि जस कीन्ह परकासा। पावक रहै जैसैं काष्ट निवासा॥
बिना जुगति कैसैं मथिया जाई। काष्टैं पावक रह्या समाई॥
कष्टैं कष्ट अग्नि पर जरई। जारै दार अग्नि समि करई॥
ज्यूं रांम कहे ते रांमैं होई। दुख कलेस घालै सब खोई॥
जन्म के कलिविष जांहि विलाई। भरम करम का कछू न बसाई॥
भ्रंम क्रंम दोऊ बरतैं लोई। इनका चरित न जांनैं कोई॥
इन दोऊ संसार भुलावा। इहके लागें ग्यांन गंवावा॥
इनकौ मरम पै सोई बिचारी। सदा आनंद लैलीन मुरारी॥
ग्यांन द्रिष्टि निज पेखै जोई। इनका चरित जांनै पै सोई॥
ज्यूं रजनीं रज देखत अंधियारी। डसे भुवंगम बिन उजियारी॥
तारे अगिनत गुनहि अपारा। तऊ कछू नहीं होत अधारा॥
झूठ देखि जीव अधिक डराई। बिनां भुवंगम डसी दुनियांई॥
झूठै झूठ लागि रही आसा। जेठ मास जैसैं कुरंग पियासा॥
इक त्रिषांवंत दह दिसि फिरि आवै। झूठै लगा नीर न पावै॥
इक त्रिषांवंत अरु जाइ जराई। झूठी आस लागि मरि जाई॥
नीझर नीर जांनि परहरिया। करम के बांधे लालच करिया॥
कहै मोर कछू आहि न वाही। भ्रंम क्रंम दोऊ मति गंवाई॥
भ्रंम क्रंम दोऊ मति परहरिया। झूठै नांउं साच लै धरिया॥
रजनीं गत भई रवि परकासा। भ्रम क्रम धूं केर बिनासा॥
रवि प्रकास तारे गुन खीनां। आचार ब्यौहार सब भये मलीनां॥
विष के दाधें विष नहीं भावै। जरत जरत सुखसागर पावै॥
अनिल झूठ दिन धावै आसा। अंध द्रुगंध सहै दुख त्रिसा॥
इक त्रिषांवंत दुसरैं रवि तवाई। दह दिसि ज्वाला चहु दिसि जराई॥
करि सनमुखि जब ग्यांन बिचारी। सनमुखि परिया अगनि मंझारी॥
गछित गछित जब आगैं आवा। बिन उनमांन ढिवुवा इक पावा॥
सीतल सरीर तन रह्या समाई। तहां छाड़ि कत दाझै जाई॥

यूं मन बारनि भया हंमारा । दाधा दुख कलेस संसारा ॥
जरत फिरे चौरासी लेखा । सुख कर मूल किनहूं नहीं देखा ॥
जाकै छाड़ै भये अनाथा । भूलि परे नहीं पावै पंथा ॥
अछै अभिअंतरि नियरै दूरी । बिन चीन्ह्यां क्यूं पाइये मूरी ॥
जा बिन हंस बहुत दुख पावा । जरत जरत गुरि रांम मिलावा ॥
मिल्या रांम रह्या सहजि समाई । खिन बिछुरयां जीव उरझै जाई ॥
जा मिलियां तें कीजै बधाई । परमांनंद रैंनि दिन गाई ॥
सखी सहेलरी लीन्ह बुलाई । रुति परमांनंद भेटियै जाई ॥
सखी महेली करहि अनंदू । हित करि भेटियै परमानंदू ॥
चली सखी जहुवां निज रांमां । भये उछाह छाड़े सब कांमां ॥
जांनूं कि मोरै सरस बसंता । मैं बलि जांऊं तोरि भगवंता ॥
भगति हेत गावै लैलींनां । ज्यूं बन नाद कोकिला कीन्हां ॥
बाजै संख सबद धुनि बेनां । तन मन चित हरि गोब्यंद लीनां ॥
चल अचल पांइन पंगुरनी । मधुकरि ज्यूं लेहि आघरनीं ॥
सावज सीह रहे सब मांची । चंद अरु सूर रहे रथ खांची ॥
गण गंध्रप मुनि जोवैं देवा । आरति करि करि बिनवैं सेवा ॥
बासिग यंद्र ब्रह्मा करै आसा । हंम क्यं चित दुलंभ रांमदासा ॥
भगति हेत रांम गुन गावैं । सुर नर मुनि दुलभ पद पावैं ॥
पुनिम बिमल ससि मास बसंता । दरसन जोति मिले भगवंता ॥
चंदन बिलनी बिरहनि धारा । यूं पूजिये प्रानपति रांम पियारा ॥
भाव भगति पूजा अरु पाती । आतमरांम मिले बहु भांती ॥
रांम रांम रांम रुचि मांनें । सदा अनंद रांम ल्यौ जांनें ॥
पाया सुख सागर कर मूला । जो सुख नहीं कहूं सम तूला ॥

सुख समाधि सुख भया हमारै, मिल्या न बेगर होइ ।
जिहि लाधा सो जांनिहै रांम कबीर, और न जांनें कोइ ॥२॥

(४) शब्दार्थ—पद १ : गहगह—प्रसन्न होना । पूग्—पूर्ण होना । सारंग : सारङ्ग—चातक ।

पद २ : लाध् : लभ्—प्राप्त करना । कलिविख : कल्मष—पाप । बिब : बिबि : द्वय—दो । ढिकुवा : (?) । बारनि : वारण—हाथी । आघरनीं : आघ्राण—सुगंध । बासिग : वासुकि । बिलनी : (?) ।

(५) लहुड़ी अष्टपदी रमैंणी

केऊ केऊ तीरथ ब्रत लपटांनां । केऊ केऊ केवल रांम निज जांनां ॥
अजरा अमर एक अस्थांनां । ताका मरम काहू बिरलै जांनां ॥
अबरन जोति सकल उजियारा । द्रिष्टि समांन दास निस्तारा ॥
जे नहीं उपाया धरनि सरीरा । ताकै पंथि न सींच्या नीरा ॥

जा नहीं लागे सूरजि के बांनां। सो मोहि आंनि देहु को दांनां॥
जब नहीं होते पवन नहीं पानीं। जब नहीं होती सिष्टि उपांनीं॥
जब नहीं होते प्यंड न बासा। तब नहीं होते धरनि अकासा॥
जब नहीं होते गरभ न मूला। तब नहीं होते कली न फूला॥
जब नहीं होते सबद न स्वादं। तब नहीं होते बिद्या न बादं॥
जब नहीं होते गुरू न चेला। गम अगमैं पंथ अकेला॥

अवगति की गति का कहूं, जसकर गांव न नांव।
गुन बिहूंन का पेखिये, काकर धरिये नांव॥१॥

आदम आदि सुधि नहीं पाई। मां मां हवा कहा थैं आई॥
जब नहीं होते रांम खुदाई। माया मूल आदि नहीं भाई॥
जब नहीं होते तुरक न हिंदू। मा का उदर पिता का ब्यंदू॥
जब नहीं होते गाई कसाई। तब बिसमला किनि फुरमाई॥
भूले फिरैं दीन ह्वै धावैं। ता साहिब का पंथ न पावैं॥

संजोगैं करि गुंण धर्‌या, बिजोगैं गुंण जाइ।
जिभ्या स्वारथि आपणैं, कीजै बहुत उपाइ॥२॥

जिनि कलमां कलि मांहि पठाया। कुदरति खोजि तिन्हूं नहीं पाया॥
करम करीम भये करतूता। बेद कुरान भये दोऊ रीता॥
कृतम सो जु गर्‌भ अवतरिया। कृतम सो जु नाव जिस धरिया॥
कृतम सुंनित्यं और जनेऊ। हिंदू तुरक न जानैं भेऊ॥
मन मुसले की जुगति न जांनैं। मति भूलै द्वै दीन बखानैं॥

पाणी पवन संयोइ करि, कीया है उतपाति।
सुंनि में सबद समाइगा, तब कासंनि कहिये जाति॥३॥

तुरकी धरम बहुत हम खोजा। बहु बजगार करैं ए बोधा॥
गाफिल गरब करैं अधिकाई। स्वारथ अरथि बधैं ए गाई॥
जाको दूध धाइ करि पीजैं। ता माता कौं बध क्यूं कीजै॥
लहुरैं थकैं दुहि पीया खीरो। ताका अहमक भकैं सरीरो॥

बेअकली अकलि न जांनहीं, भूले फिरैं ए लोइ।
दिल दरिया दीदार बिन, भिस्त कहां थैं होइ॥४॥

पंडित भूले पढ़ि गुनि बेदा। आप न पावैं नांनां भेदा॥
संध्या तरपन अरु षट करमां। लागि रहे इनकै आश्रमां॥
गायत्री जुग चारि पढ़ाई। पूछौ जाइ मुकति किनि पाई॥
सब में रांम रहै ल्यौ सींचा। इन थैं और कहौ को नीचा॥
अति गुन गरब करै अधिकाई। आधिकै गरबि न होइ भलाई॥
जाकौ ठाकुर गरब प्रहारी। सो क्यूं सकई गरब सहारी॥

कुल अभिमांन बिचार तजि, खोजौ पद निरबांन।
अकुर बीज नसाइगा, तब मिलै बिदेही थांन॥५॥

खत्री करै खत्रिया धरमो। तिनहूं होय सवाया करमो ॥
जीवहि मारि जीव प्रतिपारैं। देखत जनम आपनां हारैं ॥
पंच सुभाव जु मेटै काया। सब तजि करम भजै रांम राया ॥
खत्री सो जु कुटुंब सूं जूझै। पंचूं मेटि एक कूं बूझै ॥
जो आवध गुर ग्यांन लखाया। गहि करवाल धूप धरि धावा ॥
हेला करै निसांनैं घाऊ। जूझ परै तहां मनमथ राऊ ॥

मनमथ मरै न जीवई, जीवण मरण न होइ।
सुंनि सनेही रांम बिन, गये अपनपौ खोइ ॥६॥

अरु भूले षट दरसन भाई। पाषंड भेष रहे लपटाई ॥
जैन बोध अरु साकत सैनां। चारिवाक चतुरंग बिहूंनां ॥
जैन जीव की सुधि न जांनैं। पाती तोरि देहुरै आंनैं ॥
दोना मरवा चंपक फूला। तामैं जीव बसैं कर तूला ॥
अरु प्रिथमीं का रोम उपारैं। देखत जीव कोटि संघारैं ॥
मनमथ करम करै असरारा। कलपत ब्यंद धसै तिहि द्वारा ॥
ताकी हत्या होइ अदभूता। षट दरसन मैं जैन बिगूता ॥

ग्यान अमर पद बाहिरा, नेड़ा ही थैं दूरि।
जिनि जांन्यां तिनि निकटि है, राम रह्या सकल भरपूरि ॥७॥

आपन करता भये कुलाला। बहु बिधि सिष्टि रची दरहाला ॥
बिधनां कुंभ किये है थांनां। प्रतिब्यंब ता माहि समानां ॥
बहुत जतन करि बांनक बांनां। सोज मिलाय जीव तहां ठांनां ॥
जठर अगनि दीन्ही परजाली। ता मैं आप करै प्रतिपाली ॥
भीतर थैं जब बाहरि आवा। सिव सकती द्वै नांव धरावा ॥
भूलै भरमि परै जिनि कोई। हिंदू तुरक झूठ कुल दोई ॥
घर का सुत जे होइ अयांनां। ताकै संगि क्यूं जाइ सयांनां ॥
सांची बात कहै जे बासूं। सो फिरि कहै दिवांनां तासूं ॥
गोप भिन्न है एकै दूधा। कासूं कहिए बांम्हन सूदा ॥

जिनि यहु चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहै कबीर ते जन भले, जे चित्रवत लेहि बिचार ॥८॥

(५) शब्दार्थ—पद ३ : कुलम : कृत्रिम । सुंनित्य : सुन्नत ।
पद ४ . बजगार : बदकार [फा०] ।
पद ७ . असरारा—निरंतर ।
पद ८ . सिव सकती—आत्मा और प्रकृति ।

(६) बारहपदी रमैंणी

पहली मन मैं सुमिरौ सोई। ता सम तुलि अवर नहीं कोई ॥
कोई न पूजै बांसूं प्रांनां। आदि अंति वो किनहूं न जांनां ॥

रूप सरूप न आवै बोला । हरू गरू कछू जाइ न तोला ॥
भूख न त्रिषा धूप नहीं छांहीं । सुख दुख रहित रहै सब मांहीं ॥
अबिगत अपरंपार ब्रह्म, ग्यांन रूप सब ठांम ।
बहु बिचार करि देखिया कबीर, कोई न सारिख रांम ॥१॥
जो त्रिभवन पति ओहै ऐसा । ताका रूप कहौ धौं कैसा ॥
सेवग जन सेवा कै तांईं । बहुत भांति करि सेवि गुसांईं ॥
तैसी सेवा चाहौ लाई । जा सेवा बिन रह्या न जाई ॥
सेव करंतां जो दुख भाई । सो दुख सुख बरि गिनहु सवाई ॥
सेव करंतां सो सुख पाया । तिन्य सुख दुख दोऊ बिसराया ॥
सेवग सेव भुलानियां, पंथ कुपंथ न जान ।
सेवक सो सेवा करी कबीर कहि जिहि सेवा भल मांन ॥२॥
जिहि जग कीतस कीतस केहो । आपै आप आहि है एही ॥
कोई न लखई वाका भेऊ । भेऊ हो तो पावै केऊ ॥
बावैं न दाहिनैं आगैं न पीछू । अरध न उरध रूप नहीं कीछू ॥
माइ न बाप आव नहीं जावा । नां बहु जण्यां न को वहि जावा ॥
वो है तैसा वोही जानैं । ओही आहि आहि नहीं आंन ॥
नैंनां बैंन अगोचरी । श्रवनां करनीं पार ।
बोलन कै सुख कारनैं कबीर, कहिये सिरजनहार ॥३॥
सिरजनहार नांउ धूं तेरा । भौसागर तिरिबे कूं भेरा ॥
जे यहु भेरा रांम न करता । तौ आपैं आप आवटि जग मरता ॥
रांम गुसांईं मिहर जु कीन्हां । भेरा साजि संत कौं दीन्हां ॥
दुख खंडण मही मंडणां, भगति मुकुति बिश्रांम ।
विधि करि भेरा साजिया कबीर, धर्या रांम का नाम ॥४॥
जिनि यहु भेरा दिढ़ करि गहिया । गये पारि तिनौं सुख लहिया ॥
दुमनां ह्वै जिनि चित्त डुलावा । कर छिटके थैं थाह न पावा ॥
इक डूबे अरु रहे उरवारा । ते जगि जरे न राखणहारा ॥
राखन की कछु जुगति न कीन्हीं । राखणहार न पाया चीन्हीं ॥
जिन चीन्ह्या ते निरमल अंगा । जे अचीन्ह ते भये पतंगा ॥
रांम नांम ल्यौ लाइ करि, चित चेतन ह्वै जागि ।
कहै कबीर ते ऊबरे, जे रहे रांम ल्यौ लागि ॥५॥
अरचित अविगत है निरधारा । जांण्यां जाइ न वार न पारा ॥
लोक बेद थैं अछै नियारा । छाड़ि रह्यौ सबही संसारा ॥॥
जसकर गांउ न ठांउं न खेरा । कैसैं गुन बरनूं मैं तेरा ॥
नहीं तहां रूप रेख गुन बांनां । ऐसा साहिब है अकुलांनां ॥
नहीं सो ज्वांन न बिरध नहीं बारा । आपैं आप अपनपौ तारा ॥

॥ यह अर्द्धाली वि० में नहीं है, स० मे है ।

कहै कबीर बिचारि करि, जिनि को लावै भंग।
सेवौ तन मन लाइ करि, रांम रह्या सरबंग ॥६॥

नहीं सो दूरि नहीं सो नियरा। नहीं सो तात नहीं सो सियरा॥
पुरिष न नारि करै नहीं क्रीरा। घांम न घाम न ब्यापै पीरा॥
नदी न नाव धरनि नहीं धीरा। नहीं सो कांच नहीं सो हीरा॥
कहै कबीर बिचारि करि, तासूं लावो हेत।
बरन बिबरजित ह्वै रह्या, नां सो स्यांम न सेत ॥७॥

नां वो बारा ब्याह बराता। पीव पितंबर स्यांम न राता॥
तीरथ ब्रत न आवै जाता। मन नहीं मोनि बचन नहीं बाता॥
नाद न बिंद गरथ नहीं गाथा। पवन न पांणीं संग न साथा॥
कहै कबीर बिचारि करि, ताकै हाथि न नाहि।
सो साहिब किनि सेवियें, जाकै धूप न छांह ॥८॥

नां साहिब कै लागी साथा। दुख सुख मेटि रह्यौ अनाथा।,
नां जसरथ घरि औतरि आवा। नां लंका का राव संतावा॥
देवै कूख न औतरि आवा। नां जसवै ले गोद खिलावा॥
नां वो ग्वालन कै संग फिरिया। गोवरधन ले न कर धरिया॥*
बांवन होय नहीं बलि छलिया। धरनी बेद लेन उधरिया॥
गंडक सालिगरांम न कोल्हा। मछ कछ ह्वै जलहि न डोला॥
बद्री बैसि ध्यांन नहीं लावा। परसरांम ह्वै खत्री न संतावा॥
द्वारामती सरीर न छाड़ा। जगनाथ ले प्यंड न गाड़ा॥
कहै कबीर बिचार करि, ये वैले ब्योहार।
याही थैं जे अगम है, सो बरति रह्या संसारि ॥९॥

नां तिस सबद न स्वाद न सोहा। नां तिहि मात पिता नहीं मोहा॥
नां तिहि सास ससुर नहीं सारा। नां तिहि रोज न रोवनहारा॥
नां तिहि सूतिग पातिग जातिग। नां तिहि माइ न देव कथा पिक॥
नां तिहि ब्रिध बधावा बाजै। नां तिहि गीत नाद नहीं साजै॥
नां तिहि जाति पांति कुल लीका। नां तिहि छोति पवित्र नहीं सींचा॥
कहै कबीर बिचार करि, वो है पद निरबांण।
सति ले मन मैं राखिये, जहां न दूजी आंन ॥१०॥

नां सो आवै नां सो जाई। ताकै बंध पिता नहीं माई॥
चार बिचार कछू नहीं वाकै। उनमनि लागि रहौ जे ताकै॥
को है आदि कवन का कहिये। कवन रहनि वाका ह्वै रहिये॥
कहै कबीर बिचारि करि, जिनि को खोजै दूरि।
ध्यांन धरौ मन सुध करि, रांम रह्या भरपूरि ॥११॥

---

* यह अर्द्धाली प्रि० मे नहीं है, ख० मे है।

परिशिष्ट १

शब्द-कोश

यह शब्द-कोश रचना के केवल ऐसे शब्दों को लेकर तैयार किया गया है जिनके अर्थ के संबंध में कठिनाई हो सकती है। यथासंभव शब्दों के पूर्ववर्ती रूप भी दिए गए हैं, साथ ही उनके कतिपय संदर्भ भी। जो शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं, उनके तीन से अधिक संदर्भ स्थल-संकोच के कारण प्रायः नहीं दिए जा सके हैं। साखियों के स्थल-निर्देश क्रमशः अंग तथा साखी-संख्या देकर, पदों के रागों के नाम, पद-संख्या और चरण-संख्या देकर, तथा रमैणियों के र० संकेत के साथ रमैणी तथा पद-संख्या दे कर किए गए हैं। प्रयुक्त संकेत और संक्षेप निम्नलिखित हैं—

अ० : अरबी, अर्द्धा० : अर्द्धाली, आ० : आसावरी, क० : कल्याण, के० : केदारा, गौ० : गौड़ी, टो० : टोड़ी, तु० : तुर्की, ध० : धनाश्री, फ़ा० : फ़ारसी, ब० : बसंत, बि० : बिलावल, भै० : भैरूं, म० : मलार, मा० : मारू, माली० : मालीगौड़ा, र० : रमैणी, रा० रामकली, ल० : ललित, सा० : सारंग, सो० : सोरठि।

अऊन : अउत्त : अउप्त—अनुत्पन्न ३०.७। अंखड़ी : अक्षि—आंख ३.२५। अंगीठ : अग्नि · इष्टिका १२.६। अंदोह [फ़ा०]—दुःख, रंज, गम १६.२८। अंबर्—कहना, बोलना ७.५। अकन्—सुनना, आ० २९. अर्द्धा० ३। अकुलाना—अकुल या कुलहीन होना र० ६.६ (शब्द का रूप संदिग्ध लगता है)। अगंमा : अत्यद्भुत (?) ९.२। अछ् : अस् (?)—होना र० ३.५। अजरांवर : अजर+अमर १.८, ४१.८, र० ११। अजराईल—मौत का फ़रिश्ता भै० २५.४। अधधर/अधफर : मंझधार गौ० १३१. अर्द्धा० ५, के० ११.७, के० १९.६। अधौरी—पादत्री ब० ११.४। अनख्—रुष्ट होना रा० ३६.४। अनभै : अनुभव गौ० ८.७। अनिल : अनल : ककनूस पक्षी, जिसके विषय में प्रसिद्धि रही है कि उसके गाने से उसका घोसला जल जाता था १२.६, ३१.३। अनि : अन्य रा० १६.१। अपनपौ/आपनपौ - आत्मत्त्व ४४.८, भै० १९.४। अमल [अ०]—नशा ६.६। अरध/अर्ध : अधस्—नीचे १.३१, र० १.१। अरड् : रट्—शब्द करना, आह्वान करना गौ० ५०.४। अलगान : अलग्न ४९.४। अवधू : अवधूत—त्यागी, विरागी गौ० ६९.१। अवर : अपर—अन्य गौ० ६६. अर्द्धा० ५। अविगत : अव्यक्त ६.६। असु : अश्व रा० ६.४। अस : असत् (?) आ० ५०.५। असरार/असराल—अनवरत, निरंतर २.१६, र० ५.३। असोस : अशोष्य ५७.३। अहुट्—हटना गौ० ५.१०। अहुरणि—निहाई १२.५१। अहुल : अफल ३५.१४। अहिनांण : अभिज्ञान—परिचय भै० २७. अर्द्धा० ४।

फूल का संकुचित होकर कुड्मल जैसा हो जाना १६.१५. ४६. ११। कुरल्—कूजन या शब्द करना ३.२। कुरह : कुलक्ख : कुलक्ष—म्लेच्छ देश-विशेष, कुदेश १२.४७। कुलफ : कुफ़्ल [अ०]—ताला गौ० २३.४। कुलाल—कुम्हार सो० ७.३। कुहाडा : कुठार—कुल्हाड़ा १२.४३। कूक् : कोक्क्—पुकार लगाना २.१६। कूख : कुक्षि—उदर र० ६.६। कूड़ : कूड़ा : कूट—बुरा, निकम्मा १२.१४, १२.६२। के : कियत्—कितना-कुछ ३३.७। केता : कियत्—कितने ही २०.५। केही—किस प्रकार ६ ३। कोट—परकोटा १७.१७। कोटीधज : कोटि-ध्वज—करोड़पति गौ० ६६ अर्द्धा० २। कोठड़ी : कोष्ठ+डी १६.८। क्यारी : केदार+इका १३.५। क्रम : कर्म २.४। क्रितम: कृत्रिम—जगत् के पदार्थ, पाषाणादि रा० ४५ ६, र० ५ ३।

खंड : खड्ग—तलवार २.६८। खड्—चलना ५०.१। खड : कड—खर, घास रा० २४.५। खद्ध—खाया हुआ १.२२। खय् : क्षी—क्षय को प्राप्त होना २.१७। खर—गधा गौ० ३६.३। खाई : खाति २८.८। खादू—व्यापारी, बनजारा व० ६.६। खांडी : खांडानी—कामिनी सो० ६.५। खाड : खड्ड—गर्त गौ० १०.५। खारा : खर—खरा, कड़ा गौ० १२.१। खारिसा : ख़ालिस—एकाधिकार आ० १४.८। खालसा : खालिस—शुद्ध, निष्कलुष सो० ३.१०। खिल् : खिर् : क्षी—नष्ट करना गौ० १३१. अर्द्धा० ४। खिलखानां : खिलवतखान:—एकान्त निवास भै० १४ अर्द्धा० ४। खिव् : क्षिप्—[बिजली] गिराना आ० ५४.३। खिस्—खिसकना, सरकना २.१५। खूट् : खुट् : क्षी—समाप्त होना, नष्ट होना ५.१३। खूंटी—खूंट, [वस्त्र का] छोर के० १५.२। खूंण : खुण्ण—परिवेष्ठित स्थान २०.६, ४५.२। खूंद् : स्कुंद्—कूदना, उछल कर जा पहुंचना २४.१५। खेलि : खै़ल [अ०]—समूह भै० १४ अर्द्धा० ३। खेह : धूली, रज ६.५। खोखरी : खुक्ख+डी—खाली १२७. अर्द्धा० ३। खोडि : खोटि—खोटाई, बुराई १२.३१, १६.१४। ख्यौ : क्षय आ० ४४.४। ख्वार [अ०]—अपमानित, तिरस्कृत व्यक्ति २२.१।

गंड—गडा, ५-' की गणना रा० ३६.४। गड्—घुसना, समाना २०.१३। गड्ड : गर्त—क़ब्र १२.११। गडरी—गाडर, भेड गौ० १२.७। गरथ : ग्रथ—द्रव्य, पूंजी ३५.६ र० ६.८। गलका : गलअ : गल—वडिश, मछली फँसाने का कांटा १३.१६। गहगह्—प्रसन्न होना र० ४.१। गहिला : गहिल्ला—पागल गौ० ७१.७। गहेलडी : गहिल्ली—पागल स्त्री, आवेशग्रस्ता ३.३६। गाज् : गर्ज—गर्जन करना २.१५, आ० ५४.३। गार : गौरव—गुरुता गौ० ८६. अर्द्धा० २। गारड़ : गारुड—विष-वैद्य गौ० ८३.१। गाल्—गलाना गौ० १४८ ५। गिल् : गृ—निगलना १६.३१। गींद : कन्दुक आ० ५३. अर्द्धा० २। गुडिया : गुडिअ : गुडित—कवचित रा० ६ ४। गुदड़ी—पुरानी-धुरानी वस्तुओं का बाज़ार ४८.३। गुदर्—गुज़ारिश करना, निवेदन करना, भै० १४. अर्द्धा० १। गूड़र : गुड़ा—बड़ी गुड़िया गौ० ६६.५। गूंनि :

वह बारदाना जिसमें रख कर नाज बैल पर लादा जाता है गो० ११.४। गोपल—गोपीत, गोरिका गो० ३१. अर्द्धा० १४। गोर [अ०]—क़ब्र २.१३। गोहन—साथ ३.३१, टो० २.१। ग्रवातण : गुरुवत्तण : गुरुत्व—गरिमा ३५.१४। ग्ररटा : गरिष्ट—सर्वाधिक गुरु गो० ३४. अर्द्धा० १२। ग्वाड़ा—गाय का बाड़ा गो० १५०.६।

घट्ट् : घृष्—घिसना, समाप्त होना १.१२, २.१०। घड़ण : घटन—गढ़ना गो० ३४.२। घरवात—घर का साज-सामान गो० १०४. अर्द्धा० १। घरिआर—घड़िआल, घंटा ल० १. अर्द्धा० २। घाट् : घट्ट् : घृष्—घिसना ३.८। घाटी : संतरण का साधन प्राप्त होने का स्थान ३१.५। घांण : घण्ण—रक्त, रंगा हुआ ४५ ३५। घांणि : घण्णि—घानी १६.८। घाल् : घल्ल्—डालना, छोड़ना गो० १३५. अर्द्धा० ३। घुरड् : घुर् : घूर्म्—घूमना २४.११।

चंगा—अच्छा २२.२। चंदवा—वस्त्र-विशेष गो० १३५. अर्द्धा० ५। चंध—चुंधरा, जिसे नेत्रों से प्रकाश सहन न होने से स्पष्ट न दिखाई पड़ता हो र० २.५। चख : चक्ख्—स्वाद लेना २.१८। चख—चक्षु गो० २८.३। चमरा : चर्मकार र० ७.३। चरहल : चट्ट + फल—चटनी के काम का फल रा० २५.७। चाक : चक्क : चक्र ६.१। चारि खानि : चार प्रकार के जीव—अण्डज, पिण्डज, उष्मज तथा जरायुज र० ३.१। चाह्—देखना गो० २८.३। चिकारा—जाति-विशेष का मृग रा० ३४.२। चिगाव् : चुवाना गो० ७१.५, ७२ ५। चिनी—इकट्ठी की हुई गो० ६६.७। चिलकाई : चिल्लक—बच्चा गो० ५०.३। चूक : चुक्क : त्रुटि १.२१। चेर : चेट—सेवक, दास ४१.१३। चेला : चेट—शिष्य या सेवक १.१५। चोघ्—देखना, निहारना ४६.७। चोज : चोज्ज—वक्रता या चमत्कार-पूर्ण उक्ति १२.३५।

छछर्—छींटे के रूप में किसी तरल पदार्थ को फेंकना, उछालना ३५.१। छछिहारी—छाछ [लेने] वाली स्त्री भै० २९. अर्द्धा० ३। छत्रधार—छत्र धारण करने वाला, राजा दि० ३. अर्द्धा० २। छाक्—छकना, मत्त होना, उमंग में आना गो० ७३. अर्द्धा० १। छाक : अमल, नशा गो० २०.९। छान : छाना : छन्न—प्रच्छन्न, छिपा हुआ २९.१७, गो० ३०.२। छांनि : छादन—छाजन ३०.१०। छीलर : छिल्लर—पल्वल, छोटा तालाब २.३०, म० २.३। छुछंद : स्वच्छंद रा० २२ ९। छेक—खण्ड, विभाग, अलग किया हुआ अंग १.७, १२.२३। छोछा : छुच्छ : तुच्छ—ख़ाली रा० ३९.५, गो० २७. अर्द्धा० ६। छोनि—छूत र० ७.४। छ् : स्था—रहना १५.२, के० ६.८।

जंजाल : द्वन्द्व (?) ४६.७। ज : यत्—कि २२.८। जगाति : जकात [अ०]—कर, चुंगी आ० ४७.२। जद : यदा—जब गो० ११८.३। जलहर : जलधर—अधिक जल का स्थान, जलाशय ३.३९, ४४.१। जसवै : जसोवै : यशोमति र० ६.६। जांण : ज्ञान ११.८, १३.३०, २९.८। जांम् : जम्—जन्म लेना १३.४, १५.२, ३४.४, गो० ४८.३। जाजरा : जज्जर : जर्जर गो०

२२.२ । जातिक : जातक—जन्म-संबंधी संस्कार र० ६.१० । जाया : जात—उत्पन्न ४१. अर्द्धा० ४७.५ । जीवत मृतक : जीवन्मृतक—दुःख-सुखादि तथा संसार के विषयों से निर्लिप्त रहने के कारण जो जीते हुए भी मृतकवत् होता है ४१.१ । जु : यत्—क्योंकि ६.५ । जुग : जग—जगत् १.२२ । जूजुआ : जुअ-जुअ : युत-युत—भिन्न-भिन्न, अलग-अलग ३३.७ । जुवा : जुअ : युत—भिन्न भै० ३. अर्द्धा० ८ । जुह्रा—जरा गौ० ४.१६, रा० २७.२ । जे : जइ : यदि २.२०, ११.८, ४१.८ । जे : यत्—कि ३४.१ । जेवड़ी/जेवड़ा : जीवा—डोरी ११.१४, १२.४८, १७.११, आ० २०.६ । जोअ् : योजय्—जोड़ना १.१७, वि० १. अर्द्धा० १४ । जोअ्—देखना २६.१४ । जोई : योजिता—स्त्री गौ० १०२.३, वि० ६. अर्द्धा० ५ । जोगति—युक्ति र० २.३ । ज्यंद : जिन [अ०]—जीव वि० ४. अर्द्धा० ६ ।

झंख्—संतप्त होना गौ० ४.१७ । झंझर : जज्जर : जर्ज्जर गौ० ६०. अर्द्धा० २ । झंट—झाड़ ३३.८ । झंप्—आच्छादित करना, ढंकना ११.२ । झवक—ढंकना (?) ४६.१७ । झल—ज्वाला १६.३२, गौ० ८.८ । झाड़ि—संपूर्ण रूप मे २०.१ । झाल—ज्वाला ४५.२६ । झींवर : धीमर—मछुवाहा भै० ७.५ । झींख् : झंख्—संतप्त होना गौ० ८७. अर्द्धा० ४ । झीण : झीण : क्षीण २६.४ । झूर् : ज्वल्—संतप्त होना ३.४४ । झोल : झोड—जीर्ण वृक्ष ५१.१ ।

टांक : टंक—तौल-विशेष [जो पहले छटांक मे छः होती थी] २६.५ । टांडा—सार्थ, कारवां आ० ४७.४ । टिकुरी—तकली गौ० ७७.११ । टीडरी—रहट की घटिका (?) रा० ४३.६ । टीवा—टीला रा० २४.३ । टोकणी : टोक्कण+इका—दारू नापने का वर्त्तन, जलपात्र-विशेष १७.५ ।

ठठाना—ठांठ या सूखा बनाना गौ० १३.८ ।

डंगा—यष्टि, लकड़ी भै० ३१. अर्द्धा० ३ । डस् : दंश् ३.४३ । डाक्—कूदना ४५.२६ । डागल : डग्गल—कंकड़-पत्थर, पाषाणादि का टुकड़ा १२.५६ । डाव : [खेल का] दांव १.३२ । डूंघा—नारियल का बना हुआ पात्र-विशेष, जो घड़े से पानी निकालने के काम आता था १७.१८ । डूब् : ब्रुड् ३.४३ । डोरा—धागा गौ० ३१.१, ३१.२, ३१.३ । ड्यंभ—दंभ, दंभपूर्ण वेष सो० १७. अर्द्धा० २ ।

ढिवुवा (?) र० ४.२ । ढोल्—ढुलकाना, ढोना, १०.२, २४.७ ।

तंति : तन्त्री ४०.१ । तकती : तक़्तीअ [अ०] टुकड़े-टुकड़े करना, छिन्न-भिन्न करना आ० १५.१ । तत : तत्त्व २.२, २.३, गौ० ३१. अर्द्धा० ८ । तत : ततः—तदनंतर १.३० । तनी—डोरी गौ० ६६.५ । तरंडवा—तरंदा, तिरने का साधन रा० २५.५ । तरक्—उछलना गौ० १४२. अर्द्धा० ३ । तरस्—त्रास आ० २८.३. आ० ४८.७ । तरस्—लालायित होना ३.६ । तलप: तलप्प्—तप्त होना, गर्म होना, ३.३४ । तप्टा—तसला, शाकादि पकाने

का पात्र-विशेष १७.५ । ताकु : नकुआ २३.१ । ताजन : तर्जन—चाबुक गो० २५, अर्द्धा० २ । तार : तारक, नक्षत्र गो० ४.१३ । तारी—त्राटिका र० १.१ । तालाबेली—तड़पन गो० ११८.८ । तालिब : [फ़ा०] : तलब करने वाला; चाहने वाला गो० ३१, अर्द्धा० १४ । तावर : ताव : तावत्—तब तक र० ३.७ । तिसाइ—तृषित होना गो० ३६, अर्द्धा० १ । तुंड—मुख १८.५ । तुरी : तुरय : तुरग—अश्व १३.१३ । तूर, तूर्य—तुरही ५.४३, गो० ६.६ । तेह—वैसा ५५.२ । तौं : तउ . तदा—तब ५६.१ । त्रिजुग : तिर्यक्—पशु-पक्षी आदि प्राणी र० ३.७ ।

था : स्था—होना आ० ४१.१ । थाकु : थक्क् : स्था—रहना; स्थिर होना ६.१ । थाघ : स्ताघ—थाह ४१.११ । थूर : थुड—वृक्ष-स्कंध गो० ७६.४ । थोता : स्तोक १२.५ । थोथा/थोथड़ा : थुत्था : तुच्छ—हल्का; ख़ाली, खोखला ४.२, २३.६, ३५.१६, रा० ४.६ ।

दख : दृश्—देखना २२.१२ । दरव : द्रव्—द्रवित होना, दया करना, र० ३.४ । दरगह : दरगाह [फ़ा०]—दरबार २२.३ । दरीवल : दाडिम—अनार गो० २५.८ । दरीबा—मट्ठी गो० ७०.५ । दवा : दावाग्नि १.८ । दवाग्रं : द्वय+आस्य (द्वितीय आस्य)—दूसरा मुख गो० ५४.३ । दह : ह्रद—जलाशय १३.१४ । दाझ : दज्झ—दग्ध ३.३५, गो० ४०.३, गो० ६८, अर्द्धा० २ । दाति : दत्ति—दान १.१ । दाव—दांव, [खेल की] बाजी १.१६ । दाव : दव्व : द्रव्य ३७.६ । दिज : द्विज—ब्राह्मण गो० ५८.४ । दीठ : दृष्ट ४६.१५ । दीदार [फ़ा०]—दर्शन २.२७ । दुकान : दुखान [अ०]—भपका गो० १.४ । दुराचनि—क्रुद्ध होने वाली व० २, अर्द्धा० १ । दुहेली : दुःखपूर्ण ४४.२४, २५ । दूदर : दुंदल्ल : द्वन्द्वार्ह (?)—द्वन्द्व-पूर्ति ४१.१२ । देख्ल : देख+ला—देखना ३.४४, ५.४२ । देहुरा : देव-गृह—देवालय ३.४४, ५.४२, गो० ५८.५ । दोवटी—दुपट्टी, छोटा दुपट्टा के० १५.४ । दोवर-तेवर—दुहरा-तिहरा के० २४, अर्द्धा० १ । दोरखा : दूरक्ख : दूरक्ष्य—जिसकी कठिनता से रक्षा की सके १३.३ ।

द्योहरा : दिवस+रा : दिवस ५४.८ । द्योहाड़ी/द्योहारी : दिवस+डी १.५, गो० २६ अर्द्धा० २ ।

धरा : धसा ३.४१ । धाहड़ी : धाह—चीख़-पुकार ३.४४ । धीज्—विश्वास करना १३.२३, गो० ४६ । धुनही : धनुष+हिका आ० १०.५ । धुवन : धूम—धुंआ र० १४.४ । धौल : धवल—श्वेत वृषभ गो० १३.३ ।

नटवा : नर्तक र० २.३ । नबेरा—निपटारा रा० १३.२ । नलनी : नलिका, तुरी को फंसाने के लिए लगाई हुई एक प्रकार की घूमने वाली नली गो० ३१.१० । नवल : नकुल—नेवला रा० ३.८ : नषेध : निषेध मा० १.६ । नाद-व्यंद . नाद-बिन्दु—ओंकार-तत्त्व तथा शरीर-तत्त्व गो० २५, अर्द्धा० ३ । नामहरम : नामहरम : जो महरम (अभावग्रस्त) न हो ३८.३ । नाल :

णल्लय—निमित्त, साथ ३.३६ । नालि—तोप गो० ३४.७ । नावरी—छोटी नौका गो० १८.११ । निगुसांवां—स्वामी-हीन ४१.११ । निज : ठीक-ठीक, वास्तविक २.३, ५.५,५.६ । निज : आत्माराम २०.१०, २०.२० । निनार—ख़ालिस, अमिश्रित र० २.२ । निपजी : निष्पादित—उपजाई हुई । [वस्तु], उपज १.२० । निवाण : निपान—जलाशय १३.२२, ५५.४ यथा 'जिसौ रन मैं तिसौ वन मैं जिसा नदी निवांनि (कीता जी का पद—वि० गुटका ११.२३), कूवा निवाण षोदि जिनि मरौ—नरवै वोध (गोरख-वानी पृ० १७०) । निवरक—अलग न होने वाला मा० ३. अर्द्धा० १ । निमस्—समाप्त होना रा० २ ५ । निरचू—जो चूता (टपकता) न हो गो० १६.५ । निरति—आत्मचिंतन, आत्मानुभूति ५.२२ । निराल—निराला, सव से भिन्न गो० ३५. अर्द्धा० ३ । निसरनी—निसेनी, सीढ़ी गो० १०७.८ । निसहुरा : वेशऊर—अपटु गो० ७०.१० । निहाल : णिअल्ल : निज, स्वकीय; आत्मीय, आत्मस्थ १८.२ । नेड़/निड़ा : निअर : निकट १६.२१, १८.२, र० ३.२ । नेवगी : नेगी, कर्मचारी आ० २०.२ । नौतम : नूतन गो० ११९. अर्द्धा० ४ । नौवति : नौवत [फ़ा०]—वैभव या मंगल-सूचक वाद्य १२.१ ।

पंखेरू : पक्षधर—पक्षी १६.३० । पंगुड़ा/पंगुरा गो० १०२.३, आ० ४०.७, आ० ५२.१४ । पंगुल : पङ्गु १.१० । पंच सैयल : पंच शैल—पर्वत-विशेष जिनका वर्णन पुराणों में मिलता है । (मो० वि० : संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी) सोरठि २१. अर्द्धा० ८ । पटोला : पट्ट-कूल—रेशमी वस्त्र ३.४१ । पतंग : पत्राङ्ग—पतंगी, पतला, कच्चा [रंग] आ० १३. अर्द्धा० ३ । पतड़ा : पत्र+डा : पत्र २४.८ । पति : प्रत्यय—प्रतीति १३३.६ । पत्तिय् : प्रति+ई—प्रत्यय या विश्वास करना ७.३, ४१.१०, गो० २५. अर्द्धा० ४ । पतियारा : प्रत्यय वि० ४. अर्द्धा० ८ । पयंप् : प्रजल्प—कहना रा० ११.६ । पमाव्—प्रमाद करना; प्रमाद-पूर्ण कथन करना ४५.१४ । परकीरति : प्रकृति र० २.५ । परधा : प्रार्ध—आधे का आधा १२.१५ । परि : परम्—हो न हो १३.८ । पलह् : प्ररुह—अंकुरित होना, हरा-भरा होना ४.६ । पलाण : पर्याण—ज़ीन १३.१३ । पलेटा : प्रलेपित (?)—लपेटा हुआ १२.११, १२.६०, १६.३२ । पसर : प्रसार १३.३ । पसारा : प्रसार—काम-काज, धंधा रा० ३९.१० । पसाव : प्रसाद गो० ५२.२ । पह : पथ भै० २६. अर्द्धा १ । पहजन : पवज्जन : प्रपदन—मानने योग्य रा० ३९.५ । पख : पक्ष २४.२१ । पाइड—पैरी, पायदान गो० २५. अर्द्धा० १ । पाट : पट्ट : पृष्ठ—ऊपर का भाग गो० ७६.४ । पाड़् : पातय्—गिराना, डालना २३.२, ३७.५ । पाड़ोसी : प्रतिवेशिन् १७.१२ । पांणति : प्रज्ञप्ति आ० १२.४, आ० १४.४ । पातला : पत्तल—पतला १३.१२ । पान : पण्य—विक्रेय गो० ५०.६, गो० १०८.६ । पान : पण्ण : पर्ण—पत्ता म० २.४ । पारधी : पाप-र्द्धिक—वधिक र० ३.५ । परि : परम्—हो न हो ३७.२ । पांसु : पांशु—धूल, मैल, गोबर खाद

ईंधन गौ० ७२.६ । वलू : वलिय : वलित—मोड़ा हुआ, झुकाया हुआ १६.२६ । वसियार—वसेरा र० ३.७ । वसोधर : वसुंधर—कृष्ण गौ० ११५. अर्द्धा० ३ । वहीर [फ़ा०]—सैनिक छावनी के सैनिकेतर लोग, सैनिक छावनी का वह भाग जिसमे स्त्री बच्चे होते थे ३१.५ । वहुड़् : वाहुड़् व्याघुट्—लौटना, वापस होना १३.२४, १४.६ । वांवि : वल्मीक + इका रा० ६.३ । वाकुल : वक्कल—वल्कल गौ० ८८.३ (दे० 'वकुला') । वागुल—वक १२.२८ । वाग्—वोलना रा० ६.६ । वाछ : वान्छा—इच्छा, संकल्प १.५ । वाझ्—वद्ध होना गौ० ४७. अर्द्धा० ३ । वाझ : वर्ज्जे—विना सो० २१. अर्द्धा० ४ । वाट : वट्ट : वर्त्म—मार्ग १२.५७, ४१.१४ । वाड़ी : वारिका—खेत को जानवरों से वचाने के लिये लगाई गई झाड़ी आ० ३७.५ । वाढ् : वढ्ढ : वर्ध—काटना ३६.२ । वाढ़ी : वर्धकि—वढ़ई गौ० ५५.५ । वांणि/वांनि : वणिका : स्वभाव १३.१, ३५.५, ४५.३१, आ० १६ अर्द्धा० ५, रा० १६.१ । वानां : वण्णअ : वर्णक—वेपाकृति आदि ३८.६, आ० २. अर्द्धा० ३, रा० ६.६ । वावल : वप्प—पिता गौ० १३.५ । वावा—वाप, पिता रा० २७.१ । वार : द्वार ६.५ । वार : वेला—देरी १.२, २२.१ । वार : वेला : समय आ० ४१.३ । वारुनि : वारण—हाथी रा० ४.२ । वाल्हा : वल्लभ—प्रिय, गित के० ८.१ । वाव् : वादय्—वजाना रा० ४१.७ । वावला : वाउल : वातूल—वातग्रस्त, वकवादी १.१० । वाकस : वक्कस—वासी या विगड़ा हुआ मांस र० ७.३ । वासन : वसनी—एक प्रकार की लम्वी थैली जिसमें सुरक्षा के लिए लोग स्वर्णादि या मुद्राएं रख कर फांड़ में वांध लिया करते थे ३४.१० । वासिग—वासुकि र० ४.२ । वासी : वासित—कई दिनों का रक्खा हुआ ५०.५ । वाह् : वाह—प्रेरित करना,चलाना १.६, २०.२४, ३८.६, ४०.४ । वाहिरा : वर्ज्जे—विना, अभाव में १७.११, २२.११, २४.१६, ४६.३, ४८.२ । विषहर : विषधर—सर्प र० ३.५ । विगूच् : विगोपय्—विगोपन करना, गुप्त वात को प्रकट करना ७.५ । विगूचनि : विगोपन—छीछालेदर होना, भंडाफोड़ होना गौ० ५७.१, सो० १५. अर्द्धा० १ । विगूता : विगोपित—वर्वाद हुआ गौ० १३२.१ । विघार : वृक—भेड़िया रा० ८.५ । विझुका—जंतुओं को डराने के लिए खेतों में खडी की हुई नराकृति म० १.५ । विड़र्—विललाना, निरुद्दिष्ट फिरना रा० ३६.३ । विड—विरानी, अजनवी, ३.२६, १२.५६, के० १३.३ । विढ़ता : विढत्त—अर्जित, उपार्जित २०.३ । वितड़्—वितरण करना गौ० १०७.६ । विनांन : विज्ञान गौ० २८.३, र० ३.१ । विव : विवि : द्वय—दो र० ४.२ । विरदंग : मृदङ्ग आ० २१.अर्द्धा० ३ । विरोध्—अवरोध करना रा० ४३.६ । विलंव—विलंव करना, रुकना ३१.४ । विलग् : संलग्न होना, ५.१६ । विलनी—विलाप करनेवाली, रोने वाली (?) र० ४.२ । विलवा : विडाल गौ० १०१. अर्द्धा० १ । विला : वि + ली—विलीन होना र० ३.८, ३४.३ । विलूंटा :

महरूम [फ़ा०]—वंचित ३८.३ । मांड: मण्ड—सृष्टि २६.१ । माड़ : मंड्—आयोजन करना १.३१ । मांडी : मण्डपिका ४६.१५ । माता : मत्त र० २.४ । मार : प्राणघाती ३.१५ । मालिम . मुअ़ल्लिम—[अ०] विद्वान् आ० ४६. अर्द्धा० ३ । माल्ह् : मल्ह्—चलना ४६.२ । माहा : माया रा० ३६.१ । मिनकी—मीनी, विल्ली रा० ६.६ । मींनी—विल्ली २०.२ व० ४. अर्द्धा० १ । मीरां : मीर : अमीर (वहु०) वि० ५.५ । मुंड्—मुंडन करना २४.११ । मुलक्—मुसकराना ४५.३३ । मुस् : मुष्—चुराना १६.२४, गौ० २५.२, गौं० ६१. अर्द्धा० ५ । मुसल . मुसल्ला—वह दरी जिस पर नमाज पढ़ी जाती है र० १.१ । मुस्टि : मस्ट—चुप गौ० ६७. अर्द्धा० ३ । मुहकम [अ०]—दृढ़, मजबूत १.५ सो० १. अर्द्धा० २ । मुहरा : मुहड़ा, मुंहबंद गौ० २५. अर्द्धा० ३ । मुहरकी—मुहर्रिक [फ़ा०] (नेता, अगुआ)-पना १७.१३ । मुक् : मुच्—मुक्त करना, छोड़ना सो० २१. अर्द्धा० ३ । मेल्ह्—त्याग करना, डाल देना १.३५ १५.५, २४.१५, ३१.८ । मेह : मेघ—बादल, वर्षा १६.१५, ५५.१ । मैंगल . मद गलित [हस्ती] १२.२, र० ३.१२ । मोटा—वड़ा भैं० २६. अर्द्धा० २ । मैडी : मण्डपिका गौ० १००. अर्द्धा० ३, आ० ३७.१० । मैंण : मदन—मोम रा० ४१.५ । मैमंत : मदमत्त ६.५ । मैवास : : मआ़श [अ०]—जीविका का साधन, ज़मीदारी २४.२५, भैं० ३४. अर्द्धा० ३ ।

रंधन—रसोई गौ० ८७. अर्द्धा० २ । रत्तड़ी : रक्त —लाल ३.२५ । रत्ता : रक्त—अनुरक्त, आसक्त १२.२६ । रव [अ०]—ईश्वर गौ० ६३.७. अर्द्धा० ४ । रवू : रवि ल० ३. अर्द्धा० ५ । रह . राह [फ़ा०]—मार्ग गौ० ५८.६ । रहटा अरघट्ट—चरखा, पानी निकालने की चरखी गौ० २६. अर्द्धा० १, ४, गौ० १३६. अर्द्धा० ३ । रांड—विधवा गौ० १३.१० । राय्—रक्त (अनुरक्त) होना २०.२ । रारि : राटि—संग्राम, लड़ाई ४५.२७ । रावल : राजकुल—योगी रा० ३.७ । राही—राधिका गौ० ७६.१० । रिदा : हृदय गौ० १२२. अर्द्धा० ३ । रिपि : ऋष्य—नीलगाय रा० १.३ । रीझ् : ऋध्—प्रसन्न होना १.३३ । रुध्र: रुधिर र० ७.३ । रुंड—विना सिर का धड़, कवन्ध १८.५ । रूखड़ा : वृक्ष ५५.१ । रूड़ा—अद्भुत, सुन्दर गौ० ८५.१ । रुनी : रुण + इका—रुदनशीला.३.१ । रूल् : लुठ्—लेटना, पृथ्वी पर पड़ जाना २४.७ । रैंणाइर : रत्नाकर—सागर ३.४४ । रैणि : रयणी : रजनी ३.३, ३.४ । रोज : रुदन र० ६.१० । रोझ ऋष्य—नीलगाय २३.४ । रोडा : लोष्ठ—मिट्टी का डला ४१.१४ । रोह् : रोध्—रोकना गौ० ६.५ । रौल : रव—शोर-गुल ४६.१८ ।

लगनियां—[पूजी] लगाने वाला गौ० १०७.७ । लवा : अलावु—लौकी [का तूवा] सो० ३०.३ । लाइ : अलात—अग्नि २.३२, ५.३१, २३.६, ४५.३६ । लाध् : लभ्—प्राप्त होना र० ४.२ । लाधा : लब्ध रा० १७.१, रा० २२.१० । लार : संलग्न, साथ लगा हुआ ६.३, ४१.३ । लाल : लल्ल—रवपूर्ण के०

२१.१, ४०.२। सहर : सहयर : सहचर वि० ६.१। सहार् : सह्—सहन करना ३६.१। सांठ : संस्थिति—पूँजी गौ० १०७.३। सांध् : सं+धा—लगाना ३.१५। सांभल् : स्मृ (?)—स्मरण करना ४०.६, ७। साक : स्वकत्व—स्वजन होने का भाव ३७.२। साखि : साक्ष्य १४.६। साच : सच्च : सत्य १.५। साट : सट्ट—सट्टा, विनिमय, वदला ४५.२८, ४५.३१, ४६.३। साध : श्रद्धा गौ० ५.६। सायर : सागर ३७.७। सारा : वह व्यक्ति जो आहत न हो ४०.८, ४३.११, सो० २४. अर्द्धा० १। सार्—करना गौ० ४०. अर्द्धा० १। सारंग : शार्ङ्ग—चातक र० ४.१। सारी : शारि—गोटी १ ३२। सारी बालाई गौ० ७६.७। साल : सल्ल : शल्य, भाले की अनी, कांटा ६.५। साव : स्वाद २.१८। सावग : श्रावक—जैन धर्मावलम्बी आ० २८.५। सांसति : शास्ति—सुधार रा० ३७.१०। सिकली : सिक्ल [अ०]—दृढ़, भारी गौ० २५. अर्द्धा० २। सिचांण/सिचान : श्येन—वाज ४६.२, रा० २.२। सिंधौरा—सिंदूर-पात्र गौ० १२८.२। सियर : शीतल र० ६.७। सिराअ—समाप्त होना गौ० २०.१०, र० ३.५। सिला—फसल कट जाने के वाद खेत में गिरा हुआ धान्य आ० १४.१०। सिष : शिष्य १.२१। सिव सकती—आत्मा और प्रकृति के प्रतीक-स्वरूप शिव+शक्ति रा० २७.१०, रा० ३५.६, व० ३, अर्द्धा० ४, र० १.६, र० ५.८। सीख—विदा ५०.२। सीझ् : सिध्—सिद्ध होना, २.२। सीत : शीत—सुख १७.४। सींधव : सैन्धव्—लवण-विशेष गौ० २८.८। सुनहाँ : श्वान गौ० ६.३। सुवधी-लुवधी—समधी-लमधी गौ० १३.७। सुरत : स्मृति गौ० ४०.६। सुरता : श्रोता गौ० ४२. अर्द्धा० १। सुरति : स्मृति, शरीर की स्मृति ५.२२, ३४.४, गौ० ७.८, गौ० ८.५, गौ० ४२. अर्द्धा० ५ : सुरति : श्रुति—वेद गौ० ४७. अर्द्धा० ३। सुरही : सुरभी—गाय रा० ६.७। सुहेला—सुखपूर्ण ३६.१, ५०.१०। सूं : समम्—समान १.८। सूच : शुच—पवित्र १२८.७। सूतग : सूति—सौर र० ७.१। सूता : सुत्त : प्रसुप्त २.११। सूति—प्रसूति, प्रसव-काल २.७, १३.३। सूर [फ़ा०]—आनंद आ० ५०.६। सूरातन : सूरत्तण : शूरत्व ४५.१। सूरिवां : शूर १.७। सेवल : शालमली १२.१३। सेझ : शैत्य—शीतलता आ० १४.५। सेरी—गली, रथ्या, मुहल्ला १३.४, २४.५। सैण/सैन : संकेत ४३.१०, गौ० ६.८। सैली : स्वैर—स्वच्छन्दता गौ० ७६.४ रा० ११.३। सोध—शोध करना, ढूँढ़ना २.५। सोधी : शुद्धि १.१। सोरहा : सुरक्ख : सुरक्ष्य—जिसकी सुगमता से रक्षा की जा सके २२.२, १७.३, २४.१५। स्यंभ : स्वयंभू : आत्माराम ५.२२, २०.१६। स्यावति : सावित [फ़ा०]—पक्का १२.११। स्यावढ : सर्वाढ्य—स्वत्वाधिकारी, स्वामी आ० १४.४। स्यूं : सिउं : समम्—सहित साथ ५५.६। स्वांति : शान्ति गौ० १५.२। स्वामी : गद्दीधर, जो दास या शिष्य बनाता हो १७.३।

हूंढ : ह्रिण्ड्—भ्रमण करना ३७.१० । हूंस—जीव गो० १४२. अर्द्धा० ५ । हूक : हक़ [अ०]—सत्य गो० ६२.७ । हजरी : हज़ारी—श्वेत और झीना वस्त्र-विशेष गो० १३.२ । हजूर : हुजूर [अ०]—समक्षता १.३५ । हटवाडा : हट्ट+पाटक—हाटों का पाटक (मुहल्ला) १६.१ । हट्ट—हाट १.१२ । हड्ड : अस्थि १२.११ । हल/हलवा : लघुक—अल्प ७.१, र० ६.१ । हल्लूर : हिल्लोल—लहर गो० ३४.२ । हवाल : 'हाल' का बहु० ३.२ । हरिय : हरित ५५.१ । हाड : हड्ड+इका—अस्थि ५.१६ । हियाली : हियालै : हृदयालय २८.१० । हुरमति—इज्जत-आबरू आ० ५४.१० । हौस : हवस [अ०]—आकांक्षा १.४ ।